श्री. पं. पद्मचन्द्रजी व्याकरणाचार्य
[illegible]

जिसने मद्गृहिणीके रूपमे कौटुम्बिक उत्तरदायित्वको पूरा किया, जिसने लबी बीमारीमे अविश्रान्त सेवा कर मुझे मृत्युके मुखसे बचाया, जिसने सदा स्वास्थ्यके अनुरूप भोजन आदिकी व्यवस्था की, जिसके कार्यकी अन्त करणसे प्रशसा करता हुआ भी कभी प्रगटमे प्रशसाके दो शब्द नहीं कह सका, तथा जो अप्रत्याशित रूपसे स्वर्गवासिनी (पौष शु. २ स. २०१५, ता. ११-१-५९ रविवार) होकर हृदयके भीतर एक गम्भीर वेदनाको शेष छोड गई, उस अपनी स्वर्गीया पत्नी सरलहृदया मैनाबाईकी स्मृतिस्वरूप।

— बालचन्द्र शास्त्री

जीवराज जैन ग्रंथमाला, ग्रंथ ११

ग्रंथमाला संपादक
प्रो. आ. ने. उपाध्ये व प्रो. हीरालाल जैन

गुणभद्र-विरचितम्

आत्मानुशासनम्

आलोचनात्मक रीतिसे प्रस्तावना व परिशिष्ट आदि सहित

— सम्पादक —

प्रो. आ. ने. उपाध्ये
राजाराम कॉलेज
कोल्हापुर.

प्रो. हीरालाल जैन
डायरेक्टर, प्राकृत जैन विद्यापीठ
मुजफ्फरपुर.

और

पं. बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री,
जैन स. संघ, सोलापूर

प्रकाशक
गुलाबचन्द हिराचन्द दोशी
जैन संस्कृति संरक्षक संघ
सोलापूर

वीर नि. सं. २४८७] सन् १९६१ [विक्रम संवत् २०१८

मूल्य रु. ५ मात्र

प्रकाशक
गुलाबचन्द हिराचन्द दोशी
जैन संस्कृति संरक्षक संघ
सोलापुर.

मुद्रक :
स. रा. सरदेसाई, बी.ए., एलएल. बी.
नवीन समर्थ विद्यालयाचा समर्थ भारत छापखाना,
४१ बुधवार, पुणें २.

JĪVARĀJA JAINA GRANTHAMĀLĀ, No. 11

General Editors :
Dr. A. N. UPADHYE & Dr. H. L. JAIN

GUṆABHADRA'S

ĀTMĀNUŚĀSANA

WITH THE COMMENTARY OF PRABHĀCANDRA

Critically edited with Introductions, Appendices etc.

BY

Prof. A. N. UPADHYE, M.A., D.Litt.
Rajaram College, Kolhapur.

Prof. H. L. JAIN, M.A., LL.B., D.Litt.
Director, Prākrit-Jain Institute, Muzaffarpur.

AND

Pt. BALCHANDRA, SIDDHANTA SHASTRI,
Jaina S. S. Sangha, Sholapur.

Published by
GULABCHANDA HIRACHAND DOSHI
Jaina Saṁskṛti Saṁrakṣaka Sangha
SHOLAPUR

1961

Price Rs. Five only

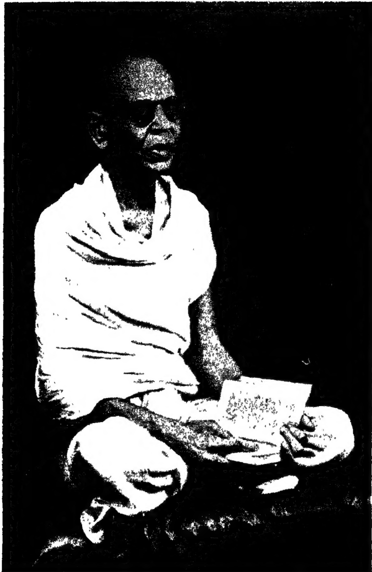
First Edition ; 1100 Copies

Copies of this book can be had direct from Jaina Saṁskṛti
Saṁrakshaka Sangha, Santosha Bhavana,
Phaltan Galli, Sholapur (India)

Price Rs. 5/- per copy, exclusive of postage

जीवराज जैन ग्रंथमालाका परिचय

सोलापूर निवासी ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचंदजी दोशी कई वर्षोंसे संसार-से उदासीन होकर धर्मकार्यमें अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४० मे उनकी यह प्रबल इच्छा हो उठी कि अपनी न्यायोपार्जित संपत्तिका उपयोग विशेष रूपसे धर्म और समाजकी उन्नतिके कार्यमे करें। तदनुसार उन्होंने समस्त देशका परिभ्रमण कर जैन विद्वानोंसे साक्षात् और लिखित सम्मतियां इस बातकी संग्रह कीं कि कौनसे कार्यमें संपत्तिका उपयोग किया जाय। स्फुट मतसंचय कर लेनेके पश्चात् सन् १९४१ के ग्रीष्म कालमे ब्रह्मचारी-जीने तीर्थक्षेत्र गजपथा (नासिक) के शीतल वातावरणमे विद्वानोंकी समाज एकत्र की और ऊहापोहपूर्वक निर्णयके लिए उक्त विषय प्रस्तुत किया। विद्वत्सम्मेलनके फलस्वरूप ब्रह्मचारीजीने जैन संस्कृति तथा साहित्यके समस्त अंगोंके संरक्षण, उद्धार और प्रचारके हेतुसे 'जैन संस्कृति संरक्षक संघ' की स्थापना की और उसके लिए ३०००० तीस हजारके दानकी घोषणा कर दी। उनकी परिग्रहनिवृत्ति बढती गई, और सन् १९४४ में उन्होंने लगभग २,००,०००, दो लाखकी अपनी संपूर्ण संपत्ति संघको ट्रस्ट रूपसे अर्पण कर दी। इस तरह आपने अपने सर्वस्वका त्याग कर दि. १६-१-५७ को अत्यन्त सावधानी और समाधानसे समाधिमरणकी आराधना की। इसी संघके अंतर्गत 'जीवराज जैन ग्रंथमाला' का संचालन हो रहा है। प्रस्तुत ग्रंथ इसी ग्रंथमालाका ग्यारहवा पुष्प है।



स्व. ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचंदजी दोशी,
संस्थापक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर

विषयानुक्रमणिका



सम्पादकीय

जैन साहित्य अध्यात्म और नीति प्रधान है। उसका यह वैशिष्ट्य सैद्धान्तिक ग्रंथोंसे लेकर कथात्मक व लोकशास्त्र संबंधी रचनाओं तक में स्पष्ट झलकता है। इन्द्रिय-लोलुपताकी पाशविक व अनाचार मूलक वृत्तियोंसे मनको हटाकर संयमकी ओर मोड़ना और इस प्रकार मानव-जीवनको निखार कर उसका नैतिक स्तर उठाना उसका मुख्य उद्देश्य है। किन्तु सैद्धान्तिक रचनायें जन-साधारणको आकर्षित नही कर पातीं, और कथात्मक साहित्य विद्वानोंको कम रुचिकर होता है। अत: आचार्यों-को ऐसी रचनाओंकी आवश्यकता प्रतीत हुई जो इनके बीचकी हों तथा सामान्य और विशेष बुद्धि व रुचिवालोंको एकसा आकर्षित कर सके। सुभाषित साहित्य इसी प्रकारका है, और आत्मानुशासन भी इसी कोटिका ग्रंथ है। इसमें सिद्धान्त भी है और आचार भी। काव्यके गुण भी हैं और दृष्टान्तों द्वारा सुगम्य सूक्तिया भी। कोई विषय इतनी दूर तक नही ताना गया कि वह पाठकको थका दे। थोड़ेमें बहुत कुछ उपदेश दे दिया गया है, और वह भी ऐसी सुन्दर शैलीमें कि विषय एकदम हृदयंगम हो जाय और उसके वाचक शब्द भी स्मृति पर चिपक जावें। मुनियों और गृहस्थों, स्त्रियों और पुरुषों, बाल और वृद्ध, साहित्यिकों और साधारण पाठकोंको यह रचना समान रूपसे रुचिकर और हितकारी होनेकी क्षमता रखती है। यही कारण है कि जैन समाजमें शताब्दियोंसे इसका सुप्रचार रहा है। इस पर अधिक टीका टिप्पणी नहीं लिखी गईं, इसका कारण उसकी सरलता है। उसमें जटिलता नही है। भारतीय सुभाषित साहित्यमें आत्मानुशासन गणनीय है– इस विशेषता-के साथ कि उसमे शृंगार-रसका विकार नही है।

आत्मानुशासन प्रकाशित तो अनेक वार हो चुका है, किन्तु एक तो इधर उसकी वे प्रतिया अनुपलभ्य हैं, और दूसरे इसके एक आधुनिक आलोचनात्मक रीतिसे पाठभेदों व ऐतिहासिक प्रस्तावनादि सहित सर्वांगपूर्ण संस्करणकी बडी आवश्यकता थी। इसकी एक मात्र उपलभ्य संस्कृत टीका तो अभी तक अप्रकाशित ही थी। प्रस्तुत संस्करणमें इन् सब बातोंकी पूर्ति करनेका प्रयत्न किया गया है।

इस ग्रन्थका सम्पादनादि कार्य तीनों सम्पादकोंके सहयोगसे हुआ है। प्रतिलिपियां आदि तैयार करनेमें उन्हें पं. जिनदासशास्त्री का साहाय्य मिलता रहा है। इस समस्त सहयोगके द्वारा यह जो आत्मानुशासनका सर्वांगपूर्ण संस्करण प्रस्तुत किया गया है, वह कहां तक सफल हुआ है इसका निर्णय मर्मज्ञ पाठक ही ग्रंथके अवगाहन पूर्वक कर सकेंगे। यहां हम श्री वैद्य नृसिंह नारायण बागेवाडीकर प्र. चिकित्सक सेठ सखाराम ने. जैन औषधालय व श्री वैद्य श्रीपाल नेमिनाथ जी को नहीं भूल सकते हैं। आप दोनों महाशयोंने ग्रन्थसे सम्बद्ध आयुर्वेद विषयका परिचय तथा उपयोगके लिये तद्विषयक प्रयोंको देकर हमें उपकृत किया है।

हमें यह प्रकट करते बड़ी प्रसन्नता होती है कि इस ग्रंथमालाके ट्रस्टी व प्रबंधक समितिके सदस्य मालाके समस्त कार्यमें औपचारिक मात्र नहीं, किन्तु क्रियात्मक रुचि दिखलाने व सहयोग प्रदान कर सम्पादकों-के उत्साहकी वृद्धि और उनके भारको हलका करनेमें कभी कोई कोर कसर नही रखते। यही कारण है कि सम्पादकद्वय अपने अपने अन्य कार्यमें व्यस्त रहते हुए भी इस मालाको समृद्ध बनानेमें यहां तक सफल हो सके हैं। इसके लिये उक्त अधिकारी वर्गका जितना आभार माना जाय सब थोड़ा है।

ग्रंथमालाके संस्थापक ब्रह्म. जीवराज भाईको यह ग्रंथ विशेष रूपसे प्रिय था। वे न केवल निरन्तर इसका स्वाध्याय ही किया करते थे, किन्तु उन्होंने इसका मराठी अनुवाद भी किया था जो प्रकाशित भी हो चुका है। उनके इस प्रिय ग्रंथके प्रस्तुत संस्करणको देखनेके लिये वे आज हमारे बीच नही हैं। किन्तु हमें भरोसा है कि उनकी स्वर्गस्थ आत्मा इस प्रकाशन-से प्रसन्न और संतुष्ट होगी। इति शम्।

आ. ने. उपाध्ये
हीरालाल जैन
ग्रन्थमाला–संपादक.

INTRODUCTION

1. Ātmānuśāsana

The term *ātmānuśāsana*, spiritual advice or Self-instruction, is quite catching for the title of a literary work; and it has been already chosen by some authors for their treatises both in Sanskrit and Prākrit (H. D. VELANKAR: *Jinaratnakośa*, Poona 1944, pp. 26–27). From amongst them, the *Ātmānuśāsana* of Guṇabhadra has been quite popular among the Jainas, both monks and laity of religious aptitude. The Mss. of it are available in different collections practically all over India (*Jinaratnakośa* p. 27); Prabhācandra wrote a Sanskrit commentary and Pt. Ṭoḍaramalla (*c.* middle of the 18th century A.D.) a Hindī Ṭīkā; and it has been available in print, nearly in half a dozen editions, giving bare text (Bombay 1905), or the Sanskrit text accompained by modern translations (directly or indirectly based on Ṭoḍaramalla's Ṭīkā already published, Lahore 1897) in Hindī (Banares 1924–25, Bombay 1929), in Marāṭhī (Sholapur 1909), English (Arrah 1928), Kannaḍa (Moodbidri 1951), etc. Undoubtedly, it is the Hindī Ṭīkā on it by that learned author, Pt. Ṭoḍaramalla of memorable name, that has given so much popularity to this work.

The present edition of the *Ātmānuśāsana* has its specialities: the text is critically constituted by using three Mss. (described in details in the Hindī Introduction) besides some printed editions; secondly, it is for the first time that the (only available) Sanskrit commentary of Prabhācandra is neatly published along with the text here; thirdly, the Hindī translation of each verse is presented literally and the *viśeṣārtha* brings out, with sufficient elaboration, the various points directly or indirectly alluded to in each verse; fourthly, useful appendices are added for a critical and systematic study of the text; and lastly, the Introductions in English and Hindī present a mass of useful and relevant material to enable the reader to assess the contents of the *Ātmānuśāsana* and to estimate its author, Guṇabhadra, in the back-ground of Sanskrit literature.

The *Ātmānuśāsana* contains 269 verses in Sanskrit according to Prabhācandra's commentary; the Bombay edition shows 270 verses, perhaps following the text of Ṭoḍaramalla; this additional verse (*Ṛṣabho* etc.), being of a benedictory charactor, may not belong to Guṇabhadra who has suitably rounded his text in verse No. 269. It uses a variety of metres, fifteen in number; the most frequent is Anuṣṭubh; and among the longer metres, the Śārdūlavikrīḍita is predominant (See the Appendix). It has an anthological pattern and format, one or more verses being devoted to different topics, which may or may not have logical consequence, but all of them composed by the same author. It has no chapters or sections of any kind: the text is one whole. But it is possible to mark out groups of verses in which a specific topic is discussed (see the Viṣayasūcī). This work belongs to the category of religious and didactic poetry. The exposition follows the pattern of Jaina ideology, and obviously, therefore, the text is replete with Jaina technical terms; and some Sanskrit words are used with a shade of meaning quite usual in Jaina works.

Every one shuns *duḥkha* (misery, pain or suffering) and yearns for *sukha* (comfort, happiness); but the way to happiness is shown to the deserving by a worthy teacher who expounds the principles of Dharma. 'Every one desires for attaining true happiness at the earliest; that arises from the destruction of all Karmas which results from right conduct which is dependent on right knowledge. This right knowledge is acquired from scriptures which are based on the discourses of the Āpta who is free from all the blemishes such as attachment etc. Therefore, after duly reasoned out scrutiny of him, the source of all happiness, let the worthy resort to him for their benefit (9)'.

Dharma should be the highest pursuit to which all others are subservient. Such thought-activities must be cultivated as accrue Puṇya in the absence of which one suffers under the stress of one's Karmas in the past from which even the so-called gods are not exempt. There are many even to-day who are above attachment.

The pursuit of sense-pleasures is a mirage: the pleasures are just a result of the past Puṇya, so one should be sensible enough to fix one's eye on one's future prospects.

The life of a house-holder has its limitations from the ultimate point of view—one has to reflect on the past and future and give up all attachment and aversion. Desires are a bottomless depth and only lead to further travails in this worldly whirlpool. Fire burns when fed with fuel and is extinguished for want of it. But it is surprising that the terrible fire of infatuation blazes strongly in either way (on getting or not getting the objects of desire) (56)'.

The human body is a veritable prison for the Ātman: it is a folly to be attached to it. 'Birth is, the mother; death, father; mental and physical sufferings, brothers; and decrepitude is the friend of this living being in the last stage. And yet there is love for the body! (201)'. The kith and kin are not in any way permanent associates; so one should pursue the path of Dharma. Wealth and other external accessories are temporary. 'The poor are discontented for not obtaining wealth, and the rich too are (so) for want of contentment. Alas! all are in distress; but only a monk or an ascetic is happy (65)'; for, his happiness alone is self-dependent. The happiness that is dependent on anything else necessarily leads to privation and pain.

The life of a monk has something unique about it. Neither the body nor the period of life is long-enduring; the monk makes the best use of them, for Death is certain. 'Living beings are like fruits, falling down from the palm-tree of birth. How long can they be in the intervening space before they reach the ground of death! (74)' Every opportunity, therefore, must be snatched to practise religion, since there are many handicaps, temptations and pitfalls on the way. It is by the practice of penances, for which the human birth alone is suited, that the Karmas are consumed and real happiness is reached. 'An ascetic, in the first stage, chiefly radiates light (of knowledge), like a lamp. Later on, he glows with light and glory (of omniscience) like the sun.

The wise (ascetic) who resembles a lamp becomes resplendant with right-knowledge and right-conduct, and removing the soot of Karmas, makes the self and non-self manifest' (120–21).

A woman is a temptress ; she has taken many a victim in her trap ; any attachment for her body means irretrievable fall ; so one who is in pursuit of spiritual progress must avoid her from a distance. A householder is superior to a monk who becomes a victim to womanly temptations.

A worthy Teacher has to be sought and followed, because merited monks are rare in these days. Many are tempted by worldly pleasures and have become mean supplicants : 'What can Karmas do to saints who see with discrimination, whose wealth is possessionlessness and to whom death itself is life (162)'. Self-restraint is the highest treasure ; penances, the great pursuit ; the Anekānta doctrine, the lovely resort ; and self-realization, the ultimate good. 'An ascetic, endowed with spiritual knowledge, perceiving the essences (essential nature of things) as they are, extending his right knowledge again and again, and exterminating love and hate, could contemplate (upon the supreme self) (177)'.

The passions or *kaṣāyas* like *krodha* anger, *māna* pride, *māyā* deceit and *lobha* greed deserve to be subjugated, because even great men have succumbed to them. One should be apprehensive of the deep pit of deceit enveloped in the pitchy darkness of falsehood. The horrible cobras of anger etc. (the passions) living in its depth are not visible (221)'. 'Love and hate constitute *pravṛtti* or worldly addiction, and doing away with them is renunciation. They both are associated with external objects, and so they should also be discarded (237). One should rise above attachment and aversion ; then alone penances are fruitful ; then alone the soul is distinguished from body ; thereafter proper application to meditation destroys all Karmas ; and then the Ātman is realised in full effulgence.

These glimpses of the contents of the *Ātmānuśāsana* show that the themes covered are mostly those of ascetic poetry with positive-emphasis on spiritual realization. Jainism

makes no room for a God who is a creator and a distributor of favours and frowns; but it is a pre-eminent champion of the Karma doctrine which is an automatically functioning mechanism. By one's thoughts, words and acts one incurs good or bad Karmas of specified type, duration, intensity and extent, the consequences of which one must reap. Naturally Jaina authors have all along tried to shape a balanced individual, whether a house-holder or a monk, so that he is least liable to Karmas which, as an ascetic, he tries to destroy through the practice of penances etc. In this ideology, moral preachings, ethical exhortations, religious instructions, exemplary sermons, didactic tales and pious advices to teach what is correct or good and what is improper or bad behaviour have a special value. Guṇabhadra's exposition of various topics in this work fully conforms to this line of thought.

Guṇabhadra is quite adept in handling Sanskrit language and in effective expression. Sometimes his style is heavy and laboured. There are few contexts in which he enumerates dogmatical topics of Jainism (Nos. 11-14) or his descriptions become too outspoken (Nos. 59, 132-34). On the whole he maintains a high moral fervour, a dignified didactic tone and an earnest spiritual appeal. At times the metre used and the expressions employed are quite suited for the spirit of the contents. The form of his composition is such that lack of continuity of topics and repetition of the same theme in different places can hardly be looked upon as a defect.

Guṇabhadra is a trained poet who can embellish his expression in a variety of ways, both in words and meaning, or sound and sense. Obviously different *alaṁkāras* can be detected here and there: *anuprāsa*, alliteration—5, 57, 61, 89, 91, 101 etc.; *upamā*, simile—63, 77, 81, 120-21, 123, 129, 179 etc.; *arthāntara-nyāsa*—44, 75, 76, 93, 118-9, 136, 139 etc.; *rūpaka*, metaphor—74, 87, 132, 170, 183 etc.; *utprekṣā*, fancy—86, 91, 154 etc.; *apahnuti*—126 etc.; *aprastuta-praśaṁsā*—139 etc.; *vibhāvanā*—109 etc.; *śleṣa*—96 etc.

Guṇabhadra has well prefaced his discourse (No. 3) indicating his ability in the science of medicine; and in a number

of verses he shows his close study of *āyurveda*, for instance, Nos. 16–17, 108, 183 etc., which employ some words or ideas from that science.

Guṇabhadra presents some mythological allusions, not necessarily from Jaina sources, to carry conviction to the readers of the point under discussion. Futile is man's endeavour, when Destiny is adverse: even mighty Indra suffered a defeat on the battle field (32: this verse belongs to Bhartṛhari). The source is possibly the *Viṣṇu-purāṇa* (vide the Hindī Introduction). None can escape the consequences of past Karmas: even Ṛṣabha, the first Tīrthakara, had to go without food for a period of six months (118–19). Even slight pride does great harm as in the case of Bāhubali who suffered long on that account (217). The details about these episodes are available in the *Mahāpurāṇa* of Jinasena-Guṇabhadra. Women, indeed are the worst poison: even Śambhū (Śiva or Śaṁkara), who was not at all affected by the deadly poison in his throat, was affected by woman (135). Anger misguides one and brings misfortune: Śiva, not realizing that cupid lived in the heart, burnt, out of anger, something external mistaking it for the god of love (216). The story is well-known from the *Kumārasaṁbhava* of Kālidāsa. Marīci, Yudhiṣṭhira and Kṛṣṇa had their great qualities sullied on account of their deceit, direct or indirect (220). These tales are connected with the *Mahābhārata* legends.

Guṇabhadra is a trained poet and well-versed in the various branches of contemporary learning. It is but natural, therefore, that he shows contacts with earlier literature, both in Prākrit and Sanskrit; and he too has lent some ideas even to an eminent litterateur like Somadeva, the author of the *Yaśastilaka-campū* (K. K. Handiqui: *Yaśastilaka and Indian Culture*, Sholapur 1949, pp. 256, 459). May be that some of the common ideas are a part of their inheritance from their traditional learning of Jainism. Some striking parallelisms between the works of Kundakunda, Śivārya, Samantabhadra, Pūjyapāda and the *Ātmānuśāsana* (*Ā*) may be indicated here:

Kundakunda: *Pañcāstikāya* (Bombay 1915) 128–30, cf. *Ā*. 195; *Bhāvapāhuḍa* (Bombay 1920) 44, 39-41, & *Ā*. 217;

89-90 and 91; *Mokkhapāhuḍa* (Ibidem) 5 cf. *Ā*. 193. It is interesting that Śrutasāgara quotes verses from the *Ātmānuśāsana* to explain some of these gāthās from the Pāhuḍas. Śivārya: *Bha.-Ārādhanā* (Sholapur 1935) 938-90, 1022-25 cf. *Ā*. 126-36, 88-9. Samantabhadra: *Svayambhūstotra* (Bombay 1905) 34 cf. *Ā*. 58; *Yuktyanuśāsana* (Ibid.) 6 cf. *Ā*. 107; and *Devāgama* (Ibid.) 15 f. cf. *Ā*. 171 f. Pūjyapāda: *Iṣṭopadeśa* (Bombay 1928), 16, 30, 8, 26, 23 and 11, cf. *Ā*. 45, 50, 60-1, 110, 175 and 178-9; *Samādhi-śataka* (Bombay 1905) 39, 43, 83-84 cf. *Ā*. 182, 110, 239-240. For the tenfold division of Samyaktva (Nos. 11-14 here, and also in the *Uttarapurāṇa*, 74, 439-449), Guṇabhadra is quoted by Somadeva in his *Yaśastilaka-campū* (Bombay 1903, Uttarakhaṇḍa, p. 323) and also by Śrutasāgara in his commentary on the *Daṁsaṇa* and *Bodhapāhuḍa* (Bombay 1920, pp. 13, 121). Āśādhara also seems to be following Guṇabhadra in his (*Anagāra-*) *Dharmāmṛta*, II. 62 (Bombay 1919). This enumeration is very much similar to the one found in the Ardhamāgadhī canon (*Uttarajjhayaṇa* 28, 16 and 17-27, also *Paṇṇavaṇā* I. 74).

May be that Guṇabhadra had studied the Mahāyāna Sanskrit texts of Buddhist authors which breathe this very moral spirit, for instance, the *Śikṣāsamuccaya*, *Bodhicaryāvatāra* etc. Some of their exposition of the *Pāramitas* like *Śīla*, *kṣānti*, *dhyāna*, *prajñā* etc. is much akin to Jaina ideology, a common inheritance of Śramaṇic culture. It is natural that Guṇabhadra shows a close study of the (Nīti-Śṛṅgāra- and Vairāgya-) Śatakas (N., Ś., V.) of Bhartṛhari (Bh.) from which he has inherited many ideas, expressions and even verses. The *Vairāgya-śataka* and *Ātmānuśāsana* have close ideological and cultural kinship. For identical or nearly identical verses, cf. N.—49 (The references are to the ed. of D. D. Kosambi in the Singhī Jain Series, Bombay 1948) and *Ā*.—32; Bh. No. 308 and *Ā*.—67; a woman is likened to a serpent (Bh. No. 205 and *Ā*.—127) and to a lake (Ś.—100 and *Ā*.—129); cupid is compared with a hunter (Ś.—114 and *Ā*.—150); and on the equipment of an ascetic (Bh. No. 269 and *Ā*.—151; etc.).

By his rigorous training as a poet, by his extensive learning and by his earnest spiritual appeal, Guṇabhadra has given in his *Ātmānuśāsana* a refreshing piece of religious and didactic poetry.

2. Guṇabhadra, the Author

The author of this *Ātmānuśāsana* is Guṇabhadra who styles himself as *bhadanta* and tells us that his mind was engaged in remembarance of the feet of his preceptor Jinasena (No. 269). Guṇabhadra along with his grand-teacher Vīrasena and his teacher Jinasena 'formed a continued and composite academic personality ushered into existence as if for the purpose of completing three significant works of Indian literature, namely, *Dhavalā*, *Jayadhavalā* and *Mahāpurāṇa*, which were too big and profound to be completed in one span of life by any one individual'. He gives good many details at the close of the *Mahāpurāṇa* about his predecessors (*Uttarapurāṇa*, Banaras 1944, Praśasti pp. 573–79; *Collected Works* of R. G. BHANDARKAR, II, Poona 1928, pp. 274 ff.); and we can supplement them from other bits of information available in the *Dhavalā* and *Jayadhavalā* (*Ṣaṭkhaṇḍāgama* with *Dhavalā* Com., I, Amraoti 1939, Intro. pp. 35–4^; *Kasāyapāhuḍa* with *Jayadhavalā* com., I, Banaras 1944, Intro. pp. 69–77). Their religious ancestry is traced back to the ascetic line or family called Pañcastūpānvaya (*Jaina Siddhānta Bhāskara*, XVI, I, pp. 1–6, Arrah 1949; *Karnatak Historical Review*, VII, 1–2, Dharwar) to which belonged Guhanandi, Vṛṣabhanandi, Candrasena, Āryanandi and Vīrasena. This Anvaya had once its home in the North, in Eastern India; the monks of this line were perhaps the greatest custodians of the knowledge of Karma Siddhānta; and they travelled, via Rajaputana and Gujarat, as far as Śravaṇa Belgoḷ in the South, carrying with them the hereditary learning of the Karma doctrine and pursuing their religious path of severe penances. Vīrasena and Jinasena attained such a position and eminence that after them the Senānvaya or Senagaṇa of the Mūlasaṁgha came to be mentioned as the family or line of teachers almost replacing the Pañcastūpānvaya. Vīrasena had two pupils, Jinesena and Daśaratha, both of whom are claimed by Guṇabhadra as his Gurus.

After completing the *Dhavalā* commentary on the *Ṣaṭkhaṇḍāgama* in 72 thousand *granthāgras* in 816 A.D., Vīrasena took up the *Jayadhavalā* commentary on the *Kaṣāya-pāhuḍa*; but he passed away when he had composed just 20 thousand *granthāgras*. It was left consequently to his great disciple Jinasena to finish this commentary which he did in 837 A.D. by adding some 40 thousand *granthas* more. Jinasena began composing the *Mahāpurāṇa* which gives in a stylistic manner the account of 63 Śalākā-puruṣas. It is not only a systematic exposition of Jaina traditional lore and principles but also an exquisite specimen of Sanskrit Kāvya, rich in exhuberant descriptions and full of poetic embellishments, both of sense and sound. After composing some 12 thousand *ślokas* of the *Mahāpurāṇa*, Jinasena perhaps passed away; and the work was completed by Guṇabhadra by composing about 8 thousand *ślokas* more. The *Ādipurāṇa*, of which the major portion was composed by Jinasena, contains the biography of the first Tīrthakara and first Cakravartin; and the *Uttara-purāṇa* of Guṇabhadra deals with the lives of remaining Tīrthakaras and other Śalākā-puruṣas. The *U-purāṇa* obviously, therefore, has become more enumerative than descriptive. It is a sad event in the history of Sanskrit scholarship that Jinesena left this work incomplete. His pupil Guṇabhadra (well-known for his wide learning and outstanding austerities), with much hesitation and after waiting for some time, but as a sacred duty to his great Guru, had to complete it; and it was later consecrated by Lokasena, a pupil of Guṇabhadra, at Bankapur (Dt. Dharwar) in 897 A.D.

About the equipments of Guṇabhadra, the *praśasti* says:

प्रत्यक्षीकृतलक्ष्यलक्षणविधिर्विश्वोपविद्यां गतः
सिद्धान्ताब्ध्यवसानयानजनितप्रागल्भ्यवृद्धीद्धधीः ।
नानानूननयप्रमाणनिपुणोऽगण्यैर्गुणैर्भूषितः
शिष्यः श्रीगुणभद्रसूरिरनयोरासीज्जगद्विश्रुतः ॥

Guṇabhadra's modesty, respect for the Guru and high sense of duty are well put in the following select verses (Parvan 43):

स्वोक्ते प्रयुक्ताः सर्वे नो रसा गुरुभिरेव ते।
स्नेहादिह तदुत्सृष्टान् भक्त्या तानुपयुज्महे ॥ ९ ॥
निर्मितोऽस्य पुराणस्य सर्वसारो महात्मभिः।
तच्छेषे यतमानानां प्रासादस्येव नः श्रमः ॥' ११ ॥
अर्धं गुरुभिरेवास्य पूर्वं निष्पादितं परैः।
परं निष्पाद्यमानं सच्छन्दोवशातिसुन्दरम् ॥ १३ ॥
इक्षोरिवास्य पूर्वार्धमेवाभावि रसावहम्।
यथा तथास्तु निष्पत्तिरिति प्रारभ्यते मया ॥ १४ ॥
गुरूणामेव माहात्म्यं यदपि स्वादु मद्वचः।
तरूणां हि स्वभावोऽसौ यत्फलं स्वादु जायते ॥ १७ ॥
निर्यान्ति हृदयाद्वाचो हृदि मे गुरवः स्थिताः।
ते तत्र संस्करिष्यन्ते तन्न मेऽत्र परिश्रमः ॥ १८ ॥

Vīrasena, Jinasena, Gunabhadra and Lokasena lived in an age of political prosperity and stability as well as literary fertility (K. K. HANDIQUI: *Yaśastilaka and Indian Culture*, Sholapur 1949, pp. 9.10). The contemporary Rāshṭrakūta rulers were Jagattuṅga, Nṛpatuṅga or Amoghavarṣa (815-877 A.D.) and Akālavarṣa (and his feudatory Lokāditya). Amoghavarṣa was a great devotee of Jinasena whose ascetic virtues and literary gifts must have captivated his mind. He soon became a devout Jaina and renounced the kingdom in preference to religious life as mentioned by him in his Sanskrit work *Praśnottararatnamālā* and as graphically described by his contemporary Mahāvīrācārya in his *Gaṇitasāra-saṁgraha* (*Jaina Siddhānta Bhāskara* IX, and *Anekānta* V, p. 183).

Gunabhadra completed the *Mahāpurāṇa* some time before 897 A.D. This was the year when Lokasena consecrated it, and perhaps Gunabhadra was no more by that time. The *Ātmānuśāsana*, it appears, was composed after the demise of Jinasena; so it may be assigned to a period soon after 837 A.D., say roughly to the middle of the 9th century A.D. (See *Collected works* of R. G. BHANDARKAR, II, pp. 271 ff.; PREMI: *Jaina Sāhitya aura Itihāsa*, Bombay 1956, pp. 127–154).

According to Prabhācandra's Sanskrit commentary, the *Ātmānuśāsana* was composed by Gunabhadra to enlighten Lokasena whom he calls Guṇabhadra's elder religious brother

(*bṛhaddharma-bhrātṛ*); but according to the *praśasti* at the close of the *Uttarapurāṇa*, Lokasena was an eminent pupil of Guṇabhadra.

Besides the *Ātmānuśasana* and *Uttarapurāṇa*, one more work is attributed to Guṇabhadra, and that is the *Jinadatta-carita* (Bombay 1916).

3. Prabhācandra, the Commentator

The Sanskrit commentary, which is given in this edition, is quite helpful in understanding the text of Guṇabhadra, though it cannot be claimed that it is thorough, perfect and meeting all the needs of a reader. Generally it gives word-for-word meaning, and adds some explanatory remarks here and there. There are instances where crucial references and allusions are silently passed over.

All that is disclosed from the commentary about its author is that his name is Prabhācandra or Prabhendu, and he calls himself Paṇḍita.

There have been many authors and teachers bearing the name Prabhācandra (J. MUKTHAR: *Ratnakaraṇḍaka-śrāvakācāra*, Bombay 1925, Intro. pp. 57 f.); and a good deal has been written on their identity and authorship of certain works (*Nyāyakumudacandra*, vols. I and II, Bombay 1938–41, Introductions I, pp. 114 f. and II, 48 f.; *Samādhi-tantra*, Sarsawa 1939, Intro. pp. 19 f.; *Bṛhat-kathākośa*, Bombay 1943, Intro. pp. 60 f.)

Comparing the Sanskrit commentaries on the *Ratnakaraṇḍaka* (Bombay 1925), *Samādhi-śataka* or *-tantra* (Sarsawa 1939) and *Ātmānuśāsana*, it is highly probable that it is one and the same Prabhācandra who has composed these three. Therein the explanatory pattern is similar and style of annotation is alike. Secondly, a comparison of the opening verses shows certain or nearly identical expressions and ideas:

A.—भववारिनिधिप्रपोतम् , उद्द्योतिताखिलपदार्थम् , निर्वाणमार्गम् , अनवद्यगुणप्रबन्धम् ।

S.—अप्रतिमबोधम् , निर्वाणमार्गम् , संसारसागरसमुत्तरणप्रपोतम् ।

R.—निखिलात्मबोधनम् , अखिलकर्म शोधनं निबन्धनम् ।

Thirdly, the prose introductory paragraphs in all the three are very much alike Lastly, the concluding *mangala* verse mentions the name alike, i e, Prabhendu, and the metre employed is the Śārdūlavikrīḍitam

In view of the fact that there flourished many authors bearing the name Prabhācandra, the authorship of different works attributed to Prabhācandra needs more investigation So, without going into the discussion of other works of Prabhācandra we might see here when this commentator Prabhācandra flourished and what broad limits can be put to his age, in the light of clear cut evidence

(i) Prabhācandra quotes in his commentary on the *Ātmanusasana* 9 *vismayo* etc on *Ā* 10 *mudhatrayam* etc, on *Ā* 2 5 *diśam na* etc, on *Ā* 268 *akarta* etc and all these (at times with some variants) are traced to the *Yaśastilaka-campu* (either composed by the author or quoted from earlier sources) of Somadeva (Uttarārdha, pp 274, 324, 270 and 2 0 respectively) Likewise, he quotes in his commentary on the *Ratnakarandaka* 4-23 a verse *sraddha* etc which is traced to the same source (Ibid, p 404) It is highly probable that Prabhācandra is indebted to Somadeva who completed this Campū in Śaka 881 (+78), i e 959 A D

(ii) In the Com on the *Ratnakarandaka* 4-18, Prabhācandra quotes two verses *adhruvasarane* etc which belong to the *Panca vimsati* of Padmanandi (VI 43-44) Though it is held that this Padmanandi is a disciple of Śubhacandra who died in 1123 A D his precise date is still a matter of investigation This much is certain that he is earlier than Āśādhara who in his commentary on the (*Anagara*) *Dharmamrta* (completed in Samvat 1300 or A D 1243), IX 80 specifically refers to Padmanandi and quotes a verse from his *Pañcavimśati* (1-41) and also earlier than Padmaprabha (died in 1185 A D) who quotes a few verses from the *Ekatva saptati* in his commentary on the *Niyamasara* (*Journal of the University of Bombay* XI ii p 10, *Jainism in South India* etc, Sholapur 1957, p xi, 159 (0)

(iii) Āśādhara refers to Prabhendu and his *Ratnakarandaka tika* in his *svopajña* commentary on the *A — Dharmāmrta*, VIII 93, which was completed in 1243 A D

Thus Prabhācandra is later than Somadeva (959 A D) and flourished between Padmanandi (earlier than 1185 A D) and Āśādhara (1243 A D)

प्रस्तावना

प्राचीन प्रतियोंका परिचय

आत्मानुशासनका प्रस्तुत संस्करण निम्न प्रतियोंके आधारसे किया गया है—

ज—यह प्रति श्री आदिनाथ दि. जैन शेतवाल मंदिर शोलापुरकी है। इस प्रतिकी लम्बाई ११½ इंच और चौड़ाई ५½ इंच है, पत्रसंख्या १-६२ है। प्रत्येक पत्रपर एक ओर ११ पंक्तियां और प्रतिपंक्तिमें लगभग ३७-३९ अक्षर हैं। ग्रन्थका प्रारम्भ "॥ ६० ॥ ओं नमः सिद्धेभ्यः ।।" इस मंगलवाक्यको लिखकर किया गया है। ग्रन्थके अन्तमें "।। इति श्री पंडितप्रभाचन्द्रविरचितात्मानुशासनटीका समाप्ता ।।" इस अन्तिम पुष्पिका-वाक्यको लिखकर लेखकने निम्न प्रशस्ति लिखी है "॥ संवत् १८३४ का वर्षे कार्त्तिगमांसे कृष्णपक्षे ९ नवमी सनिवारे लिषावितं पंडितजी श्री अरा[णं]दराम जी पठार्थं[पठनार्थं] सिष्य पंडित जी श्री श्री री[खब]चंद जी। लिषतं म्हात्मा गोबिंदरामेण॥ श्लोक ॥ यादृशं पुस्तकं दृष्ट्वा तादृशं लिषतं मया। यदि सुद्धमसुद्धं वा मम दोशो न दीयते ॥ १ ॥ लिषाप्यतं जयपुर-मध्ये ।। श्री ।" इस लेखकप्रशस्तिके अनुसार उसका लेखनकाल कार्तिक कृष्ण ९ शनिवार संवत् १८३४ है। प्रति सुवाच्य व सुन्दर लिखी गई है। इसमें कहीं कहींपर नीचे, ऊपर या हांशियेपर अर्थबोधक टिप्पण भी दिये गये हैं। इसमें प्रायः 'र्ग' के लिये 'ग्रे', 'क्ष्य' के लिये 'ष्य' और 'च्छ' के लिये 'छ' लिखा गया है।

स—यह प्रति भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टिट्यूट पूनाकी है। इसकी लम्बाई-चौड़ाई १२×६ इंच है। पत्रसंख्या १-५२ है। इसमें प्रत्येक पत्रकी एक ओर १३ पंक्तियां और प्रत्येक पंक्तिमें लगभग ३५-४० अक्षर हैं। लिपि साधारण है। कहीं कहींपर काटा भी गया है और हांशियेपर लिखा गया है। इसमें 'ओ' के स्थानमें 'उ' तथा 'च्छ' और 'त्थ' के लिये समान रूपसे 'त्थ' लिखा गया है। एकारकी मात्रा (े) के

लिये पीछे खड़ी लकीर (।) का भी उपयोग किया गया है। पूर्व प्रतिके समान इसमें भी कहीं कहींपर अर्थबोधक टिप्पण दिये गये हैं। जैसा कि अन्तिम पुष्पिकासे ज्ञात होता है, इसका लेखनकाल कार्तिक शुक्ला ११ संवत् १७९१ है – "इति श्रीपण्डितप्रभाचन्द्रविरचितात्मानुशासनटीका समाप्ता। शुभमस्तु। श्रीः। संवत् १७९१ वर्षे काती सुदी ११ एकादश्यां रवौ इदं ग्रन्थ संपूर्णं जातम्। श्री सवाईजयपुरमध्ये। श्रीः॥"

प–यह प्रति भी भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीटयूट पूनाकी है। परन्तु इसके प्रारम्भके सौ पत्र नहीं मिले। पत्र १०१–१२४ प्राप्त हैं। इसलिये इसके पाठभेदोंका संकेत (प) प्रस्तुत संस्करणमें पृ. ११४ के पूर्वमें नहीं किया जा सका है। लिपि सुन्दर और सुवाच्य है। इसके अन्तिम पुष्पिकावाक्य इस प्रकार हैं— "श्री नाभेयो जिनो भूयात् भूयसे श्रेयसे स वः। जगज्ज्ञानजले यस्य दधाति कमलाकृतिम् ॥१॥ इत्याशीर्वाद। इति पण्डितप्रभाचन्द्रविरचितात्मानुशासनटीका समाप्ता। शुभं भवतु। मिती ती कार्तिक मासे शुभे शुक्लपक्षे पूर्णवास्यां तिथौ गुरुवारे संवत १९४६ का दसकत लादूरामका। शुभं"

मु(नि)– उक्त तीन हस्तलिखित प्रतियोंके अतिरिक्त बम्बई निर्णयसागर प्रेससे "सनातन जैन ग्रन्थमाला" के नामसे जो प्रथम गुच्छक प्रकाशित (ई. सन् १९०५) हुआ है उसमें प्रस्तुत ग्रन्थका मूल मात्र समाविष्ट है।

मु(जै)– स्थानीय विद्वान् श्री पं. बंशीधरजी शास्त्रीकी हिन्दी टीकाके साथ इस ग्रन्थका एक संस्करण जैन ग्रन्थरत्नाकर बम्बईसे भी प्रकाशित (सन १९१६) हुआ था।

ग्रन्थका स्वरूप और ग्रन्थकार

प्रस्तुत ग्रन्थ आत्महितैषी जीवोंके लिये आत्माके यथार्थ स्वरूपकी शिक्षा देनेके विचारसे रचा गया है। इसीलिये ग्रन्थकारके द्वारा इसका 'आत्मानुशासन' यह सार्थक नाम निर्दिष्ट किया गया है। इसकी समस्त श्लोकसंख्या २६९ है और उनमें इन १५ छन्दोंका उपयोग किया गया है (देखिये परिशिष्ट पृ. २५७)—

क्रम	छन्दनाम	श्लोक-संख्या	छन्दका लक्षण	क्रम	छन्दनाम	श्लोक-संख्या	छन्दका लक्षण
१	अनुष्टुभ् (श्लोक)	१०२	श्रुतबोध	८	पृथ्वी	८	,, ३-१२४
				९	स्रग्धरा	६	वृ. र. ३-१४२
२	शार्दूलविक्री-डित	५७	वृत्तरत्नाकर ३-१९६	१०	मन्दाक्रान्ता	३	,, ३-१२७
				११	वंशस्थ	३	,, ३-५९
३	वसन्ततिलका	२६	वृ. र.३-९६	१२	उपेन्द्रवज्रा	१	,, ३-४२
४	आर्या	२१	श्रुतबोध	१३	वैतालीय	१	,, २-१२
५	शिखरिणी	१५	वृ. र. ३-१२३	१४	रथोद्धता	१	,, ३-५१
६	हरिणी	१४	,, ३-१२६	१५	गीति	२	,, २-८
७	मालिनी	९	,, ३-११०				
						२६९	

इस ग्रन्थके रचयिता श्री गुणभद्राचार्य हैं। इन्होंने अपने जन्मसे किस नगरको विभूषित किया, माता-पिता उनके कौन थे, तथा वे गृहवासमें कब तक रहे; इत्यादि बातोंको जाननेके लिये कुछ भी सुलभ सामग्री नहीं है। इतना निश्चित है कि वे अपने समयके अपूर्व एवं बहुश्रुत विद्वान् थे। जैसा कि उन्होंने उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें स्वयं सूचित किया है, वे श्री जिनसेनाचार्य और श्री दशरथ गुरुके शिष्य थे[1]। इन्होंने अपनी प्रतिभाके बलपर अपने गुरुके अपूर्ण कार्यको पूरा किया— श्री जिनसेनाचार्यके अधूरे महापुराणको सम्पूर्ण किया। वे गुरुके अतिशय भक्त थे। उनकी इस गुरुभक्तिका प्रमाण उस समय मिलता है जब वे अपने गुरुदेव श्री जिनसेन स्वामीका स्वर्गवास हो जानेपर उनकी रचनासे शेष रहे आदिपुराणके रचनाकार्यको अपने हाथमें लेते हैं। वे कहते हैं— इस शेष महापुराण (आदिपुराण और उत्तरपुराण) की रचनामें यदि मेरे वचन श्रोताजनोंको सुस्वादु (आनन्दजनक) प्रतीत हों तो यह गुरुओंका ही प्रभाव समझना चाहिये। कारण यह कि आम्र आदि फलोंमें जो सुस्वादुता देखी जाती है

१. प्रत्यक्षीकृतलक्ष्यलक्षणविधिर्विश्वोपविद्यां गतः
सिद्धान्ताब्ध्यवसानयानजनितप्रागल्भ्यवृद्धीद्धधीः।
नानानूननयप्रमाणनिपुणोऽगण्यैर्गुणैर्भूषितः
शिष्यः श्रीगुणभद्रसूरिरनयोरासीज्जगद्विश्रुतः॥ उ. पु. प्रशस्ति १४.

उसके कारणभूत उक्त फलोंके उत्पादक वे वृक्ष ही होते हैं[१]। इसके अतिरिक्त, मेरे ये वचन जिस हृदयसे निकलनेवाले हैं उस हृदयमें तो गुरुओंका वास निरन्तर है, अतः वे उनको वहां संस्कारसे संयुक्त– रस, भाव व अलंकारादिसे विभूषित– करेंगे ही। इसीलिये मुझे यहां कुछ भी परिश्रम नहीं करना पडेगा[२]। आगे वे कहते हैं कि इस पुराणरूप समुद्रका पार अतिशय दूरवर्ती है तथा वह गहरा भी अधिक है, इसका भय मुझे कुछ भी नहीं है। कारण यह कि जो श्रेष्ठ गुरु सर्वत्र दुर्लभ हैं वे इस पुराणरूप समुद्रके पार करनेमें मेरे आगे चल रहे हैं[३]। जब जिनसेनका अनुसरण करनेवाले भव्य जीव प्राचीन मार्गको– रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्गको– पाकर संसाररूप समुद्रके पार पहुंचना चाहते हैं तब इस पुराणकी तो बात ही क्या है– उन जिनसेन गुरुका अनुसरण करके मैं इस पुराणको निःसन्देह पूरा करूंगा[४]। इस कथनसे उन्होंने जिस प्रकार अपनी उत्कृष्ट गुरुभक्तिको सूचित किया है उसी प्रकार उन्होंने अपनी शालीनता (निरभिमानता) को भी प्रगट कर दिया है। ऐसे उत्कृष्ट महाकाव्योंकी रचनामें असाधारण प्रतिभा और उत्कृष्ट विद्वत्ता ही काम करती है। इस बातको वे मर्मज्ञ विद्वान् ही समझ सकते हैं, न कि इतर साधारण जन। इस सत्यको वे स्वयं ही इस प्रकारसे सूचित करते हैं– कविके काव्यविषयक परिश्रमको कवि ही समझ सकता है। ठीक है– जिस प्रकार वन्ध्या स्त्री कभी पुत्र-प्रसूतिकी पीडाको नहीं समझ सकती है उसी प्रकार अकवि कविके काव्य-रचनाविषयक परिश्रमको भी नहीं समझ सकते हैं[५]।

१. गुरूणामेव माहात्म्यं यदपि स्वादु मद्वचः।
तरूणां हि प्रभावेण यत्फलं स्वादु जायते॥ आ. पु. ४३-१७.

२. निर्यान्ति हृदयाद्वाचो हृदि मे गुरवः स्थिताः।
ते तत्र संस्करिष्यन्ते तन्न मेऽत्र परिश्रमः॥ आ. पु. ४३-१८.

३. सुदूरपार-गम्भीरमिति नात्र भयं मम।
पुरोगा गुरवः सन्ति प्रष्ठाः सर्वत्र दुर्लभाः॥ आ. पु. ४३-३८.

४. पुराणं मार्गमासाद्य जिनसेनानुगा ध्रुवम्।
भवाब्धेः पारमिच्छन्ति पुराणस्य किमुच्यते॥ आ. पु. ४३-४०.

५. कविरेव कवेर्वेत्ति कामं काव्यपरिश्रमम्।
वन्ध्या स्तनन्धयोत्पत्तिवेदनामिव नाकविः॥ आ. पु. ४३-२४.

गुरुभक्त होनेके साथ वे प्रखर तपस्वी भी थे। उन्होंने उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें स्वयं लिखा है— इसने (गुणभद्रने) पुण्य-लक्ष्मीकी सुभगताके अभिमानको जीत लिया है, ऐसा सोचकर ही मानो मुक्तिरूप लक्ष्मीने उसके पास अतिशय निपुण दूतीके समान तपरूप लक्ष्मीको भेज दिया था। उसने भी आकर उत्तम गुणरूप धनके धारक उसका आश्रय बड़े प्रेमसे स्वीकार किया है[1]। प्रस्तुत ग्रन्थ (आत्मानुशासन १४९–१६९) में उन्होंने जो समालोचनात्मक दृष्टिसे साधुधर्मका विवेचन किया है उससे भी उनके महान् तपस्वी होनेका अनुमान होता है। उत्तरपुराणकी ही प्रशस्ति (४२) में उनके शिष्य लोकसेनने जो उनके लिये 'जितमदनविलासः' विशेषण दिया है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे अखण्ड बालब्रह्मचारी थे।

ग्रन्थका रचनाकाल

प्रस्तुत ग्रन्थके रचयिता वे गुणभद्राचार्य कब हुए, इसका विचार करनेके लिये हम प्रथमतः उनके गुरु श्री जिनसेनाचार्यके समयका विचार करेंगे। जिनसेनाचार्यने अपने गुरु श्री वीरसेनके द्वारा प्रारम्भ की गई तथा इस बीच उनका स्वर्गवास हो जानेसे अधूरी रह गई कसायपाहुडकी जयधवला टीकाको शक संवत् ७५९ में पूर्ण किया, यह निश्चित है[2]। उस समय अमोघवर्षका राज्य था। इसके बादमें ही सम्भवतः उन्होंने

१. पुण्यश्रियोऽयमजयत्सुभगत्वदर्पमित्याकलय्य परिशुद्धमतिस्तपश्रीः।
मुक्तिश्रिया पटुतमा प्रहितेव दूती प्रीत्या महागुणधनं समशिश्रियद्यम् ॥
उ. पु. प्रशस्ति १५.

२. इति श्रीवीरसेनीया टीका सूत्रार्थदर्शिनी।
वाटग्रामपुरे श्रीमद्गुर्जरार्यानुपालिते ॥ ६ ॥
फाल्गुने मासि पूर्वाह्णे दशम्यां शुक्लपक्षके।
प्रवर्धमानपूजोरुनन्दीश्वरमहोत्सवे ॥ ७ ॥
अमोघवर्षराजेन्द्रराज्यप्राज्यगुणोदया।
निष्ठिता प्रचयं यायादाकल्पान्तमनल्पिका ॥ ८ ॥
एकान्नषष्टिसमधिकसप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य।
समतीतेषु समाप्ता जयधवला प्राभृतव्याख्या ॥ ११ ॥ ज. ध. प्रशस्ति.

महापुराणकी रचना प्रारम्भ की है। वह महापुराण आदिपुराण और उत्तरपुराण इन दो भागोंमें विभक्त है। आदिपुराणमें सैंतालीस पर्व हैं। इनमें जिनसेनाचार्यके द्वारा ४२ पर्व ही रचे जा सके हैं। तत्पश्चात् उनका स्वर्गवास हो गया। तब उनकी इस अधूरी रचनाको इन्हीं गुणभद्राचार्यने पूरा किया है। उन ४२ पर्वोंमें लगभग १० हजार श्लोक होंगे। उनकी रचनामें ५-६ वर्षका समय लग सकता है। इस प्रकार जिनसेनाचार्यका अस्तित्व लगभग शक सं. ७५९+६=७६५ तक पाया जाता है। जैसा कि हरिवंशपुराणके कर्ता श्री जिनसेनने अपने हरिवंशपुराणके प्रारम्भमें उल्लेख किया है[१], पार्श्वाभ्युदयकी रचना वे– गुणभद्रके गुरु जिनसेनाचार्य– जयधवलाके पूर्वमें ही कर चुके थे। कारण इसका यह है कि उक्त पार्श्वाभ्युदयका उल्लेख करनेवाले उस हरिवंशपुराणको श. सं. ७०५ में पूरा किया गया है। अब इस पार्श्वाभ्युदयकी रचनाके समय यदि जिनसेन स्वामीकी अवस्था बीस वर्षके भी लगभग रही हो तो उनका जन्म श. सं. ६८५ के लगभग होना चाहिये। इस प्रकार श्री जिनसेनाचार्य श. सं. ६८५–७६५ तक करीब ८० वर्षकी अवस्था तक विद्यमान रहते हैं[२]।

जिनसेनाचार्यका स्वर्गवास हो जानेपर उनके उस अधूरे आदिपुराण (४३–४७) को तथा समस्त उत्तरपुराणको श्री गुणभद्राचार्यने पूरा किया है[३]। इसमें उन्होंने लगभग ९६२० (आ. पु. १६२०+उ. पु. ८०००) श्लोकोंकी रचना की है। इस कार्यको उन्होंने कब पूरा किया, इसका

१. याऽमिताभ्युदये पार्श्वजिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः।
स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्तिः संकीर्तयत्यसौ॥ ह. पु. १-४०.

२. यह अनुमान स्व. पं. नाथूरामजी प्रेमीने किया है (जैन साहित्य और इतिहास पृ. १३९-४१)। लगभग ऐसा ही अनुमान कसायपाहुड भाग १ के सम्पादकोंने भी उसकी प्रस्तावना (पृ. ७५-७७) में किया है।

३. जिनसेनभगवतोक्तं मिथ्याकविदर्पदलनमतिललितम्।
सिद्धान्तोपनिबन्धनकर्त्रा भर्त्रा चिरेयानाम्॥
अतिविस्तरभीरुत्वादवशिष्टं संगृहीतममलधिया।
गुणभद्रसूरिणेदं प्रहीणकालानुरोधेन॥ उ. पु. प्रशस्ति १९-२०.

निर्देश उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें नहीं किया गया है। फिर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि उन्होंने उसकी रचना जिनसेनाचार्यके स्वर्गस्थ होते ही प्रारम्भ कर दी होगी। इसमें उनका ५-७ वर्षका समय लग सकता है। इस प्रकार गुणभद्राचार्यका समय श. सं. के अनुसार ८ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध निश्चित होता है। उन्होंने अपने अस्तित्वसे इस महीमण्डलको ठीक कबसे कब तक मण्डित किया, इसके यथार्थ निश्चय करनेका कोई भी साधन उपलब्ध नहीं है। परन्तु हां, उत्तरपुराणकी अन्तिम प्रशस्तिसे– जो उसका अंश गुणभद्रके शिष्य लोकसेनके द्वारा रचा गया है– इतना अवश्य निश्चित होता है कि शक सं. ८२० में अनेक भव्यों द्वारा महोत्सवपूर्वक उस महापुराणकी पूजा सम्पन्न की गई थी[1]। इससे इतना तो निश्चित है कि श. सं. ८२० के पूर्वमें उक्त महापुराण पूर्ण हो चुका था। सम्भव है लोकसेनके तत्त्वावधानमें सम्पन्न हुआ उक्त महापुराणका वह पूजामहोत्सव गुणभद्राचार्यके स्वर्गवासके पश्चात् किया गया हो।

उनकी कृतिस्वरूप ग्रन्थोंमें उपर्युक्त उत्तरपुराण और प्रकृत आत्मानुशासनके अतिरिक्त जिनदत्तचरित्र भी उपलब्ध है। इनके अतिरिक्त उनके द्वारा रचा गया अन्य कोई ग्रन्थ दृष्टिगोचर नहीं होता है।

संस्कृत टीकाका स्वरूप

प्रस्तुत ग्रन्थके साथ जो संस्कृत टीका प्रकाशित की जा रही है वह प्रभाचन्द्राचार्यके द्वारा रची गई है। यह संक्षिप्त टीका ग्रन्थके मूल भागका ही अनुसरण करती है। उसमें प्रायः कहीं कुछ विशेष नहीं लिखा गया है– शब्दार्थ मात्र किया गया है। इतना ही नहीं, बल्कि कहीं

१. शकनृपकालाभ्यन्तरविंशत्यधिकाष्टशतमिताब्दान्ते।
मंगलमहार्थकारिणि पिङ्गलनामनि समस्तजनसुखदम्॥
श्रीपञ्चम्यां बुधार्द्रायुजि दिवसजे मन्त्रिवारे बुधांशे
पूर्वायां सिंहलग्ने धनुषि धरणिजे सैंहिकेये तुलायाम्।
सूर्ये शुक्रे कुलीरे गवि च सुरगुरौ निष्ठितं भव्यवर्यैः
प्राप्तेज्यं सर्वसारं जगति विजयते पुण्यमेतत्पुराणम्॥
उ. पु. प्रशस्ति ३५–३६.

कहीं तो मूल ग्रन्थके आशयको भी स्पष्ट नहीं किया गया है। यथा—

श्लोक १२–१४ में सम्यग्दर्शनके दस भेदोंके स्वरूपका निर्देश किया गया है। उनके स्वरूपका टीकामें विशेष स्पष्टीकरण होना चाहिये था, जो नहीं किया गया है।

इससे आगेके १५वें श्लोक (शमबोध...) की टीकामें भी बहुत कुछ लिखा जा सकता था, परन्तु उसके भावको भी स्पष्ट नहीं किया गया है।

श्लोक २५ में या तो टीकाकारके सामने कुछ पाठभेद रहा है, या लिपिकारोंकी असावधानीसे टीकागत पद कुछ इधरके उधर हुए हैं। इससे टीकाकारका अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता है।

श्लोक ३२ भर्तृहरिके नीतिशतकमें इसी रूपमें पाया जाता है। वहां मात्र (यत्र)के स्थानमें यस्य और 'वारणः'के स्थानमें 'रावणः' पाठभेद है। वहां 'रावणः' का अर्थ टीकाकारने 'प्रधानहस्ती' किया है। आत्मानुशासनमें इस श्लोककी टीका करते हुए प्रभाचन्द्राचार्यने 'संगरे परैः भग्नः' का अर्थ 'रावणादि शत्रुओं द्वारा युद्धमें पराजित किया गया' ऐसा किया है जो संगत प्रतीत नहीं होता है। यहां इन्द्रसे अभिप्राय यथार्थ देवेन्द्रका ही रहा है[1], न कि इन्द्र नामधारी विद्याधर मनुष्यविशेषका। अन्यथा, 'अनुग्रहः खलु हरेः' इस विशेषताकी कोई संगति नहीं बैठती। कारण कि उक्त इन्द्र नामक राजाने यद्यपि देवों आदिकी भी वैसी ही

---

१. विजितास्त्रिदशा दैत्यैरिन्द्राद्याः शरणं ययुः।
पितामहं महाभागं हुताशनपुरोगमाः॥ वि. पु. १, ९, ३४.

आसीद् धुन्धुरिति ख्यातः कश्यपस्यौरसः सुतः। दनुगर्भसमुद्भूतो महाबलपराक्रमः॥ स समाराध्य वरदं ब्रह्माणं तपसासुरः। अवध्यत्वं सुरैः सर्वैः प्रार्थयत् स तु नारद॥ तद्वरं तस्य च प्रादात् तपसा पङ्कजोद्भवः। परितुष्टः स च बली निर्जगाम त्रिपिष्टपम्॥ चतुर्थस्य कलेरादौ जित्वा देवान् सवासवान्। धुन्धुः शक्रत्वमकरोद् हिरण्यकशिपौ सति॥ तस्मिन् काले स बलवान् हिरण्यकशिपुस्ततः। चचार मन्दरगिरौ दैत्यं धुन्धुं समाश्रितः॥ ततोऽसुरा यथाकामं विहरन्ति त्रिपिष्टपे। ब्रह्मलोके च त्रिदशाः संस्थिता दुःखसंयुताः॥ वामने ७५ अध्यायः (शब्दकल्पद्रुमगत-वामन-शब्दतः)।

कल्पना कर रक्खी थी (पद्मचरित ७, २३-३२), फिर भी उसके ऊपर किसी विष्णुके अनुग्रहका कहीं कोई प्रकरण देखनेमें नहीं आता। इस प्रकार उक्त श्लोककी पूरी परिस्थितिको देखते हुए वहां यथार्थ इन्द्रका ही अभिप्राय रहा है, ऐसा निश्चित प्रतीत होता है और तभी दैवकी पूरी प्रधानता एवं पुरुषार्थकी निरर्थकता भी सिद्ध होती है।

इस श्लोकका प्रभाव पद्मनन्दिपञ्चविंशतिके निम्न श्लोक (३-२३) पर भी रहा दिखता है—

गीर्वाणा अणिमादिस्वस्थमनसः शक्ता किमत्रोच्यते
ध्वस्तास्तेऽपि परं परेण स परस्तेभ्यः कियान् राक्षसः।
रामाख्येन च मानुषेण निहतः प्रोल्लङ्घ्य सोऽप्यम्बुधिं
रामोऽप्यन्तकगोचरः समभवत् कोऽन्यो बलीयान् विधेः॥

यहां तो स्पष्टतया पद्मचरित्रके उक्त कथानकको आधार बनाकर यह कहा गया है कि जो देव अणिमा-महिमा आदि ऋद्धियोंसे सम्पन्न व अतिशय शक्तिशाली थे वे भी जिस परके द्वारा— दूसरेके द्वारा— नष्ट किये गये हैं वह पर रावण राक्षस था जो उन देवोंसे कुछ विशेष बलवान् नहीं था। फिर वह भी एक राम नामक मनुष्यके द्वारा समुद्रको लांघकर मारा गया है, तथा अन्तमें उस रामको भी यमका ग्रास बनना ही पड़ा है। ठीक है— दैवसे बलवान् अन्य कोई नहीं है।

उस इन्द्र नामक विद्याधरने अपने सैनिकों आदिकी 'देव' संज्ञा रख रक्खी थी। यहां उनके लिये समानार्थक गीर्वाण शब्दका प्रयोग किया गया है तथा उन्हें अणिमा-महिमा आदिसे स्वस्थ मनवाले कहा गया है, जिसकी कि विद्याधर होनेसे सम्भावना भी की जा सकती है।

श्लोक १४९ में 'अर्थार्थं' का अर्थ 'अर्थनिमित्तम्' तथा 'तपःस्थेषु मध्ये' का अर्थ 'तपस्विषु मध्ये' तो किया गया है; किन्तु 'नतानामाचार्या न हि नतिरताः साधुचरिताः' जैसे क्लिष्ट वाक्यके विषयमें कुछ भी स्पष्ट नहीं किया गया, जिसका कि स्पष्टीकरण आवश्यक था।

इसी प्रकार ३९, ८७, १०८, १३४ और १३५ आदि कितने ही ऐसे श्लोक हैं जिनका भाव स्पष्ट नहीं हुआ है। कहीं कहीं अर्थको स्पष्ट करनेके लिये मूलकी अपेक्षा भी क्लिष्ट शब्दका उपयोग किया गया है। जैसे– श्लोक १३२ में 'दण्डोलकरूपः' (पगदण्डी)।

श्लोक २३९ में शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप और सुख-दुःख इन छहका निर्देश करके उनमें प्रथम तीन (शुभ, पुण्य और सुख) को हितकारक व अनुष्ठेय बतलाया गया है तथा शेष तीनको अहितकारक– अननुष्ठेय (परित्याज्य)– बतलाया गया है। यहां टीकाकारने 'शेष-त्रयमथाहितम्' इस चतुर्थ चरणका कोई अर्थ नहीं किया। आगेका श्लोक (२४०) इसीसे सम्बन्ध रखता है। उसमें 'तत्राप्याद्यं परित्याज्यं' कहकर 'तत्र अपि' से उन अहितकारक शेष तीन (अशुभ, पाप और दुःख) को ग्रहण करके उनमें भी प्रथम (अशुभ) को ही परित्याज्य बतलाया है, क्योंकि, उसका परित्याग कर देनेपर शेष दोनों (पाप व दुख) स्वयमेव नहीं रहेंगे। इसके पश्चात् (उत्तरार्धमें) पूर्व श्लोकमें जिस शुभको अनुष्ठेय (आचरणीय) बतलाया था उसे भी शुद्धोपयोगके आश्रयपूर्वक छोड़ देनेकी प्रेरणा करके अन्तमें उत्कृष्ट पद (मोक्ष) की प्राप्तिकी सूचना की गई है। यह वस्तु-स्थिति है। परन्तु उसका अर्थ स्पष्ट करते हुए टीकाकारने 'तत्र अपि' से उन (परित्याज्य) शेष तीनको न लेकर उन अनुष्ठेय शुभादि तीनको ही लिया है और उनमेंसे आद्य को– शुभको– परित्याज्य बतलाया है। परन्तु इस प्रकारसे 'शुभं च शुद्धे त्यक्त्वा' इस तृतीय चरणकी सार्थकता नहीं रहती है– वह निरर्थक हो जाता है, क्योंकि, उस अवस्थामें उसके त्यागकी प्रेरणा तो प्रथम चरण (तत्राप्याद्यं परित्याज्यं) में ही की जा चुकी है। अत एव यह तृतीय चरण पुनरुक्त हो जाता है। इस कारण टीकाकारका यह अर्थ और इसी अर्थको लक्ष्यमें रखकर लिखी गई उसकी उत्थानिका (शुभादित्रयेऽपि त्यागक्रमं दर्शयन्नाह) भी संगत नहीं प्रतीत होती। मेरी समझसे उसकी उत्थानिका इस प्रकार होना चाहिये– अथाहिते शेषत्रये त्यागक्रमं दर्शयन्नाह।

टीकाकार प्रभाचन्द्रका परिचय

जैसा कि श्रद्धेय पं. जुगलकिशोर जी मुख्तारने सटीक रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी प्रस्तावनामें (पृ. ५७–६६) लिखा है, प्रभाचन्द्र नामके अनेक आचार्य हो गये हैं। उनमेंसे यह आत्मानुशासनकी टीका किस प्रभाचन्द्रके द्वारा लिखी गई है, यह विचारणीय है। मेरी समझसे जिनके द्वारा रत्नकरण्डश्रावकाचारकी टीका लिखी गई है उन्हीं प्रभाचन्द्रके द्वारा आत्मानुशासनकी भी यह टीका लिखी गई है। समाधितशतकके ऊपर भी जो संस्कृत टीका प्रभाचन्द्रकी पायी जाती है वह भी इन्हीं प्रभाचन्द्रके द्वारा लिखी गई है। कारण यह कि इन तीनों ही टीकाओंकी रचना-पद्धति समान है, उनमें सर्वत्र खण्डान्वयपूर्वक ही श्लोकोंकी व्याख्या की गई है। इसके अतिरिक्त उन सभीमें प्रायः मूल पदोंके ही स्पष्टीकरणका प्रयत्न किया गया है, उससे अधिक कुछ नहीं लिखा गया है। साथ ही उनके मंगलात्मक प्रथम पद्य, प्रस्तावनावाक्य और अन्तिम पद्य तो बहुत अधिक समानता रखते हैं। यथा—

> सिद्धं जिनेन्द्रमलमप्रतिमप्रबोधं निर्वाणमार्गममलं विबुधेन्द्रवन्द्यम्।
> संसारसागरसमुत्तरणप्रपोतं वक्ष्ये समाधिशतकं प्रणिपत्य वीरम्॥
>
> समाधिशतक

> समन्तभद्रं निखिलात्मबोधनं जिनं प्रणम्याखिलकर्मशोधनम्।
> निबन्धनं रत्नकरण्डके परं करोमि भव्यप्रतिबोधनाकरम्॥
>
> रत्नकरण्ड

> वीरं प्रणम्य भवत्रारिनिधिप्रपोतमुद्द्योतिताखिलपदार्थमनल्पपुण्यम्।
> निर्वाणमार्गमनवद्यगुणप्रबन्धमात्मानुशासनपदं प्रवरं प्रवक्ष्ये॥
>
> आत्मानुशासन

इन तीनों ही मंगलपद्योंमें समान रूपसे इष्ट देव (वीर जिनेन्द्र, जिन और वीर जिनेन्द्र) को नमस्कार करके विवक्षित ग्रन्थ (समाधिशतक, रत्नकरण्डक और आत्मानुशासन) की व्याख्या करनेकी प्रतिज्ञा की गई

है। समाधिशतक और आत्मानुशासन विषयक मंगलपद्योंका तो छन्द (वसन्ततिलका) भी समान है।

तीनोंके प्रस्तावनावाक्य निम्न प्रकार हैं—

श्रीपूज्यपादस्वामी मुमुक्षूणां मोक्षोपायं मोक्षस्वरूपं चोपदर्शयितुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वाणो येनात्मेत्याह — (समाधिशतक)

श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डप्रख्यं सम्यग्दर्शनादिरत्नानां पालनोपायभूतं रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह—

(रत्नकरण्ड)

बृहद्धर्मभ्रातुर्लोकसेनस्य[1] विषयव्यामुग्धबुद्धेः संबोधनव्याजेन सर्वसत्त्वोपकारकं सन्मार्गमुपदर्शयितुकामो गुणभद्रदेवो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वाणो लक्ष्मीत्याद्याह—

(आत्मानुशासन)

इन तीनों ही प्रस्तावनावाक्योंमें समानरूपसे अपने अपने ग्रन्थकी रचनाके इच्छुक तीनों ही आचार्यों (पूज्यपाद, समन्तभद्र और गुणभद्र) का नामनिर्देश करके उन्हें निर्विघ्नतापूर्वक शास्त्रसमाप्ति आदिकी अभि-

१. यहां लोकसेनको गुणभद्रका बड़ा धर्मभ्राता निर्दिष्ट किया गया है। परन्तु वह प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता। कारण इसका यह है कि उत्तरपुराणकी अन्तिम प्रशस्तिमें— जहांसे उसे स्वयं लोकसेन प्रारम्भ करते हैं— यह स्पष्ट बतलाया गया है कि लोकसेन उन गुणभद्राचार्यके मुख्य शिष्य थे, बृहत् धर्मभ्राता नहीं। साथ ही वहां जो उनके लिये 'अविकलवृत्तः' और 'मुनीशः' विशेषण दिये गये हैं उससे उनकी बुद्धि विषयोंमें व्यामुग्ध थी, यह भी संदेहास्पद ही दिखता है। प्रशस्तिका वह श्लोक निम्न प्रकार है—

विदितसकलशास्त्रो लोकसेनो मुनीशः
कविरविकलवृत्तस्तस्य शिष्येषु मुख्यः।
सततमिह पुराणे प्रार्थ्य साहाय्यमुच्चै-
र्गुरुविनयमनैषीन्मान्यतां स्वस्य सद्भिः॥ २८॥

लाषासे इष्ट देवके नमस्कारमें उद्यत बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त 'निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वाणो (नमस्कुर्वन्)' इतना वाक्यांश तो तीनोंमें ही शब्दशः समान है।

उक्त तीनों टीकाओंके अन्तमें जो पद्य पाये जाते हैं वे इस प्रकार हैं —

येनात्मा बहिरन्तरुत्तमभिदा त्रेधा विवृत्योदितो
मोक्षोऽनन्तचतुष्टयामलवपुः सद्ध्यानतः कीर्तितः।
जीयात् सोऽत्र जिनः समस्तविषयः श्रीपूज्यपादोऽमलो
भव्यानन्दकरः समाधिशतकश्रीमत्प्रभेन्दुः प्रभुः ॥ समाधि.

येनाज्ञानतमो विनाश्य निखिलं भव्यात्मचेतोगतं
सम्यग्ज्ञानमहांशुभिः प्रकटितः सागारमार्गोऽखिलः।
स श्रीरत्नकरण्डकामलरविः संसृत्सरिच्छोषको
जीयादेष समन्तभद्रमुनिपः श्रीमान् प्रभेन्दुर्जिनः ॥ रत्नकरण्ड.

मोक्षोपायमनल्पपुण्यममलज्ञानोदयं निर्मलं
भव्यार्थं परमं प्रभेन्दुकृतिना व्यक्तैः प्रसन्नैः पदैः।
व्याख्यानं [तं]वरमात्मशासनमिदं व्यामोहविच्छेदतः
सूक्तार्थेषु कृतादरैरहरहश्चेतस्यलं चिन्त्यताम् ॥ आत्मानुशासन

इन तीनों पद्योंमें टीकाकार श्री प्रभाचन्द्रने 'प्रभेन्दु' पदसे अपना नामनिर्देश किया है। तीनोंका ही छन्द शार्दूलविक्रीडित है।

टीकाकारका समय

इस प्रकार उक्त तीनों टीकाओंके इस स्वाभाविक सादृश्यको देखते हुए वे तीनों टीकायें एक ही व्यक्तिके द्वारा रची गई हैं, इसमें सन्देहके लिये कोई स्थान नहीं रहता। अब, उनके रचयिता कौन-से प्रभाचन्द्र हैं और वे कब हुए हैं, इसका निर्णय करनेके लिये जब हम उन टीकाओंका अन्तःपरीक्षण करते हैं तो हमें वहां सोमदेव सूरि द्वारा विरचित यशस्तिलकके अनेक पद्य देखनेको मिलते हैं। जैसे—

आत्मानुशासन श्लोक ९ की टीकामें 'सर्वदोषरहितः' का स्पष्टीकरण करते हुए वहां टीकामें निम्न श्लोक उद्धृत किये गये हैं—

[1]विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवाः ।
त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषाः साधारणा इमे ॥
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः ।

ये श्लोक यशस्तिलकचम्पू (उत्तरार्ध) में पृ. २७४ पर पाये जाते हैं ।

इसी प्रकार श्लोक १० की टीकामें 'मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ' आदि, श्लोक २६५ की टीकामें 'दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचित्[2]' आदि तथा श्लोक २६६ की टीकामें 'अकर्ता निर्गुणः शुद्धः' आदि जो श्लोक उद्धृत किये गये हैं वे भी उस यशस्तिलक (उत्तर खण्ड) में क्रमशः पृ. ३२४, २७० और २५० पर पाये जाते हैं ।

इसी प्रकार रत्नकरण्डश्रावकाचारमें भी श्लोक ४—२३ की टीकामें जो 'श्रद्धा तुष्टिर्भक्ति–' आदि श्लोक उद्धृत किया गया है वह यशस्तिलक (उ. खण्ड) में पृ. ४०४ पर पाया जाता है[3] ।

सोमदेव सूरिके द्वारा विरचित यह यशस्तिलक शक संवत् ८८१ में बनकर समाप्त हुआ है[4] । इससे इतना तो निश्चित हो

१. इसके पूर्वमें जो वहां 'क्षुधा तृषा भयं दोषो' आदि श्लोक उद्धृत है वह यशस्तिलकमें 'क्षुत्-पिपासा भयं द्वेषश्चिन्तनं' आदिके रूपमें कुछ-भिन्न उपलब्ध होता है ।

२. ये श्लोक सौन्दरनन्द काव्य (१६, २८-२९) में इस रूपमें पाये जाते है–
दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥
एवं कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥

३. वहां 'सत्य' के स्थानमें 'शक्तिः' और 'यस्यैते' के स्थानमें 'यत्रैते' मात्र पाठभेद पाया जाता है ।

४. शकनृपकालातीतसंवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्यधिकेषु (अङ्कतः ८८१) सिद्धार्थसंवत्सरान्तर्गतचैत्रमास-मदनत्रयोदश्यां ... ... विनिर्मापितमिदं काव्यमिति । यशस्तिलक (उ. खण्ड) पृ. ४१९.

जाता है उक्त तीनों ग्रन्थोंके टीकाकार श्री प्रभाचन्द्र श. सं. ८८१ (८८१+१३५ = वि. सं. १०१६) के बाद किसी समयमें हुए हैं।

उन्होंने रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लोक ४–१८ की टीकामें निम्न दो श्लोक उद्धृत किये हैं—

अध्रुवाशरणे चैव भव एकत्वमेव च ।
अन्यत्वमशुचित्वं च तथैवास्रवसंवरौ ॥
निर्जरा च तथा लोको बोधिदुर्लभधर्मता ।
द्वादशैता अनुप्रेक्षा भाषिता जिनपुंगवैः ॥

ये दोनों श्लोक पद्मनन्दिपञ्चविंशति (६, ४३–४४) के हैं। इसके रचयिता श्री मुनि पद्मनन्दी पं. आशाधरजीके पूर्वमें हो गये हैं। कारण यह कि पं. आशाधरजीने अपने अनगारधर्मामृतमें 'आचेलक्यौद्देशिक' आदि श्लोक (९–८०) की स्वोपज्ञ टीकामें 'अत एव श्रीपद्मनन्दि-पादैरपि सचेलतादूषणं दिङ्मात्रमिदमधिजगे' लिखकर पद्मनन्दि-पञ्चविंशति-का 'म्लाने क्षालनतः कुतः' आदि श्लोक (१–४१) उद्धृत किया है[१]। यह टीका उन्होंने वि. सं. १३०० में समाप्त की है[२]। इससे यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि श्री पद्मनन्दी मुनि पं. आशाधरजीके पूर्ववर्ती विद्वान् हैं। श्रद्धेय पं. जुगलकिशोरजी मुख्तारने मुनि पद्मनन्दीको जिन शुभचन्द्राचार्यका शिष्य बतलाया है उनका देहावसान शक

१. इसके अतिरिक्त विना नामोल्लेखके तो उन्होंने पद्मनन्दिपञ्चविंशतिके कितने ही श्लोकोंको इस अनगारधर्मामृतकी स्वोपज्ञ टीकामें उद्धृत किया है। यथा– ८-२१ की टीकामें 'यज्ञानन्नपि' आदि (प. १०-१), ८-२३ की टीकामें 'मुक्त इत्यपि' आदि (प. १०-१८), 'यद्यदेव' आदि (प.१०-१६) तथा 'अन्तरङ्गबहिरङ्गयोगतः' आदि (प.१०-४४), ९-९३ की टीकामें 'यावन्मे स्थित-भोजने' आदि (प. १-४३) और ९-९७ की टीकामें 'काकिण्या अपि संग्रहो' आदि (प. १-४२) इत्यादि। इसी प्रकार इष्टोपदेश श्लोक ३५ की टीकामें 'वज्रे पतत्यपि' आदि (प. १-६३) श्लोकको उद्धृत किया है।

२. नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत् ।
विक्रमाब्दशतेष्वेषा त्रयोदशसु कार्तिके ॥ अ. ध. प्रशस्ति ३१.

सं. १०४५ (वि. सं. ११८०) में हुआ है[१]। इससे श्री पद्मनन्दी मुनि १२वीं शताब्दीके उत्तरार्धवर्ती विद्वान् प्रतीत होते हैं। अब चूंकि प्रभाचन्द्रने रत्नकरण्डकी टीकामें उक्त मुनि पद्मनन्दीके उपर्युक्त दो श्लोकोंको उद्धृत किया है, अत एव वे पद्मनन्दीके भी उत्तरकालीन विद्वान् सिद्ध होते हैं।

इस उत्तरकालकी अवधिका विचार करते हुए हमें उपर्युक्त पं. आशाधरजीकी अनगारधर्मामृतकी टीकामें ही इन प्रभाचन्द्रका स्पष्टतया नामनिर्देश उपलब्ध होता है। यथा—

यथाहुस्तत्रभगवन्तः श्रीमत्प्रभेन्दुपादा रत्नकरण्डकटीकायां चतुरावर्तत्रितय इत्यादिसूत्रे द्विनिषद्य इत्यस्य व्याख्याने— देववन्दनां कुर्वता हि प्रारम्भे समाप्तौ चोपविश्य प्रणामः कर्तव्य इति[२]।

इस उल्लेखसे ऐसा प्रतीत होता है कि समाधिशतक, रत्नकरण्डश्रावकाचार और आत्मानुशासन इन तीनों ग्रन्थोंके ऊपर टीका लिखनेवाले वे प्रभाचन्द्र पं. आशाधरजीके समसमयवर्ती रहे हैं। कारण कि हम यह ऊपर लिख ही चुके हैं कि उक्त अनगारधर्मामृतकी टीका वि. सं. १३०० में बनकर समाप्त हुई है।

जैनसिद्धान्तभास्करकी चतुर्थ किरणमें प्रकाशित शुभचन्द्रकी गुर्वावलीके आधारसे जैसा कि मुख्तार सा. ने लिखा है, ये प्रभाचन्द्र उन शुभकीर्तिके पट्टशिष्य थे जो वनवासी आम्नायके थे तथा वे (प्रभाचन्द्र) विक्रमकी १३वीं और १४वीं शताब्दीके विद्वान् थे[३]। इस गुर्वावलीके एक पद्यसे[४] ज्ञात होता है कि पूज्यपादके शास्त्र (समाधिशतक) की

१. देखिये सटीक रत्नकरण्डकी प्रस्तावना पृ. ७५.

२. देखिये अनगारधर्मामृतटीका श्लोक ८-९३ तथा रत्नकरण्डश्रावकाचार टीका श्लोक ५-१८.

३. र. श्रा. की प्रस्तावना पृ. ६३-६५.

४. पट्टे श्रीरत्नकीर्तेरनुपमतपसः पूज्यपादीयशास्त्र-
व्याख्याविख्यातकीर्तिर्गुणगणनिधिपः सत्क्रियाचारुचञ्चुः।
श्रीमानानन्दधामा प्रतिबुधनुतमा मानसंदायिवादो
जीयादाचन्द्रतारं नरपतिविदितः श्रीप्रभाचन्द्रदेवः॥

व्याख्या करनेसे– उसके ऊपर टीका रचनेसे– इन प्रभाचन्द्रकी कीर्तिका विस्तार हुआ था। उन शुभकीर्तिके एक दूसरे भी धर्मभूषण नामके शिष्य थे। उपर्युक्त जैन सिद्धान्तभास्करकी चतुर्थ किरणमें प्रकाशित नन्दिसंघकी पट्टावलीके आचार्योंकी नामावलीमें प्रभाचन्द्रके पट्टारोहणका काल वि. सं. १३१० दिया गया है[१]। इसके पश्चात् उनके होनेकी सम्भावना नहीं है, क्योंकि, कारंजाके बलात्कारगण मंदिरमें जो शास्त्र-भण्डार है उसमें उपर्युक्त प्रभाचन्द्रके द्वारा विरचित रत्नकरण्डश्रावकाचारकी टीकाकी एक प्रति वि. सं. १४१५ की मौजूद है[२]।

कितने ही विद्वान् यह समझते हैं कि रत्नकरण्डश्रावकाचारके ऊपर टीका लिखनेवाले प्रभाचन्द्र वे ही प्रभाचन्द्र हैं कि जिन्होंने प्रमेयकमल-मार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र जैसे टीकाग्रन्थोंको रचा है। इसके लिये वे यह हेतु देते हैं कि उन्होंने उक्त ग्रन्थके 'क्षुत्पिपासा' आदि श्लोककी टीकामें केवलीके कवलाहारका खण्डन करते हुए प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें उक्त विषयकी विशेष प्ररूपणा करनेका निम्न प्रकारसे निर्देश किया है—

तदलमतिप्रसंगेन प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्रपञ्चतः प्ररूपणात्।

परन्तु इस वाक्यके द्वारा वहां केवल यह भाव दिखलाया गया है कि इस विषयका विशेष विवरण उक्त दोनों ग्रन्थोंमें किया गया है, अतः विशेष जिज्ञासुओंको उसे वहां देखना चाहिये। उक्त वाक्यमें ऐसा कोई पद ('मया' या 'अस्माभिः' आदि) नहीं है जिससे कि यह निश्चय किया जा सके कि वह प्ररूपणा वहां इन्हीं प्रभाचन्द्रने की है।

इसके अतिरिक्त आत्मानुशासनमें कुछ श्लोक (१७१–७४, २६५–६६) ऐसे आये हैं कि जिनके ऊपर टीका करते हुए तर्कणाकी शैलीसे बहुत कुछ लिखा जा सकता था। परन्तु वहां विशेष कुछ भी

१. र. श्रा. की प्रस्तावना पृ. ६३–६५.

२. र. श्रा. की प्रस्तावना पृ. ६७.

नहीं लिखा गया है। इतना ही नहीं, बल्कि किसी किसी श्लोकका तो पूरा अर्थ भी स्पष्ट नहीं हुआ है (देखिये श्लोक १७१)। प्रभाचन्द्र जैसे उच्च कोटिके तार्किक विद्वान्से यह सम्भावना नहीं की जाती कि उनके सामने 'तदेव तदतद्रूपं, एकमेकक्षणे सिद्धं ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मकम्, न स्यास्तु न क्षणविनाशि न बोधमात्रं नाभावमप्रतिहतप्रतिभासरोधात्, गुणी गुणमयस्तस्य नाशस्तन्नाश इष्यते' जैसे विशेष वर्णनीय विषयके रहते हुए भी वे उसके ऊपर विशेष कुछ भी न लिखें। इन विषयोंकी प्ररूपणा उन्होंने प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थोंमें प्रकरणके अनुसार विस्तारसे की है।

आत्मानुशासन श्लोक २६५ की टीकामें यह श्लोक उद्धृत किया गया है—

दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचिन्नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतः स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥

यही श्लोक प्रमेयकमलमार्तण्ड (६–७४) में इस रूपमें उद्धृत किया गया है—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥

यह श्लोक सौन्दरनन्द काव्यमें इसी स्वरूपमें पाया जाता है। इसके साथ ही प्रमेयकमलमार्तण्डमें 'जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो' आदि दूसरा श्लोक भी उद्धृत किया गया है जो इस श्लोकसे सम्बन्ध रखता है।

एक ही लेखक किसी अन्य ग्रन्थकारके वाक्यको एक स्थानपर एक रूपमें और दूसरे स्थानमें अन्य स्वरूपसे उद्धृत करे, यह सम्भव नहीं है। जहां तक मैं समझता हूं, ये दोनों श्लोक यशस्तिलक (उ. खण्ड पृ. २७०) में 'दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित्' आदिके रूपमें उद्धृत किये गये हैं। वहांसे ही सम्भवतः आत्मानुशासनके टीकाकार उन प्रभाचन्द्रने उक्त श्लोकको आत्मानुशासनकी टीकामें उद्धृत किया है। इससे इन दोनों प्रभाचन्द्रोंमें भिन्नता सिद्ध होती है।

इसके अतिरिक्त प्रमेयकमलमार्तण्ड आदिकी रचनाशैली और इन टीकाओंकी रचनाशैलीको जब हम तुलनात्मक दृष्टिसे देखते हैं तो हमें उन दोनोंमें स्पष्ट भेद भी दिखाई देता है। इससे हम तो इसी निष्कर्षपर पहुंचते हैं कि समाधिशतक, रत्नकरण्डश्रावकाचार और आत्मानुशासन इन तीनों ग्रन्थोंपर टीका लिखनेवाले प्रभाचन्द्र उन प्रमेयकमलमार्तण्ड आदिके रचयिता प्रभाचन्द्रसे भिन्न हैं, तथा उनका रचनाकाल विक्रमकी १३वीं शतीका अन्तिम भाग अनुमान किया जाता है।

अन्य टीकायें

इस संस्कृत टीकाके अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रन्थके ऊपर अन्य निम्न टीकायें भी उपलब्ध हैं—

१. गोम्मटसार आदि अनेक ग्रन्थोंके ऊपर ढूंढारी हिन्दी भाषामें विद्वत्तापूर्ण टीका लिखनेवाले तथा मोक्षमार्गप्रकाशकके मूल लेखक सुप्रसिद्ध पं. टोडरमलजीके द्वारा एक विस्तृत हिन्दी टीका आत्मानुशासनपर भी लिखी गई है जो प्रकाशित भी हो चुकी है। इस टीकामें प्रथमतः उन्होंने मूल श्लोकके अर्थको स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है और तत्पश्चात् प्रत्येक श्लोकके ऊपर भावार्थ लिखकर उसके अभिप्रायको स्पष्ट किया है। मूल ग्रन्थमें जहां अन्य वैदिक आदि ग्रन्थोंके उदाहरण दिये गये हैं वहां उन्होंने उनके सम्बन्धमें या तो कुछ लिखा ही नहीं है या कुछ काल्पनिक ही लिखा है। यथा—

'नेता यत्र बृहस्पतिः' आदि श्लोक (३२) की टीकामें 'अनुग्रहः खलु हरेः' का अर्थ 'विष्णुका अनुग्रह' न करके यह अर्थ किया है— अर हरि जो ईश्वर ताका अनुग्रह सहाय। साथ ही भावार्थमें यह लिख दिया है— तहां वैष्णव मत अपेक्षा उदाहरण कह्या, देवतानिका इन्द्र बलवान् है सो तौ भी दैत्यनिकरि संग्रामविषैं हार्या। अथवा याहीका जैनमत अपेक्षा अर्थ कीजिये तो इन्द्रनामा विद्याधर भया, वाने मंत्री आदिकका बृहस्पति आदि नाम धर्या है सो बहुत पुरुषार्थकरि संयुक्त भया, सो भी रावणकरि हार्या।

'चित्तस्थमप्यनवबुध्य हरेण जाड्यात्' आदि श्लोक (२१६) का अर्थ इस प्रकार लिखा है– देखौ काम तौ चित्तविषै हुता, बाह्य ण हुता, अर काहूनै क्रोधकरि काम जानि कोउ बाह्य पदार्थ भस्म किया, सो काम न मुवा। कामके योगते सराग अवस्थाकूं प्राप्त भया। कामकी करी घोर वेदना सही। इस अर्थमें उन्होंने 'हरेण' का अर्थ सीधा महादेव न करके 'काहूनै' के रूपमें किया है तथा भावार्थमें भी इसी शब्दका उपयोग किया है।

'यशो मारीचीयं' आदि श्लोक (२२०) के अर्थमें उन्होंने 'स कृष्णः कृष्णोऽभूत् कपटबटुवेषेण नितराम्' इस तृतीय चरणका अर्थ सर्वथा छोड़ दिया है। भावार्थमें भी उन्होंने केवल इतना ही लिखा है– मायाचार महा दुराचार है। मारीच मंत्री लघुताकौ प्राप्त भया, राजा युधिष्ठिर सारिषा 'अश्वत्थामा हतः' या वचन कहिवेकरि लज्याकौ प्राप्त भये। यहां इतना स्मरण रखना चाहिये कि पं. टोडरमल जी अपनी पद्धतिके अनुसार यथा-सम्भव प्रत्येक श्लोकके भावको पूर्णतया स्पष्ट करते हैं। परन्तु यहां वह स्पष्ट नहीं किया गया है। इसका कारण उनकी इन कथानकोंसे असह-मतिके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं प्रतीत होता। मारीचकी कथाका वह प्रसंग श्री रविषेणाचार्यविरचित पद्मपुराणसे सर्वथा भिन्न है।

ऐसे कुछ स्थलोंको छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र यह टीका ग्रन्थके भावको हृदयंगम करनेमें पर्याप्त सहायता करती है।

२. दूसरी टीका शोलापुरके प्रसिद्ध विद्वान् स्व. पं. बंशीधर जी शास्त्रीके द्वारा लिखी गई है। यह टीका प्रायः भावप्रधान व कुछ विस्तृत भी है। परन्तु उससे मूल ग्रन्थका शाब्दिक अर्थ शीघ्रतासे अवगत नहीं होता। यह टीका जैन ग्रन्थरत्नाकर बम्बई से प्रकाशित (फर्वरी १९१६) हो चुकी है। लिखते समय इस टीकाकी पुस्तक न रहनेसे उसके सम्बन्धमें विशेष नहीं लिखा जा सका है।

३. उपर्युक्त दो हिन्दी टीकाओंके अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रन्थपर एक मराठी टीका भी उपलब्ध है। यह टीका स्थानीय जैन संस्कृति संरक्षक संघके– जिसके द्वारा यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है– संस्थापक स्व. ब्र.

जीवराज गौतमचन्द जी दोशीके द्वारा पं. टोडरमल जी की टीकाके आधारसे लिखी गई है और वह प्रकाशित (वीर नि. सं. २४३५) भी हो चुकी है।

पं. टोडरमल जी की टीकाके समान इस टीकामें भी श्लोक ३२ के 'अनुग्रह: खलु हरे:' का अर्थ 'व व्यास हरि म्हणजे परमेश्वराचा अनुग्रह म्हणजे सहाय' किया गया है तथा भावार्थमें यह सूचित कर दिया है— "या ठिकाणीं वैष्णव मताच्या अपेक्षेनें दृष्टांत सांगितला आहे कीं सर्व देवांमधें इन्द्र हा बलवान् आहे. त्याच्या युद्धांत दैत्यांनीं पराभव केला. तेव्हां दैवापुढें कोणाचा इलाज नाहीं। आतां याच श्लोकाचा आमच्या आम्नायाप्रमाणें अर्थ केला तर इन्द्र हें नांव विद्याधरालाहि आहे. त्या विद्याधरानें आपल्या मंत्र्याचें नांव बृहस्पति वगैरे ठेवलें होतें व तो अतिशय पराक्रमी होता. परंतु रावणानें त्याचा पराजय केला." यह पं. टोडरमल जी के भावार्थका ही प्रायः अनुवाद है।

श्लोक २१६ की टीकामें यहां 'हरेण' का अर्थ 'शंकरानें' ही किया है। परन्तु नीचे टिप्पणमें यह सूचना अवश्य कर दी है— या ठिकाणीं गुणभद्र स्वामींनीं वैष्णवमताचा दृष्टांत घेऊन क्रोध अकल्याणकारी आहे असें सिद्ध केलें आहे. म्हणून कोणी शंका घेण्याचें कारण नाहीं. कारण कवींचा अभिप्राय आपलें प्रयोजन सिद्ध करण्याकडे असल्यामुळें असा दृष्टांत दिला आहे. यांत फक्त क्रोधानें कशी हानि होते एवढ्यावरच दृष्टि ठेवावी.

श्लोक २२० की टीकामें यहां भी पं. टोडरमल जी की टीकाके समान 'स कृष्णः कृष्णोऽभूत् कपटबटुवेषेण नितराम्' का अर्थ छोड़ दिया गया है व भावार्थ भी लगभग वैसा ही लिखा गया है।

इस प्रकार यह टीका पं. टोडरमल जी की टीकाका प्रायः मराठी अनुवाद मात्र है।

विषय-परिचय

अभीष्ट प्रयोजन

संसारके सब ही प्राणी चूंकि दुखसे डरते हैं और सुखकी अभिलाषा करते हैं, इसीलिये इस आत्मानुशासन ग्रन्थके द्वारा उन्हें उक्त प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिये आत्मस्वरूपकी शिक्षा दी गई है (श्लोक २)। इसमें आचार्य गुणभद्रने सर्वप्रथम यह निर्देश कर दिया है कि यहां जो उपदेश दिया जावेगा वह यद्यपि सुननेके समय कुछ कटु लग सकता है, परन्तु वह परिणाममें कडुवी औषधिके समान हितकर ही होगा। इसलिये सुखाभिलाषी भव्य जीवोंको उससे भयभीत नहीं होना चाहिये (३)। यह है भी ठीक, क्योंकि, 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वच:' इस प्रसिद्ध नीतिके अनुसार जो हितोपदेशक होते हैं उनके वचन प्राय: श्रोता जनोंको मनोहर नहीं प्रतीत होते हैं। और इसके विपरीत जिनके वचनोंमें मधुरता दिखती है वे प्राय: हितोपदेशक नहीं होते हैं। अतएव ग्रन्थके प्रारम्भमें उसके कर्ता द्वारा श्रोता जनोंको उक्त प्रकारसे सावधान कर देना उचित ही है। आगे वे उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट कर देते हैं जिस प्रकार जलसे रिक्त होकर गर्जना करनेवाले बादल बहुत, किन्तु उक्त जलसे परिपूर्ण होकर वर्षा करनेवाले वे बहुत ही थोड़े देखे जाते हैं; उसी प्रकार निरर्थक या कुटिलतापूर्वक बकवाद करनेवाले चापलूस मनुष्य तो बहुत संख्यामें उपलब्ध होते हैं, किन्तु जगत्का कल्याण करनेवाले यथार्थ वक्ता बहुत ही अल्प मात्रामें उपलब्ध होते हैं (४)।

आगे चलकर वक्ता और श्रोता इन दोनोंके ही कुछ आवश्यक गुणोंका उल्लेख करते हुए यह बतलाया है कि जब यह भली भाँति प्रसिद्ध है कि पापसे प्राणीको दुख और धर्मसे सुख प्राप्त होता है तब सुखाभिलाषी मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह उस दुखदायक पापको छोड़कर सुखप्रद धर्मका ही आचरण करे (८)। स्वामी समन्तभद्राचार्यने धर्मका यही स्वरूप बतलाया है कि जो ज्ञानावरणादि कर्मोंको निर्मूल

करता हुआ प्राणियोंको जन्म-मरणादिरूप संसारके महान् दुखसे छुड़ाकर उन्हें निराकुल एवं निर्बाध शाश्वतिक सुखको प्राप्त करा देता है वही वास्तवमें धर्म कहा जाता है[1]। कारण यह कि वस्तुस्वभावका नाम धर्म है। सो यहां अन्य वस्तुओंकी विवक्षा न होकर एक मात्र आत्मा अपेक्षित है। अतएव उसके स्वभावभूत जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-रूप रत्नत्रय है उसे धर्म समझना चाहिये। यही मोक्षका मार्ग है। इसके विपरीत जो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र हैं वे अधर्म होनेसे मोक्षके मार्ग न होकर संसारके ही कारण होते हैं[2]।

सुख-दुखविवेक

अब यहां हमें यह विचार करना चाहिये कि वास्तविक सुख क्या है और वास्तविक दुख क्या है। सातावेदनीय कर्मके उदयसे प्राणीको कुछ कालके लिये जो सुखका अनुभवन होता है वह यथार्थमें सुख नहीं है, किन्तु सुखका आभास है। कारण यह है कि इन्द्रियविषयोंसे जो प्राणीको सुख प्राप्त होता है वह बिजलीके प्रकाशके समान विनश्वर होकर उत्तरोत्तर उस विषय-तृष्णाको ही बढ़ाता है जो कि एक महाव्याधिस्वरूप है। यह विषयतृष्णा प्राणीको निरन्तर संतप्त करती है। इसलिये वह उस संतापको दूर करनेके लिये उन उन अभीष्ट विषयोंकी प्राप्तिमें लगकर घोर परिश्रम करता है व स्वयं दुखी होता है[3]। श्री कुन्दकुन्दाचार्य भी इस इन्द्रियजन्य विषयसुखको दुख ही बतलाते हैं। वे कहते हैं कि इन्द्रियोंसे जो सुख उपलब्ध होता है वह पर द्रव्योंकी अपेक्षा रखनेके कारण पराधीन, भूख-प्यास आदिकी अनेक बाधाओंसे सहित, प्रतिपक्षभूत असातावेदनीय आदिके उदयसे संयुक्त होनेसे विनश्वर, भोगाकांक्षा आदिके दुर्ध्यानसे पापका बन्धक,

१. देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥ र. श्रा. २.

२. सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः॥ र. श्रा. ३.

३. शतह्रदोन्मेषचलं हि सौख्यं तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं तापस्तदायासयतीत्यवादीः॥ स्व. स्तो. ३, १.

तथा अतृप्तिका कारण अथवा हानि-वृद्धिसे सहित होनेके कारण विषम है[1]। स्वामी समन्तभद्र भी निष्कांक्षित अंगके लक्षणमें कहते हैं कि वह विषय-जन्य सुख प्रथम तो कर्माधीन है– जब सातावेदनीय आदि पुण्य कर्मोंका उदय होगा तब ही वह उपलब्ध हो सकता है, न कि अन्यथा। दूसरे कर्माधीन होकर भी वह स्थिर रह सकता हो, सो भी नहीं है—वह नियमसे नष्ट होनेवाला है। तीसरे, उसकी उत्पत्ति दुःखोंसे अन्तरित है– बीच बीचमें अनेक दुख भी अवश्य प्राप्त होनेवाले है। कारण कि सुख और दुखका यह क्रम चक्रके समान निरन्तर चालू रहता है। कहा भी है–

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्।
द्वयमेतद्धि जन्तूनामलंघ्यं दिन-रात्रिवत्॥

अर्थात् जिस प्रकार दिनके बाद रात और फिर रातके बाद दिनका प्रादुर्भाव नियमसे हुआ करता है उसी प्रकार सुखके बाद दुख और फिर दुखके बाद सुख भी नियमसे उत्पन्न होना ही रहता है। इस प्रकृतिके नियमका कभी उल्लंघन नहीं होता है। इसके अतिरिक्त वह संसारकी परम्पराके बढ़ानेवाले पापबन्धका भी कारण है। अत एव ऐसे विनश्वर सुखमें नित्यत्वके दुरभिनिवेशको छोड़कर उसकी अभिलाषा न करना, यह सम्यग्दर्शनका निष्कांक्षित अंग माना गया है[2]।

भगवान् कुन्थुनाथ जिनेन्द्र तीर्थंकर तो थे ही, साथ ही वे चक्रवर्ती भी थे। उनके पास विषय-भोगोंकी कमी नहीं थी। फिर भी उन्होंने जन्म, जरा एवं मरणके दुःखसे छुटकारा पानेके लिये– निराकुल एवं निर्बाध स्वाधीन सुख (मोक्षसुख) की प्राप्तिकी इच्छासे– उस अपरिमित विभूतिको छोड़कर दैगम्बरी दीक्षा ही स्वीकार की थी। उनकी स्तुतिमें स्वामी समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि विषयतृष्णारूप अग्निकी ज्वालायें प्राणीको

१. सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तधा॥ प्र. सा. १, ७६.

२. कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये।
पापबीजे सुखेऽनास्थाश्रद्धाऽनाकांक्षणा स्मृता॥ र. श्रा. १२.

निरन्तर जला रही हैं। उनकी शान्ति अभीष्ट इन्द्रियविषयोंकी विभूतिसे सम्भव नहीं है, उससे तो वे उत्तरोत्तर वृद्धिको ही प्राप्त होनेवाली हैं; क्योंकि, ऐसी स्थिति है– जैसे जैसे वे विषयभोग प्राप्त होते जाते हैं वैसे ही वैसे प्राणीकी तद्विषयक इच्छा भी, घीकी आहुतियोंसे अग्निके समान, उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। उक्त इन्द्रियविषय कुछ समयके लिये केवल शरीरके संतापको ही दूर कर सकते हैं– वे उन तृष्णा-ज्वालाओंको कभी शान्त नहीं कर सकते हैं। इसी कारण हे जितेन्द्रिय कुन्थु जिनेन्द्र! आप उस विषयजनित सुखसे विमुख हुए हैं– आपने उस स्वाधीन सुखको प्राप्त करनेके लिये चक्रवर्तीकी विभूतिको भी तुच्छ तृणके समान छोड़ दिया है[1]।

उक्त सुख-दुखका विवेक न होनेसे प्राणी मात्रके चाहनेपर भी वह सुख सबको नहीं प्राप्त हो पाता। इसके लिये यहां यह बतलाया है कि जिस समीचीन सुखको सब ही शीघ्रतासे प्राप्त करना चाहते हैं वह सब कर्मोंका– द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मका– क्षय हो जानेपर उपलब्ध होता है। और वह सब कर्मोंका क्षय जिस सम्यक्चारित्रके ऊपर निर्भर है वह सम्यग्ज्ञानका अविनाभावी है। यह सम्यग्ज्ञान रागादि समस्त दोषोंसे रहित हुए आप्तके द्वारा प्ररूपित परमागमके सुननेसे प्राप्त होता है। अतएव परम्परासे उस सुखका मूल कारण जो आप्त है उसका ही युक्तिपूर्वक विचार करके आश्रय लेना चाहिये— उसका ही आराधन करना चाहिये (९)[2]।

सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपके भेदसे आराधना

१. तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासामिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव।
स्थित्यैव कायपरितापहरं निमित्तमित्यात्मवान् विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत्॥
स्व. स्तो. १७, २.

२. इसी आशयका एक पुरातन पद्य श्री आचार्य विद्यानन्दने श्लोकवार्तिकके प्रारम्भमें भी उद्धृत किया है—

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धैर्न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति॥
श्लो. वा. पृ. २.

चार प्रकारकी है। प्रकृत ग्रन्थमें प्रकारान्तरसे इन चारों आराधनाओंका विवेचन किया गया है। उनमें प्रथम आराधनारूप सम्यग्दर्शनका विवेचन करते हुए उसे अचल-प्रासाद (मोक्ष-महल) के ऊपर चढ़नेवाले भव्य जीवोंके लिये प्रथम पायरी (सीढ़ी) के समान बतलाया गया है। सात तत्त्व अथवा नौ पदार्थोंके श्रद्धानका नाम सम्यग्दर्शन है। वह निसर्गज और अधिगमज अथवा सराग और वीतरागके भेदसे दो प्रकारका, औपशमिकादिके भेदसे तीन प्रकारका, तथा आज्ञासम्यक्त्व आदिके भेदसे दस प्रकारका भी माना गया है। जब तक यह सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता है तब तक मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान सम्यक्पनेको प्राप्त नहीं होते— वे मिथ्यारूप ही रहते हैं। किन्तु जैसे ही प्राणीके वह सम्यग्दर्शन प्रादुर्भूत होता है वैसे ही उक्त तीनों ज्ञान सम्यग्रूपताको प्राप्त कर लेते हैं। वह मूढता आदि पच्चीस दोषोंसे रहित तथा संवेग आदि[1] गुणोंसे वृद्धिंगत होना चाहिये (१०)।

इस सम्यग्दर्शनका स्वरूप ग्रन्थान्तरोंमें विभिन्न प्रकारसे पाया जाता है। यथा— श्री कुन्दकुन्दाचार्यने दर्शनप्राभृतमें छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पांच अस्तिकाय और सात तत्त्वोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन बतलाया है[2]। आगे इसी ग्रन्थमें उन्होंने जिनेन्द्रप्ररूपित जीवादि तत्त्वोंके श्रद्धानको व्यवहार सम्यग्दर्शन और आत्मा (आत्मनिश्चय) को निश्चय सम्यग्दर्शन कहा है[3]। वे ही मोक्षप्राभृतमें कहते हैं कि हिंसासे रहित धर्म, अठारह दोषोंसे रहित देव, निर्ग्रन्थ गुरु और प्रवचन (आगम) के विषयमें जो श्रद्धा उत्पन्न होती है वह सम्यग्दर्शन है[4]।

१. संवेओ णिव्वेओ णिंदण गरुहा य उवसमो भत्ती।
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठ गुणा हुंति सम्मत्ते ॥ वसु. श्रा. ४९.

२. छद्दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥ द. प्रा. १९.

३. जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहि पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥ द. प्रा. २०.

४. हिंसारहिए धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥ मो. प्रा. ९०.

तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता भगवान् उमास्वामीने तत्त्वार्थश्रद्धानको सम्यग्दर्शन बतलाया है। स्वामी समन्तभद्रने परमार्थ आप्त, आगम और तपस्वीके तीन मूढता व आठ मदोंसे रहित तथा आठ अंगोंसे सहित श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है[1]। इसी प्रकार अमृतचन्द्राचार्यने भी जीवाजीवादि तत्त्वार्थोंके विपरीत अभिप्रायसे रहित श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहकर उसे आत्माका स्वरूप बतलाया है[2]। पंचाध्यायीकार कहते हैं कि इस प्रकार जो तत्त्वका ज्ञाता होकर स्वकीय आत्माको देखता है वह सम्यग्दृष्टि है और वह विषयजन्य सुख तथा ज्ञानके विषयमें राग-द्वेषको छोड़ देता है[3]।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनके उपर्युक्त लक्षणोंमें भेदके दिखनेपर भी अभिप्राय सबका एक ही है। इन लक्षणोंमें जो आप्त, आगम और गुरु अथवा जीवादि तत्त्वोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन बतलाया गया है उसे सम्यग्दर्शन न समझकर उसका कारण समझना चाहिये। पंचाध्यायीकार कहते हैं कि श्रद्धा, रुचि और प्रतीति आदि ये सम्यग्दृष्टिके बाह्य लक्षण हैं, किन्तु वे स्वयं सम्यक्त्व नहीं हैं; क्योंकि, वे सब ज्ञानकी पर्यायें हैं। यहां तक कि वे तो स्वानुभूतिको भी उस सम्यक्त्वका बाह्य ही लक्षण मानते हैं, क्योंकि, वह स्वानुभूति भी तो ज्ञानकी पर्याय होनेसे ज्ञानके ही अन्तर्गत है[4]। हां, यह अवश्य है कि यदि उक्त श्रद्धा आदि स्वानुभूतिसे संयुक्त हैं तब तो वे गुण हो सकते हैं; अन्यथा गुण न होकर

१. श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥ र. श्रा. ४.

२. जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत्॥ पुरु. २२.

३. इत्येवं ज्ञाततत्त्वोऽसौ सम्यग्दृष्टिर्निजात्मदृक्।
वैषयिके सुखे ज्ञाने राग-द्वेषौ परित्यजेत्॥ पंचाध्यायी २-३७१.

४. श्रद्धानादिगुणा बाह्यं लक्ष्म सम्यग्दृगात्मनः।
न सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्ययाः॥
अपि स्वात्मानुभूतिस्तु ज्ञानं ज्ञानस्य पर्ययात्।
अर्थात् ज्ञानं न सम्यक्त्वमस्ति चेत् बाह्यलक्षणम्॥
पंचाध्यायी २, ३८६-८७

वे गुणाभास ही रहेंगे। अभिप्राय यह हुआ कि वे सब श्रद्धा आदि गुण स्वानुभूतिसे संयुक्त होनेपर सम्यक्त्वस्वरूप और उसके विना मिथ्या श्रद्धा आदिके समान वे सम्यक्त्व न होकर तदाभास ही होते हैं[1]। स्वानुभूतिके विना जो श्रुतमात्रके आलम्बनसे श्रद्धा होती है वह तत्त्वार्थसे सम्बद्ध होनेपर भी यथार्थ श्रद्धा नहीं है, क्योंकि, वहां तत्त्वार्थकी उपलब्धि नहीं है। इसका भी कारण यह है कि वह लब्धि पागल पुरुषकी लब्धिके समान सत् और असत् पदार्थोंमें विशेषतासे रहित होती है। अत एव वह पदार्थके अभावमें होनेवाली अर्थोपलब्धिके ही समान वस्तुतः उपलब्धि नहीं है। इसीलिये श्रद्धाको जो सम्यक्त्वका लक्षण निर्दिष्ट किया जाता है उसे पंकज (कीचड़से उत्पन्न कमल) आदिके समान यौगिक रूढिके वश समझना चाहिये। इस कारण स्वानुभूतिसे संयुक्त श्रद्धाको जो सम्यक्त्व कहा गया है वह उचित ही है[2]।

यह सम्यग्दर्शन संज्ञी, पंचेन्द्रिय व पर्याप्त जीवोंमें किसी भी जीवके हो सकता है– उसके लिये कुल एवं जाति आदिका कोई बन्धन नहीं है। यही कारण है जो स्वामी समन्तभद्राचार्यने सम्यग्दर्शनसे सहित चाण्डालको भी आराधनीय बतलाया है[3]। सम्यक्त्वकी महिमा विलक्षण

1. स्वानुभूतिसनाथाश्चेत् सन्ति श्रद्धादयो गुणाः।
स्वानुभूतिं विनाभासा नार्थाच्छ्रद्धादयो गुणाः॥
तत्स्याच्छ्रद्धादयः सर्वे सम्यक्त्वं स्वानुभूतिमत्।
न सम्यक्त्वं तदाभासा मिथ्याश्रद्धादिवत् स्वतः॥
पंचाध्यायी २, ४१५-१६

2. विना स्वात्मानुभूतिं तु या श्रद्धा श्रुतमात्रतः।
तत्त्वार्थानुगताप्यर्थाच्छ्रद्धा नानुपलब्धितः॥
लब्धिः स्यादविशेषाद्वा सदसतोरुन्मत्तवत्।
नोपलब्धिरिहार्थात् सा तच्छेषानुपलब्धिवत्॥
ततोऽस्ति यौगिकी रूढिः श्रद्धा सम्यक्त्वलक्षणम्।
अर्थादप्यविरुद्धं स्यात् सूक्तं स्वात्मानुभूतिमत्॥
पंचाध्यायी २,४२१-२३.

3. सम्यग्दर्शनसंपन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्॥ र. श्रा. २८.

है। उसके होनेपर यदि चारित्र न भी हो तो भी प्राणी मोक्षके मार्गमें स्थित हो जाता है। किन्तु उसके विना बाह्य महाव्रतादिरूप चारित्रके होनेपर भी जीव मोक्षमार्गमें स्थित नहीं हो पाता है। इसी कारण ऐसे महाव्रतीकी अपेक्षा उस व्रतहीन सम्यग्दृष्टी गृहस्थको ही श्रेष्ठ बतलाया गया है[1]। वह सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्रकी अपेक्षा उत्कृष्ट माना जाता है। कारण यह है कि जिस प्रकार बीजके विना वृक्ष न उत्पन्न होता है, न अवस्थित रहता है, न बढता है; और न फलोंको भी उत्पन्न कर सकता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके विना ज्ञान और चारित्र भी यथार्थ स्वरूपमें न उत्पन्न हो सकते हैं, न अवस्थित रह सकते हैं, न दृढ हो सकते हैं और न मोक्षरूप फलको भी उत्पन्न कर सकते हैं[2]। इसलिये मोक्षकी प्राप्तिका मूल कारण इस सम्यग्दर्शनको ही समझना चाहिये।

उक्त सम्यग्दर्शनके यहां ये दस भेद निर्दिष्ट किये गये हैं– आज्ञासम्यक्त्व, मार्गसम्यक्त्व, उपदेशसम्यक्त्व, सूत्रसम्यक्त्व, बीजसम्यक्त्व, संक्षेपसम्यक्त्व, विस्तारसम्यक्त्व, अर्थसम्यक्त्व, अवगाढसम्यक्त्व और परमावगाढसम्यक्त्व[3]।

दैवकी प्रबलता

धर्मका असली प्रयोजन तो निराकुल मोक्षसुखकी प्राप्ति है। साथ ही प्राणियोंको जो इन्द्रियजनित सुख प्राप्त होता है वह भी उस धर्मके

१. गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः॥ र. श्रा. ३३.

२. विद्यावृत्तस्य संभूति-स्थिति-वृद्धि-फलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव॥ र. श्रा. ३२.

३. इनका स्वरूप श्लोक १२-१४ में देखिये। आचार्य गुणभद्रने सम्यक्त्वके इन १० भेदोंका उल्लेख अपने उत्तर पुराण (७४, ४३९-४९) में भी किया है। यह आत्मानुशासनका श्लोक (११) श्री सोमदेव सूरिके द्वारा अपने यशस्तिलक (उत्तर खण्ड पृ. ३२३) में उद्धृत किया गया है। वहां उन्होंने संक्षेपमें उक्त १० भेदोंके स्वरूपका भी निर्देश किया है।

विना सम्भव नहीं है। कारण यह कि उक्त विषयसुख जिस पुण्यके ऊपर निर्भर है वह विना धर्माचरणके नहीं होता है। इसीलिये तो तत्त्वार्थसूत्र (६-३) में शुभ योगको पुण्यका आस्रव और अशुभ योगको पापका आस्रव बतलाया गया है। यह शुभ योग अहिंसा, सत्य एवं अचौर्य आदि स्वरूप है और इसीका नाम धर्माचरण है। इसके विपरीत हिंसा, असत्य एवं चोरी आदि स्वरूप अशुभ योग है जो पापबन्धका कारण है। इस पुण्य पापको ही यहां दैव कहा गया है (२६२)। उस धर्मकी महिमाको प्रकट करते हुए यहां यह निर्दिष्ट किया गया है कि जब वे सब इन्द्रियविषय धर्मरूप वृक्षके ही फल हैं तब जिस प्रकार फलोंकी अभिलाषा रखनेवाले उपभोक्ता जन उस वृक्षका संरक्षण करते हुए ही उसके फलोंका उपभोग किया करते हैं उसी प्रकार सुखाभिलाषी विवेकी जन भी उक्त धर्मका परिपालन करते हुए ही क्यों न उस विषयसुखका उपभोग करें (१९)।

यहां दैवके ऊपर बल देकर इन्द्रका उदाहरण देते हुए यह बतलाया है कि जिस इन्द्रका मंत्री तो बृहस्पति, शस्त्र वज्र, सैनिक देव, किला स्वर्ग, और हाथी ऐरावत था तथा जिसके ऊपर साक्षात् विष्णुका अनुग्रह भी था; वह इस आश्चर्यजनक बलसे संयुक्त इन्द्र भी जब शत्रुओं-के द्वारा पराजित किया गया है तब अन्य साधारण जनकी तो बात ही क्या है ? इससे जाना जाता है कि जीवोंका रक्षक एक मात्र दैव ही है, उसके आगे पौरुषका कुछ वश नहीं चलता (३२)। यदि पूर्वोपार्जित पुण्य शेष है तो प्राणीके लिये आयु, धन-सम्पत्ति एवं शरीर आदि रूप सब ही अनुकूल सामग्री प्राप्त हो जाती है और यदि वह (पुण्य) शेष नहीं है तो फिर प्राणी उसकी प्राप्तिके लिये कितना भी परिश्रम क्यों न करे, परन्तु वह कदाचित् भी उसे प्राप्त नहीं हो सकती है।

दुष्ट दैवकी प्रबलताको दिखलाते हुए यहां (११८-१९) ग्रन्थ-कारने भगवान् आदिनाथका उदाहरण देकर यह बतलाया है कि जिन ऋषभ जिनेन्द्रने समस्त साम्राज्यको तृणके समान तुच्छ जानकर छोड़ दिया था और तपस्याको स्वीकार किया था वे ही भगवान् क्षुधित होकर दीनकी तरह दूसरोंके घरोंपर घूमे, परन्तु उन्हें भोजन प्राप्त नहीं हुआ।

देखो, जब वे गर्भमें आनेवाले थे तब उसके छह महिने पूर्वसे ही इन्द्र हाथ जोड़कर दासके समान सेवामें संलग्न रहा। उधर उनका पुत्र भरत चक्रवर्ती चौदह रत्न और नौ निधियोंका भी स्वामी था। तथा युगके आदिमें वे स्वयं सृष्टिके स्रष्टा थे। फिर भी उन्हें क्षुधाके वश होकर छह महिने पृथिवीपर घूमना पड़ा। यह उस दैवकी प्रबलता नहीं तो क्या है?

यह सब जानता हुआ भी प्राणी आशारूप पिशाचके वशीभूत होकर कभी खेतीमें प्रवृत्त होता है तो कभी राजाओंकी सेवा करता है, और कभी समुद्र आदिके मार्गसे देश-विदेशमें परिभ्रमण भी करता है। परन्तु जिस प्रकार बालुसे कभी तेल नहीं निकल सकता है तथा विष-भक्षणसे जीवित नहीं रह सकता है उसी प्रकार इस विषयतृष्णासे प्राणीको कभी सुखका लाभ भी नहीं हो सकता है। वह केवल मोहवश व्यर्थका परिश्रम करता हुआ दुखी ही रहता है। सच्चा सुख तो उसे उस आशाके निराकरणसे ही प्राप्त हो सकता है (४२)। किसीने यह ठीक ही कहा है—

जहां चाह तहां दाह है हुइये बेपरवाह।
चाह जिन्होंकी मिट गई वे शाहनके शाह॥

यह आशा एक प्रकारकी नदी है—जिस प्रकार नदीके प्रवाहमें पड़कर प्राणी दूर तक बहता ही चला जाता है और अन्तमें समुद्रमें जाकर वहां भयानक जलजन्तुओंका ग्रास बन जाता है उसी प्रकार यह प्राणी भी उस आशाके वशीभूत होकर निरन्तर अभीष्ट विषयसामग्रीको प्राप्त करनेके लिये परिश्रम करता है और अन्तमें मृत्युका ग्रास बनकर धर्मसे विमुख होनेके कारण संसार-समुद्रमें दीर्घ काल तक गोता खाता है (४९)। कवि भूधरदासजीने यह ठीक ही कहा है—

चाहत है धन होय किसी विध तो सब काज सरें जियराजी।
गेह चिनाय करूं गहना कछु व्याह सुता-सुत बांटिय भाजी॥
चिंतत यों दिन जाहिं चले जम आन अचानक देत दगाजी।
खेलत खेल खिलारी गये रहि जाय रुपी सतरंजकी बाजी॥

आशाको यद्यपि अग्निकी उपमा दी जाती है, परन्तु वह उससे भी भयानक है। कारण यह कि अग्नि तो तब तक ही जलती है जब तक कि उसे ईंधन प्राप्त होता रहता है— ईंधनके विना वह स्वयमेव शान्त हो जाती है। परन्तु आश्चर्य है कि वह आशारूप अग्नि ईंधन (इष्ट सामग्री) की प्राप्ति और अप्राप्ति दोनों ही अवस्थाओंमें जलती है– जब तक अभीष्ट विषयसामग्री प्राप्त नहीं होती है तब तक तो प्राणी उसकी अप्राप्तिसे संतप्त रहता है और जब वह प्राप्त हो जाती है तब वह उसकी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई तृष्णाके वश होकर संतप्त रहता है। जिस प्रकार ग्रीष्मकालीन सूर्यके तापसे पीड़ित कोई दुर्बल बैल उत्पन्न हुई प्यासकी वेदनाको शान्त करनेके लिये किसी जलाशयके किनारे जाता है और वहां गहरे कीचड़में फंसकर दुखी होता है उसी प्रकार यह अज्ञानी प्राणी सूर्यके समान संतापजनक इन्द्रियोंके वशीभूत होकर उत्पन्न हुई विषयतृष्णाको शान्त करनेके लिये उन उन विषयोंको प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है। परन्तु वैसा पुण्य शेष न रहनेसे वे विषय उसे प्राप्त नहीं होते। तब वह केवल उस परिश्रम-जनित दुखका ही अनुभव करता है (५५-५६)।

इसका कारण यह है कि मूढ प्राणी आत्मा और शरीरमें भेद नहीं समझता। वह शरीरको ही आत्मा समझता है। परन्तु वह विनश्वर एवं जड़ शरीर आत्मा नहीं है। वह तो उससे भिन्न ज्ञायकस्वभाव, चेतन व नित्य है। यद्यपि वह स्वभावतः अमूर्तिक होकर भी कर्मवश अनादि कालसे उस मूर्तिक शरीरमें एकक्षेत्रावगाह स्वरूपसे स्थित है, तो भी वे दोनों दूधमें मिले हुए पानीके समान स्वरूपतः भिन्न ही हैं। जिस प्रकार अन्यके लिये सम्भव न होनेपर भी हंस दूधमें मिले हुए पानीको पृथक् करके उसमेंसे केवल दूधको ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार विवेकी जन (अन्तरात्मा) दोनोंके एक क्षेत्रावगाह स्वरूपसे स्थित रहनेपर भी उस परम ज्योतिस्वरूप आत्माको म्यानमें स्थित खड्गके समान उस शरीरसे पृथक् ही ग्रहण किया करते हैं। इसीलिये वे शरीरके निमित्तसे होनेवाले दुखका भी कभी अनुभव नहीं करते। किसीने यह ठीक ही कहा है—

अज्ञस्य दुःखौघमयं ज्ञस्यानन्दमयं जगत् ।
अन्धं भुवनमन्धस्य प्रकाशं तु सचक्षुषः ॥

जिस प्रकार अन्धा मनुष्य विश्वको अन्धकारमय तथा निर्मल नेत्रोंसे संयुक्त मनुष्य उसे प्रकाशमय ही देखता है उसी प्रकार अज्ञानी जन जगत्को दुखरूप तथा ज्ञानीजन उसे आनन्दमय ही मानते हैं– विवेकी जन विपत्तिके समयमें भी कभी खिन्न नहीं होते हैं।

जिस शरीरके आश्रयसे प्राणी विषयोंमें प्रवृत्त होता है वह ठीक कारागृह (जेल) के समान है– कारागार यदि मोटे मोटे लकड़ीके शहतीरोंसे या लोहमय गाडरोंके आश्रित होता है तो यह शरीर भी स्थूल हड्डियोंके आश्रित है, कारागार जैसे रस्सियोंसे सम्बद्ध होता है वैसे ही शरीर भी शिरा व स्नायुओंसे सम्बद्ध है; कारागार जहां कबेलू आदिसे आच्छादित होता है वहां यह शरीर चमड़ेसे आच्छादित है, कारागारका संरक्षण यदि पहरेदार करते हैं तो इस शरीरका संरक्षण कर्म करते हैं, तथा कारागारका द्वार सांकलोंसे बन्द रहनेके कारण जिस प्रकार कैदी उसमेंसे बाहर नहीं निकल सकते हैं उसी प्रकार आयु कर्मका उदय रहनेसे प्राणी भी उस शरीरसे नहीं निकल सकते हैं (५९)। इस प्रकार उस शरीरकी कारागारके साथ समानता होनेपर भी आश्चर्य इस बातका है कि प्राणी उस कारागृहमें तो नहीं रहना चाहता है, किन्तु इस शरीररूप कारागारमें स्थित रहते हुए वह आनन्द भी मानता है। जो एरण्डकी पोली लकड़ी दोनों ओर अग्निसे जल रही हो उसके भीतर स्थित कीड़ा जिस प्रकार अतिशय दुखी होता है उसी प्रकार जन्म और मरणसे व्याप्त इस शरीरमें स्थित प्राणी भी अतिशय दुखी रहता है (६३)।

सत्साधुप्रशंसा

यहां तपस्वियोंकी प्रशंसा करते हुए कहा है कि यह जो उनका स्वेच्छापूर्वक विहार (गमनागमन), दीनतासे रहित भिक्षाभोजन, गुणी जनोंकी संगति, रागादिके उपशमरूप शास्त्राभ्यासका फल और बाह्य पर पदार्थोंमें मनकी मन्द प्रवृत्ति है; उसके विषयमें बहुत कालसे विचार करने-

पर भी नहीं मालूम होता कि यह कौन-से महान् तपका फल है। विषयोंसे विरक्ति, शास्त्रका परिशीलन, दया, दुराग्रहको नष्ट करनेवाली अनेकान्तबुद्धि, तथा अन्तमें विधिपूर्वक समाधिमरण; यह सब वास्तवमें महान् तपके प्रभावसे ही महापुरुषोंको उपलब्ध होता है (६७–६८)।

मरण अनिवार्य है

जन्म और मरण दोनोंमें अविनाभाव है। जिस प्रकार अरहटकी घटिकायें एक एक करके प्रतिसमय जलसे रहित होती जाती हैं उसी प्रकार प्राणीकी आयु भी प्रतिसमय क्षीण होती जाती है। और जिस क्रमसे आयु क्षीण होती जाती है उसी क्रमसे शरीर भी दुर्बल होता जाता है। परन्तु जिस प्रकार चलती हुई नावके ऊपर बैठा हुआ मनुष्य नावके साथ चलते रहनेपर भी भ्रान्तिवश अपनेको स्थिर मानता है उसी प्रकार अज्ञानी प्राणी आयु एवं शरीरके प्रतिसमय क्षीण होनेपर भी भ्रान्तिसे अपनेको स्थिर मानता है (७२)। अनादि-निधन लोकरचनाके अनुसार नीचे नारक बिल, ऊपर स्वर्ग तथा मध्यमें स्थित असंख्यात द्वीप-समुद्रोंसे वेष्टित अढ़ाई द्वीपमें मनुष्योंका निवास है। और अन्तमें वह सारा लोक तीन वातवलयोंसे भी घिरा हुआ है। इसपर ग्रन्थकार कल्पना करते हैं कि विचारशील ब्रह्मदेवने यद्यपि मनुष्योंके संरक्षणका इतना भारी प्रयत्न किया है, किन्तु फिर भी वह उन्हें मृत्युसे नहीं बचा सका– मृत्यु होती है (७५)। वह मृत्यु कब, कहां और किस प्रकारसे प्राप्त होगी; इसका जब निश्चय नहीं किया जा सकता है तब विवेकी जनोंको निरन्तर आत्महितमें निरत रहना चाहिये– संयमादिका परिपालन करते हुए उस मृत्युके संचारसे रहित क्षेत्र (मोक्ष) को प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये (७८–७९)।

मनुष्य पर्याय और तप आराधना

यहां मनुष्य पर्यायकी काने गन्नेसे तुलना करते हुए यह बतलाया है कि जिस प्रकार गन्ना अनेक पोरोंसे संयुक्त होता है उसी प्रकार मनुष्य पर्याय भी अनेक आपदाओंसे व्याप्त होती है, गन्ना यदि अन्तिम भागमें रससे हीन होता है तो मनुष्य पर्याय भी अन्तिम अवस्था (बुढ़ापा) में नीरस– विषयोपभोगादिके आनन्दसे रहित– होती है, जैसे गन्ना मूल भागमें

चूसनेके अयोग्य होता है वैसे ही मनुष्य पर्याय भी मूलमें– बाल्यावस्थामें– विषयोपभोगके अयोग्य रहती है; तथा मध्य भागमें जहां गन्ना कीड़ोंके द्वारा भक्षित होकर अनेक छेदोंसे युक्त हो जाता है वहां वह मनुष्य पर्याय भी मध्यम अवस्थामें भूख, प्यास, फोड़ा-फुंसी, कोढ़ एवं जलोदर आदि भयानक अनेक रोगोंसे व्याप्त होती है। इस प्रकार गन्नेकी समानता होनेपर जिस प्रकार किसान उस निःसार गन्नेकी गांठोंको सुरक्षित रखकर उनका बीजके रूपमें उपयोग करता हुवा उस निःसारको भी सारभूत किया करता है उसी प्रकार सत्पुरुषोंको इस मनुष्य पर्यायको भी परलोकका बीज बनाकर– परलोकमें स्वर्ग-मोक्षके अभ्युदयकी प्राप्त्यर्थ जो तप-संयमादि अन्य पर्यायमें दुर्लभ हैं उन्हें धारण कर– सारभूत (सफल) करना चाहिये (८१)। आगे बाल्यादि अवस्थाओंका स्वरूप दिखलाते हुए जन्मके दुखका जो दिग्दर्शन कराया गया है वह स्मरणीय है (९८–९९)।

इस प्रकार यद्यपि यह मनुष्यपर्याय दुर्लभ, अशुद्ध, दुःखोंसे परिपूर्ण, मरणज्ञानसे रहित एवं देवादिकी अपेक्षा अतिशय स्तोक आयुसे संयुक्त है; तथापि चूंकि वह तपश्चरणका अद्वितीय साधन है और तपके विना कदाचित् भी मुक्ति सम्भव नहीं है; अतएव उस दुर्लभ मनुष्य पर्यायको पाकर जन्म-मरणके दुःसह दुखसे सर्वथा छुटकारा पानेके लिये तपश्चरण करना चाहिये (१११)। इस प्रकारसे यहां तप आराधनामें प्रवृत्त होनेकी प्रेरणा की गई है।

ज्ञानाराधना

सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और तप रूप शेष तीन आराधनायें चूंकि सम्यग्ज्ञानकी प्रेरणा पा करके ही अभीष्ट प्रयोजनकी साधक होती हैं, अतएव दर्शन आराधनाके पश्चात् ज्ञानाराधनाके स्वरूपका दिग्दर्शन कराते हुए संयमी पुरुषकी दीपकसे तुलना की गई है—जिस प्रकार दीपकके पूर्वमें केवल प्रकाशकी प्रधानता होती है उसी प्रकार संयमी साधुके भी पूर्वमें स्व-परप्रकाशक ज्ञानकी प्रधानता होती है। तत्पश्चात् वह सूर्यके समान ताप और प्रकाश दोनोंसे संयुक्त होकर शोभायमान होता है– ज्ञानके साथ ही तप व चारित्रके अनुष्ठान (ताप)से भी संयुक्त हो जाता है। तथा जिस प्रकार दीपक प्रकाश और आतापसे संयुक्त होकर स्व एवं

अन्य पदार्थोंको प्रकाशित करता है तथा कज्जलको उगलता भी है उसी प्रकार संयमी साधु भी ज्ञान और चारित्रसे समुज्ज्वल होकर स्व एवं अन्य पदार्थोंको प्रकाशित करता है तथा कज्जलके समान कलुषताको उत्पन्न करनेवाले कर्मकी निर्जरा भी करता है। इस प्रकार वह आगमजनित सम्यग्ज्ञानके प्रभावसे अशुभ परिणतिको छोड़कर शुभका आश्रय लेता है और अन्तमें फिर अपने शुद्ध स्वरूपको भी पा लेता है। कारण यह है कि जिस प्रकार सूर्य जब तक प्रभात समयरूप सन्ध्याकालको नहीं प्राप्त कर लेता है तब तक वह रात्रिके अन्धकारको नहीं हटा सकता है; इसी प्रकार संयमी साधु भी जब तक अशुभको छोड़कर शुभका आश्रय नहीं ले लेता है तब तक वह कर्मरूप कालिमाको हटाकर शुद्ध स्वरूपको नहीं प्राप्त हो सकता है (१२०–२२)।

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आराधक जब शुभ परिणतिको स्वीकार करके तप व श्रुतमें अनुराग करता है तब उसके रागजनित कर्मका बन्ध न होकर मुक्ति कैसे सम्भव है? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार सूर्य रात्रिके अन्धकारसे निकलकर जब प्रभात समयमें सन्ध्यारागको–प्रभातकालीन लालिमाको–धारण करता है तब उसका यह राग अभिवृद्धि (उदय) का कारण होता है। किन्तु इसके विपरीत जब वही सूर्य दिनके प्रकाशको छोड़कर रात्रिके अन्धकारको आगे करता हुआ रागको–दिनान्तमें होनेवाली लालिमाको–धारण करता है तब उसका वह राग अधःपतनका–अस्तगमनका–कारण होता है। ठीक इसी प्रकारसे मिथ्याज्ञानसे रहित हुए विवेकी साधुके जो तप एवं श्रुतविषयक अनुराग होता है वह उसके अभ्युदय (स्वर्ग-मोक्ष) का कारण होता है तथा इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीवके जो तद्विषयक अनुराग होता है वह उसके अधःपतनका–नरकादि दुर्गतिका–कारण होता है (१२३–२४)।

जो यात्री किसी दूरवर्ती अभीष्ट स्थानको जाना चाहता है उसके साथ यदि योग्य मार्गदर्शक है, मित्र निरन्तर पासमें रहनेवाला है, नाश्ता भरपूर है, योग्य सवारी है, बीचमें ठहरनेके स्थान (पड़ाव) निरुपद्रव है, रक्षक साथमें है, मार्ग सरल व शीतल जलसे परिपूर्ण है, तथा सर्वत्र सघन

छाया भी विद्यमान है; तो वह यात्री सब प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे रहित होकर नियमसे उस स्थानको जा पहुंचेगा। ठीक इसी प्रकारसे जो भव्य जीव मुक्ति-पुरीको जाना चाहता है उसके पास यदि सम्यग्ज्ञानके समान मार्गदर्शक है, मित्रके समान पाप प्रवृत्तिसे बचानेवाली लज्जा निरन्तर पासमें स्थित है, नाश्ताका काम करनेवाला तप है, चारित्र सवारीके समान है, बीचमें ठहरनेका स्थान स्वर्ग है, उत्तम क्षमा आदि गुण रक्षकोंका काम करनेवाले हैं, रत्नत्रयस्वरूप मार्ग सरल (कुटिलतासे रहित) व कषायोपशम रूप जलसे परिपूर्ण है, तथा दयाभावना छायाका काम करती है; तो वह मुक्तिका पथिक भी नियमसे उस मुक्तिपुरीको प्राप्त कर लेनेवाला है। उसकी इस यात्रामें कोई भी विघ्न-बाधायें उपस्थित नहीं हो सकती हैं (१२५)।

स्त्रीनिन्दा

प्रस्तुत प्रकरणमें पूर्वोक्त मुक्तिपथिककी यात्रामें बाधक होनेकी सम्भावनासे कुछ श्लोकों (१२६–१३६) द्वारा स्त्रीजातिकी निन्दा करते हुए उन्हें दृष्टिविष सर्पसे भी भयानक विषैली, निरौषध विषवाली, परलोकविध्वंसक, क्रोध और प्रसन्नता इन दोनों ही अवस्थाओंमें प्राणसंहारक, ईर्ष्यालु, बाह्यमें ही रमणीय, मनुष्योंरूप मृगोंके वधका स्थान, तथा दूषित शरीरको धारण करनेवाली बतलाया है। उद्देश इसका यह रहा है कि जिस साधुने विषयोंसे विमुख होकर बाह्य व अभ्यन्तर परिग्रहको छोड़ते हुए मुनिधर्मको स्वीकार कर लिया है वह कदाचित् उन स्त्रियोंकी वेष-भूषादिको देखकर विचलित न हो जाय। इसीलिये उन्हें उक्त प्रकारसे घृणास्पद बतलाकर उनकी ओरसे साधुको सावधान मात्र किया गया है जो उचित ही है। यही कारण है जो इसी प्रकरणमें (१२८) एक ओर मुक्तिललना और दूसरी ओर अस्थिचर्ममय शरीरवाली लोकप्रसिद्ध ललनाको दिखलाकर उनमेंसे किसी एक (मुक्ति-ललना) को ही स्वीकार करनेकी प्रेरणा की गई है, क्योंकि, दोनोंका एक ही हृदयमें स्थान पाना सम्भव नहीं है।

कल्पना कीजिये कि कोई एक आर्यिकाओंका संघ है। अब उसमें जो प्रमुख आर्यिका है वह यदि अन्य आर्यिकाओंको स्वीकृत व्रतोंके

परिपालनमें दृढ़ करना चाहती है तो आखिर वह भी तो उन्हें यही उपदेश देगी कि पुरुषोंको तुम भयानक विषके समान समझो। वे तुम्हें अनेक प्रलोभनों द्वारा मार्गभ्रष्ट करके इस लोक और परलोकके सुखसे वंचित करनेका प्रयत्न करेंगे। उनका कभी विश्वास नहीं किया जा सकता है— वे जिसे विश्वास देकर स्वीकार करते हैं उसका परित्याग करते हुए भी देखे जाते हैं। पुराणोंमें दक्ष राजा आदि कितने ही ऐसे भी अधम पुरुषोंके उदाहरण देखे जाते हैं कि जिन्होंने कामुकताके वशीभूत होकर निज पुत्री आदिको भी पत्नीके रूपमें ग्रहण किया है[1]। अत एव उन्हें घृणास्पद समझकर उनकी ओरसे सदा सावधान रहना चाहिये। अन्यथा, तुम इस लोकके सुखसे तो स्वयं स्वेच्छापूर्वक वंचित हो ही चुकी हो, फिर वैसी अवस्थामें परलोकके सुखसे— स्वर्ग-मोक्षके अभ्युदयसे— भी वंचित रहोगी।

तात्पर्य यह कि स्त्रियोंकी निन्दा करते हुए भी अभिप्राय उनकी निन्दाका नहीं रहा है, किन्तु साधुओंको अपने स्वीकृत व्रतोंमें दृढ़ करनेका ही एक मात्र ग्रन्थकारका उद्देश रहा है। कारण यह कि स्वभावसे न तो सर्वथा स्त्री ही निन्दनीय है और न सर्वथा पुरुष भी। किन्तु जो स्त्री या पुरुष पापाचरणमें निरत हो वही वस्तुतः निन्दाका पात्र हो सकता है, न कि स्त्रीमात्र या पुरुषमात्र। स्त्रियोंमें ऐसी उत्तम स्त्रियां भी सम्भव हैं जो तीर्थंकर, चक्रवर्ती एवं अन्य चरमशरीरी महापुरुषोंको भी उत्पन्न करती हैं[2]। फिर भला वे स्त्री पर्यायके धारण करने मात्रसे कैसे निन्दनीय हो सकती हैं? सती सीता एवं अंजना आदि अनेक स्त्रियोंने उस स्त्रीजातिको समुज्ज्वल किया है।

इसी प्रकरणमें आगे श्री गुणभद्राचार्यने अपनी अनुपम प्रतिभाको प्रगट करते हुए यह बतलाया है कि स्त्रीके विषयमें जो अनुराग होता है

१. हरिवंशपुराण १७, ३–१५.

२. स्त्रीतः सर्वज्ञनाथः सुरनतचरणो जायतेऽबाधबोधस्तस्मात्तीर्थं श्रुताख्यं जनहितकथकं मोक्षमार्गावबोधः। तस्मात्तस्माद्विनाशो भवदुरिततते: सौख्यमस्माद्विबाधं बुद्ध्वैवं स्त्रीं पवित्रां शिवसुखकरणीं सज्जनः स्वीकारोति॥ सुभाषितरत्नसंदोह ९–११.

वह मनके आश्रयसे ही होता है। परन्तु आश्चर्य इस बातका है कि वह मन प्रियाको भोगनेके लिये अधीर तो बहुत होता है, पर स्वयं उसे भोग नहीं सकता है। वह तो केवल दूसरोंको– स्पर्शन आदि इन्द्रियोंको– भोगते हुए देखकर आनन्दका अनुभव करता है। उक्त मन निश्चयतः न केवल शब्दसे ही– व्याकरणकी दृष्टिसे ही– नपुंसक है, किन्तु अर्थसे भी– प्रियाको न भोग सकनेके कारण भी– नपुंसक है। फिर भला जो पुरुष शब्द और अर्थ दोनों ही प्रकारसे पुरुष है– व्याकरणसे पुल्लिंग तथा पुरुषार्थसे प्रियाके भोगनेमें समर्थ भी है– वह उस नपुंसक मनके द्वारा कैसे जीता जाता है, यह विचारणीय है (१३७)। अभिप्राय यह कि पुरुषको स्वयं मनका दास न बनकर उसे ही अपना दास बनाते हुए स्वाधीन करना चाहिये।

समीचीन गुरु कौन?

जो गुरु शिष्यके दोषोंको देखता हुआ भी अविवेकितासे उन्हें प्रकाशित नहीं करता है वह वास्तवमें गुरु नहीं है। कारण यह कि यदि उन दोषोंके विद्यमान रहते हुए शिष्यका मरण हो जाता है तो फिर वह गुरु उसका उद्धार कैसे कर सकता है? इससे तो वह दुर्जन ही अच्छा, जो भले ही दुष्टबुद्धिसे भी क्यों न हो, क्षुद्र भी दोषोंको निरन्तर बढ़ा चढ़ा कर कहता है[1] (१४२)। इस कारण समीचीन गुरु उसको ही समझना चाहिये जो कि शिष्यके दोषोंको प्रगट करके उसे उनसे रहित करना चाहता है। ऐसा करते हुए गुरुको उस शिष्यके असन्तुष्ट हो जानेकी भी शंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि, जिस प्रकार तीव्र भी सूर्यकी किरणें कमलकलिकाको प्रफुल्लित ही किया करती हैं उसी प्रकार गुरुके कठोर भी वचन सुयोग्य शिष्यके मनको प्रमुदित ही किया करते हैं (१४१)। जो बुद्धिमान् शिष्य आत्महितके इच्छुक होते हैं वे उक्त प्रकारसे दिखलाये गये दोषोंको छोड़कर उनके स्थानमें सद्गुणोंको ग्रहण किया करते हैं। लोकमें श्रेष्ठ विद्वान् वही माना जाता है जो कारणान्तरोंकी अपेक्षा न करके

---

१. गुणान् यथैवोपदिशन् प्रशंसया गुरुत्वबुद्ध्या सुजनो नमस्यते। तथैव दोषान् दिशतः प्रणिन्दया कृतः खलस्यापि मयायमञ्जलिः॥ य. च. १-९.

एक मात्र गुणके कारण वस्तुको ग्रहण करता है तथा केवल दोषके कारण ही उसका परित्याग करता है[1](१४५)। परन्तु यह तब ही सम्भव है जब कि उसे गुण-दोषोंका परिज्ञान हो चुका हो। इसलिये जो दोषों और गुणोंको जानकर तथा उनके कारणोंको खोजकर दोषोंके परित्यागपूर्वक गुणोंको ग्रहण कर लेता है वह रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्गका पथिक होकर सुख और यश दोनोंका भाजन होता है (१४७)।

साधुओंकी असाधुता

भोगभूमिकालमें न अपराध होते हैं और न इसीलिये उनके परिमार्जनके लिये कोई दण्डव्यवस्था भी नियत रहती है। किन्तु उस भोगभूमिकालके अन्तमें जब कल्पवृक्षोंसे उपलब्ध होनेवाली सामग्री उत्तरोत्तर क्षीण होने लगती है तब क्रमशः अपराधोंका भी प्रादुर्भाव होने लगता है। इसके लिये समयानुसार कुलकर क्रमसे हा, हा-मा और हा-मा-धिक् इन तीन दण्डोंको नियत करते हैं। तत्पश्चात् कर्मभूमिके प्रारम्भमें जब अपराध बढने लगते हैं तब राजाओंके द्वारा शारीरिक और आर्थिक दण्ड भी निर्धारित किये जाते हैं[2]। वर्तमान कलिकालमें— पंचम कालमें— एक दण्डनीति ही प्रधान है जो राजाओंके स्वाधीन है। सो वे उसका उपयोग केवल आर्थिक लाभकी दृष्टिसे किया करते हैं। चूंकि वनवासी दिगम्बर साधुओंसे उक्त अर्थलाभ की सम्भावना है नहीं, अतएव दोषोंको देखते हुए भी राजा लोग तो उनकी ओर ध्यान देते नहीं हैं। अब रही आचार्योंकी बात, सो वे नमस्कारके प्रेमी हैं। यदि वे संघके अन्य साधुओंके दोषोंको देखकर उनके

१. हेत्वन्तरकृतोपेक्षे गुण-दोषप्रवर्तिते।
स्यातामादान-हाने चेत्तद्धि सौजन्यलक्षणम्॥ क्ष. चू. ५-१९.

२. तत्राद्यैः पञ्चभिर्नृणां कुलकृद्भिः कृतागसाम्।
हा-कारलक्षणो दण्डः समवस्थापितस्तदा॥
हा-माकारश्च दण्डोऽन्यैः पञ्चभिः संप्रवर्तितः।
पञ्चभिस्तु ततः शेषैर्हा-मा-धिक्कारलक्षणः॥
शरीरदण्डनं चैव वध बन्धादिलक्षणम्।
नृणां प्रबलदोषाणां भरतेन नियोजितम्॥ आ. पु. ३, २१४–१६.

निराकरणार्थ उन्हें दण्डित करते हैं तो नमस्कार करना तो दूर रहा, वे तो उस अवस्थामें उनके संघको छोड़कर स्वतन्त्रतासे पृथक् रहना ही पसंद करते हैं। इसका प्रत्यक्ष अनुभव वर्तमान साधुओंकी प्रवृत्तियोंसे सबको हो ही रहा है। आचार्योंकी इस कमजोरीका लाभ उठाकर साधुओंकी स्वेच्छाचारिता बढ़ जाती है। यह स्थिति ग्रन्थकार श्री गुणभद्राचार्यके सामने निर्मित हो चुकी थी। इसीलिये उन्हें यहां यह कहना पड़ा कि—

तपःस्थेषु श्रीमन्मणय इव जाताः प्रविरलाः (१४९)।

अर्थात् जैसे मणियोंके मध्यमें कान्तिमान् मणि विरले ही पाये जाते हैं वैसे ही आजके साधुओंमें समीचीन संयमका परिपालन करनेवाले साधु विरले ही रह गये हैं।

आगे तो वे यहां तक कहते हैं कि अपनेको मुनि माननेवाले ये साधु स्त्रियोंके कटाक्षोंके वशीभूत होकर ऐसे व्याकुल हो रहे हैं जैसे कि व्याधके बाणसे विद्ध होकर हिरण व्याकुल होते हैं। इसलिये उन्होंने समीचीन साधुओंको सावधान करते हुए उनके संसर्गसे बचनेका उपदेश दिया है (१५०)।

तपका अन्तिम फल निर्बाध मोक्षसुखकी प्राप्ति है। अतः उसकी प्राप्तिकी इच्छासे यदि छह खण्डोंका अधिपति चक्रवर्ती अपनी समस्त विभूतिको छोड़कर उस तपको स्वीकार करता है तो यह कुछ आश्चर्यजनक बात नहीं है। आश्चर्य तो उसके ऊपर होता है कि जो बुद्धिमान् इन्द्रियविषयोंको विषके समान घातक जानकर प्रथम तो उनका परित्याग करता हुआ तपको स्वीकार करता है और फिर तत्पश्चात् वह उच्छिष्टके समान छोड़े हुए उन्हीं विषयोंको पुनः भोगनेकी इच्छासे उस गृहीत तपको भी छोड़ देता है। ऐसा करते हुए वह अधम यह नहीं सोचता कि जो तप समस्त ही दुराचरणको शुद्ध करनेवाला है उसे ही मैं मलिन क्यों करूं। देखो, पलंग आदि किसी ऊंचे स्थानपर स्थित अल्पवयस्क अज्ञानी बालक तो उसके ऊपरसे गिर जानेकी शंकासे भयभीत होता है, किन्तु तीनों लोकोंके शिखरस्वरूप उस तपके ऊपर स्थित वह विचारशील साधु अपने अधःपतनसे भयभीत नहीं होता है; यह खेदकी बात है (१६४-६६)।

ऐसे वेषधारी साधु विषयपोषणके लिये कुछ भी बहाना बनाकर गृहस्थोंसे दीनतापूर्वक धनकी याचना भी करते हैं। श्री गुणभद्राचार्य कहते हैं कि जो व्यक्ति यह कहता है कि संसारमें परमाणुसे हीन तथा आकाशसे महान् कोई भी वस्तु नहीं है, उसने इन दीन और स्वाभिमानी मनुष्योंको नहीं देखा है– दीन याचक तो परमाणुसे भी तुच्छ तथा इस याचनासे रहित स्वाभिमानी मनुष्य उस अनन्त आकाशसे भी महान् है (१५१-५२)। किसीने यह ठीक ही कहा है—

देहीति वचनं श्रुत्वा देहस्थाः पञ्च देवताः।
मुखान्निर्गत्य गच्छन्ति श्री-ह्री-धी-धृति-कीर्तयः॥

अर्थात् 'देहि– मुझे कुछ दो' इस वाक्यको सुनकर श्री (कान्ति), लज्जा, बुद्धि, धीरता और कीर्ति ये पांचों शरीरस्थ देवता (गुण) उक्त 'देहि' पदके साथ ही मुखसे निकलकर भाग जाते हैं। तात्पर्य यह कि याचक मनुष्यके मुखकी कान्ति नष्ट हो जाती है– उसका चेहरा फीका पड़ जाता है, लज्जा जाती रहती है– वह निर्लज्ज बन जाता है, साथ ही वह अपनी विवेकबुद्धि, धैर्य और यशको भी खो देता है।

यहां आचार्यने तराजूका उदाहरण देकर इस बातको पुष्ट किया है कि तराजूके जिस पलड़ेपर कोई वस्तु रखी जाती है वह स्वभावतः नीचे तथा जिस दूसरे पलड़ेपर कुछ नहीं रखा जाता है वह स्वभावतः ऊंचेकी ओर जाता है। इसी प्रकार जो याचक दातासे कुछ ग्रहण करता है उसकी अधोगति तथा जो दाता कुछ ग्रहण न करके देता ही है उसकी ऊर्ध्वगति होती है (१५४)।

आगे वे समीचीन साधुको लक्ष्य करके कहते हैं कि जो महात्मा शरीरको स्थिर रखनेकी इच्छासे तपकी वृद्धिपूर्वक श्रावकके द्वारा नवधा भक्तिसे दिये गये आहारको यदा कदा ही परिमित मात्रामें ग्रहण किया करता है, साथ ही जो इसके लिये अतिशय लज्जाका भी अनुभव करता है; वह क्या कभी उक्त भोजनको छोड़कर अन्य धनादिको भी ग्रहण कर सकता है? कभी नहीं— जो इस प्रकारकी अन्य वस्तुओंको ग्रहण करते हैं वे

दुरात्मा साधु कहे जानेके योग्य नहीं हैं। ऐसे असाधु 'अमुक दाताने उत्तम भोजन दिया तथा अमुक दाताने निकृष्ट भोजन दिया' इत्यादि प्रकारसे दाताकी प्रशंसा और निन्दा भी किया करते हैं तथा कभी कभी वे अपने योग्य व्यवस्थाके न बननेसे उस दाताके ऊपर रुष्ट भी हो जाते हैं। उनकी इस दुष्प्रवृत्तिको आचार्यने कलिकालका प्रभाव बतलाया है (१५८-५९)।

मनका नियन्त्रण

संयमरूप राज्यके संरक्षणार्थ जिस प्रकार बाह्य शत्रुओंको जीतना आवश्यक है उसी प्रकार अन्तरंग शत्रुओंको भी जीतना अत्यावश्यक है। जिस प्रकार बुद्धिमान् राजा अपने राज्यके विरुद्ध आचरण करनेवाले बाह्य शत्रुस्वरूप अन्य राजाओं आदिको वशमें रखता है उसी प्रकार वह उसके अन्तरंग शत्रुस्वरूप काम-क्रोधादिको भी अवश्य वशमें रखता है, क्योंकि, इसके विना उसका राज्य कभी स्थिर नहीं रह सकता है। इसी प्रकार विवेकी साधु भी अपने संयमको सुरक्षित रखनेके लिये जैसे बाह्य शत्रु-स्वरूप आरम्भ-परिग्रहादिको नष्ट करता है वैसे ही वह अन्तरंग शत्रु-स्वरूप राग-द्वेषादिको भी अवश्य नष्ट करता है। कारण यह कि इसके विना उसका संयम कभी सुरक्षित नहीं रह सकता है (१६९)। परन्तु यह तब ही सम्भव है जब कि वह अपने मनको आत्मनियन्त्रणमें कर लेता है।

यह मन बन्दरके समान चपल है। अतएव उसे आत्मनियन्त्रणमें रखनेके लिये श्रुतरूप वृक्षके ऊपर रमाना चाहिये। कारण कि जिस प्रकार बन्दर अनेक शाखाओंसे संयुक्त व फल-फूलोंसे परिपूर्ण किसी वृक्षको पाकर वहींपर क्रीड़ामें रत हो जाता है और उपद्रव करना छोड़ देता है इसी प्रकार इस मनको भी यदि अनेक नयोंके आश्रयसे अनेकान्तात्मक वस्तुस्वरूपका विवेचन करनेवाले आगमके चिन्तनमें लगाया जाता है तो वह भी उसमें निरत होकर दुर्ध्यानको छोड़ देता है (१७०)।

यहां प्रसंग पाकर श्री गुणभद्राचार्यने उस आगमोक्त वस्तुतत्त्वका भी कुछ विवेचन किया है। वे सांख्य, बौद्ध, विज्ञानाद्वैतवादी और शून्यैकान्त-वादियोंके द्वारा परिकल्पित वस्तुस्वरूपको ध्यानमें रखकर कहते हैं कि

संसारमें कोई भी वस्तु न कूटस्थ नित्य है, न प्रतिक्षण नष्ट होनेवाली है, न एक मात्र ज्ञानस्वरूप ही है, और न सर्वथा अभावस्वरूप भी है; क्योंकि, वैसा प्रतिभास नहीं होता है। किन्तु वह जैसे द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है– अपने त्रिकालवर्ती ध्रौव्य स्वभावको नहीं छोड़ती है, वैसे ही वह पर्यायकी प्रधानतासे अनित्य भी है– प्रतिक्षण नवीन नवीन अवस्थामें परिणत भी होती रहती है। इस प्रकारसे वह कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य भी है। जीवका अन्तिम ध्येय अविनश्वर मुक्तिसुखकी प्राप्ति है। इसके लिये उसका लक्ष्य सदा अन्य बाह्य पदार्थोंकी ओरसे विमुख होकर एक मात्र ज्ञायकस्वभाव आत्माकी ओर ही रहता है। इस अध्यात्म तत्त्वकी प्रधानतासे वस्तुतत्त्व ज्ञानमात्र ही है– उसको छोड़कर तब अन्य कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता है। अतएव जगत्को ज्ञानमात्र कहा जाता है। किन्तु व्यवहारी जन ज्ञानके अतिरिक्त अन्य घट-पटादि पदार्थोंको प्रत्यक्ष देखते हैं और अपनी अपनी रुचिके अनुसार उनका निरन्तर उपयोग भी करते हैं। इस दृष्टिसे यदि ज्ञानके अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थको स्वीकार न किया जाय तो इस दृश्यमान समस्त व्यवहारका ही लोप हो जावेगा। इसलिये यह मानना चाहिये कि वस्तु जहां अध्यात्मकी प्रधानतासे कथंचित् ज्ञानमात्र है वहींपर वह व्यवहारकी प्रधानतासे कथंचित् चेतन-अचेतन आदि विभिन्न वस्तुओंरूप भी है। उपर्युक्त अध्यात्म तत्त्वके पराकाष्ठाको प्राप्त होनेपर जब निर्विकल्पक दशा प्रगट होती है तब योगीकी दृष्टिमें चेतन-अचेतन कोई भी पदार्थ नहीं रहता है। यहां तक कि उस अवस्थामें तो ज्ञान-दर्शन आदिका भी विकल्प नहीं रहता है। इस दृष्टिकी मुख्यतासे ही विश्वको अभावस्वरूप कहा जाता है। वस्तुतः वह व्यवहारकी मुख्यतासे घट-पटादि अनेक भावोंस्वरूप ही है। इस प्रकार वस्तु कथंचित् भावस्वरूप और कथंचित् अभावस्वरूप (शून्य) भी है। इससे सिद्ध है कि विवक्षाभेदके अनुसार वस्तु अनेक धर्मात्मक है, क्योंकि, वैसी ही निर्बाध प्रतीति देखी जाती है (१७१–७२)।

इस प्रकारसे आगमके परिशीलनमें निमग्न हुआ भव्य जीव ऐसा विशुद्ध हो जाता है जैसा कि अग्निमें पड़ा हुआ मणि उसके तापसे विशुद्ध

हो जाता है। इसके विपरीत उक्त आगमरूप अग्निमें निमग्न होकर प्रदीप्त हुआ अभव्य जीव अंगारके समान या तो काला कोयला बनता है या फिर भस्म बनता है– जैसे अंगार बुझकर कोयला अथवा राख बन जाता है उसी प्रकार अभव्य जीव भी श्रुतका अभ्यास करके या तो मिथ्याज्ञानके प्रभावसे कदाग्रही होकर एकान्तवादका पोषक होता है या फिर तत्त्वज्ञानसे शून्य ही रहता है (१७६)। इस श्रुतभावनाका फल प्रशस्त व अविनश्वर ज्ञानकी– अनन्तज्ञानकी– प्राप्ति ही है। परन्तु अज्ञानी मिथ्यादृष्टि उस श्रुतभावनाका फल लाभ-पूजादिरूप खोजा करता है, यह उसके मोहका ही माहात्म्य है (१७५)।

जिस प्रकार बीजसे मूल और अंकुर उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार इस मोहरूप बीजसे कर्मबन्धके कारणभूत राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। यह मोहबीज उस ज्ञानरूप अग्निके द्वारा ही भस्मसात् किया जाता है– ज्ञानको छोड़कर उसके नष्ट करनेका अन्य कोई उपाय सम्भव नहीं है (१८२)। जैसे मथानीमें लिपटी हुई रस्सीको जब तक एक ओरसे ढीली करके दूसरी ओरसे खींचते रहते हैं तब तक वह मथानी दहीकी मटकीमें घूमती ही रहती है। इसके विपरीत यदि उसे दोनों ही ओरसे ढीला कर दिया जाता है तो फिर उस रस्सीकी बंधने और उकलनेरूप क्रियाके समाप्त हो जानेसे उस मथानीका घूमना भी सर्वथा बंद हो जाता है। ठीक इसी प्रकारसे जीवकी जब तक एक वस्तुसे रागबुद्धि और दूसरीसे द्वेषबुद्धि रहती है तब तक कर्मका बन्ध और निर्जरा (सविपाक) इन दोनोंके निरन्तर चालू रहनेसे उसका संसारमें परिभ्रमण होता ही रहता है। किन्तु जैसे ही उसके उक्त राग और द्वेष दोनों उपशान्त हो जाते हैं वैसे ही बन्ध और उस निर्जराके समाप्त हो जानेसे उसका संसारपरिभ्रमण भी नष्ट हो जाता है (१७८-७९)।

वास्तविक शत्रु कौन है ?

जन्म और मरणका नाम संसार है। सो ये दोनों शरीरसे सम्बद्ध हैं। प्रथमतः शरीर उत्पन्न होता है, उससे संबद्ध इन्द्रियां होती हैं, वे इष्ट विषयोंको चाहती हैं; और वे विषय परिश्रम, अपमान, भय एवं पापको

उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार समस्त अनर्थपरम्पराका मूल कारण यह शरीर ही टहरता है। अतएव इस शरीरको ही यथार्थ शत्रु समझकर जब तक वह नष्ट नहीं होता है तब तक उसका शत्रुके समान ही अनशनादिके द्वारा शोषण करना चाहिये--जब किसीका शत्रु उसके हाथ लग जाता है तो वह उसको भूख-प्यास आदिकी बाधा पहुंचाकर निर्बल करता है, इसी प्रकार शत्रुस्वरूप जब यह दुर्लभ मनुष्य शरीर हाथ लग गया है तब बुद्धिमान् मनुष्योंको अनशनादि तपोंका आचरण करके उसके द्वारा आत्म-प्रयोजनको सिद्ध कर लेना चाहिये (१९४-९५)। कारण यह है कि चारों गतियोंमें एक मनुष्यगति ही ऐसी है कि जहां तपश्चरण आदिके द्वारा कर्मको निर्मूल करके मोक्षसुखको प्राप्त किया जा सकता है। यही कारण है जो इस शरीरके स्वभावतः अपवित्र होनेपर भी उसे रत्नत्रयकी प्राप्तिका कारण होनेसे अनुरागका विषय निर्दिष्ट किया गया है[1]। अन्यथा वह प्रीतियोग्य सर्वथा नहीं है। शरीरका स्वभाव आत्मासे सर्वथा भिन्न है--आत्मा जहां ज्ञान-दर्शनका पिण्ड होकर चेतन है वहां वह शरीर उक्त ज्ञान-दर्शनसे रहित होकर जड़ है, आत्मा यदि रूप-रसादिसे रहित होकर अमूर्तिक है तो वह पुद्गलमय शरीर उक्त रूपादिसे सम्बद्ध होता हुआ मूर्तिक है, आत्मा जब स्वभावतः कर्ममलसे निर्लिप्त होता हुआ कमलपत्रके समान निरन्तर शुद्ध है तब वह शरीर मल-मूत्र एवं रुधिरादिका स्थान होकर सदा ही अपवित्र रहता है, तथा आत्मा जहां अस्त्र-शस्त्रादिसे कभी छेदा भेदा नहीं जा सकता है वहां वह शरीर उक्त अस्त्रादिसे छेदा भेदा भी जाता है (२०२)। इस प्रकार जब वह शरीर आत्मासे सर्वथा भिन्न स्वभाववाला है तब उसकी एकता आत्माके साथ कैसे हो सकती है? और जब शरीरमें स्थित रहनेपर भी उक्त आत्माकी उस शरीरके साथ ही एकता सम्भव नहीं है तब फिर प्रत्यक्षमें ही उससे भिन्न दिखनेवाले पुत्र-कलत्रादि-

१. स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता॥ र. श्रा. १३.

के साथ तो उसकी एकता हो ही कैसे सकती है[1] ? इस स्थितिके होनेपर भी मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा उस आत्मज्ञानसे विमुख होकर अपने शरीरको ही आत्मा मानता है— वह मूर्ख यदि आत्मा मनुष्यके शरीरमें स्थित है तो उसे मनुष्य, यदि तिर्यंचके शरीरमें स्थित है तो तिर्यंच, यदि देवके शरीरमें स्थित है तो देव, तथा यदि वह नारकीके शरीरमें स्थित है तो वह उसे नारकी मानता है। परन्तु यथार्थमें वैसा नहीं है— तत्त्वतः वह उपर्युक्त चारों गतियोंसे रहित होकर अनन्तानन्त ज्ञानशक्तिका धारक, स्वसंवेद्य व स्थिर स्वभाववाला है[2]। इस प्रकार शरीरको ही आत्मा समझनेवाला वह बहिरात्मा पुनः पुनः उस शरीरसे संगत होता है। किन्तु इसके विपरीत जो विवेकी अन्तरात्मा शरीरसे भिन्न आत्माको ही आत्मा मानता है वह विदेह हो जाता है— शरीरको छोड़कर परमात्मा हो जाता है[3]।

इस प्रकार जिस विवेकी साधुको यह दृढ श्रद्धान हो जाता है कि आत्मा और शरीर ये दोनों स्वरूपसे भिन्न हैं वह उस शरीरके रोगादिसे संयुक्त होनेपर भी कभी व्याकुल नहीं होता। हां, यह अवश्य है कि वह यथासम्भव उस रोगादिका प्रतीकार तो करता है, परन्तु जब वह अशक्य-प्रतीकार हो जाता है तो वह उद्विग्न न होकर संयमके संरक्षणार्थ सल्लेखनापूर्वक उस शरीरको ही छोड़ देता है[4] (२०७)। सो है भी यह ठीक— जब घरमें आग लग जाती है तब उसमें रहनेवाला बुद्धिमान् मनुष्य प्रथम तो यथाशक्ति उस अग्निके बुझानेका ही प्रयत्न करता है, किन्तु जब उसका बुझना असम्भव हो जाता है तब फिर वह आत्मरक्षार्थ उस घरको ही छोड़ देता है[5] (२०५)।

१. यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्धं तस्यास्ति किं पुत्र-कलत्रमित्रैः। पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥ द्वात्रिंशतिका २७.

२. समाधि. ७-९. ३. समाधि ७४

४. उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥ र श्रा. १२२.

५. मरणस्य अनिष्टत्वात् ॥ ८ ॥ यथा वणिजः विविधपण्यादानादानसंचयपरस्य गृहविनाशोऽनिष्टः। तद्विनाशकारणे चोपस्थिते यथाशक्ति परिहरति,

संसारी जीव तीन भागोंस्वरूप हैं। उनमें प्रथम भाग रस-रुधिरादिरूप शरीर, द्वितीय भाग ज्ञानावरणादि कर्म तथा तृतीय भाग ज्ञान-दर्शनादिरूप है। जब तक आत्मा इन तीन भागोंस्वरूप रहता है तब तक उसके कर्मबन्ध होता रहता है। जो बुद्धिमान् इन तीन भागोंरूप आत्माको प्रथम दो भागोंसे—शरीर एवं ज्ञानावरणादि कर्मोंसे—पृथक् करना जानता है वही वास्तवमें तत्त्वज्ञ कहा जाता है (२१०-११)।

कषायविजय

उपर्युक्त दो भागोंसे उस आत्माको पृथक् करनेके लिये तपश्चरणकी आवश्यकता होती है। जिस प्रकार सुवर्णपाषाण तीव्र अग्निके संयोगसे पाषाणस्वरूपको छोड़कर कान्तिमान् शुद्ध सुवर्णकी अवस्थाको प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार तपश्चरण व ध्यानके आश्रयसे भव्य जीव भी शीघ्र ही उस सप्तधातुमय शरीरको छोड़कर परमात्माकी अवस्थाको पा लेता है[1]। घोरतपश्चरणजन्य क्लेशको न सह सकनेकी अवस्थामें यहां यह उपदेश दिया गया है कि जो जीव बहुत समय तक घोर तपश्चरणको नहीं कर सकता है उसे अपने मनको वशमें करके कषायोंरूप शत्रुओंके ऊपर तो विजय प्राप्त करना ही चाहिये। कारण यह कि जिस प्रकार स्वच्छ जलसे परिपूर्ण भी किसी तालाबमें यदि मगर-मत्स्यादि हिंस्र जलजन्तु विद्यमान हैं तो जनसमुदाय निःशंक होकर उसमें स्नान आदि नहीं कर सकता है, इसी प्रकार प्राणीके हृदयमें जब तक क्रोधादि कषायें स्थित हैं तब तक वहां क्षमा-मार्दवादि उत्तम गुण नहीं रह सकते हैं। इसलिये उसे उन क्रोधादि कषायोंके जीतनेका प्रयत्न अवश्य करना चाहिये (२१२-१३)।

दुष्परिहरे च पण्यविनाशो यथा भवति तथा यतते। एवं गृहस्थोऽपि व्रत-शील-संचयप्रवर्तमानस्तदाश्रयस्य शरीरस्य न पातमभिवाञ्छति, तदुपद्रवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेन परिहरति, दुष्परिहरे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतत इति कथमात्मवधो भवेत्? त. वा. ७, २२.

१. ध्यानाज्जिनेश भवतो भविनः क्षणेन देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति।
तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः॥
कल्याणमन्दिर १५.

जो जन स्वर्ग-मोक्षादिरूप पारलौकिकी सिद्धिकी अभिलाषा करते हैं तथा उसके साधनभूत शान्त मनकी स्वयं प्रशंसा भी करते हैं, किन्तु अन्तरंगसे स्वयं उन क्रोधादि कषायोंको दूर नहीं करते हैं, उनके इन दोनों कार्योंमें बिल्ली और चूहेके समान परस्पर जातिविरोध दिखलाकर यहां निन्दा की गई है तथा इसे कलिकालका प्रभाव भी प्रगट किया गया है (२१४)। उन क्रोधादि कषायोंके वशीभूत होकर प्राणी किस प्रकारसे अपना अहित करते हैं, एतदर्थ यहां क्रोधके लिये महादेव, मानके लिये बाहुबली; मायाके लिये मरीचि, युधिष्ठिर एवं कृष्ण; तथा लोभके लिये चमर मृगका उदाहरण दिया गया है (२१६-२३)। इस प्रकार कषायनिग्रहके लिये प्रेरणा करते हुए साधुको लक्ष्य करके यहां तक कहा गया है कि जब प्राणी रमणीय स्त्री आदि चेतन-अचेतन पदार्थोंसे मोहको छोड़कर मुनिधर्मको अंगीकार करता है तब फिर उसे संयमके साधनभूत पीछी कमण्डलु आदिके विषयमें क्यों मुग्ध होना चाहिये। यह मोह तो उसका ऐसा हुआ जैसे कि कोई रोगके भयसे भोजनका तो परित्याग करता है, किन्तु साथ ही रोगके परिहारार्थ औषधिको अधिक मात्रामें लेकर अज्ञानतासे उस रोगको और भी अधिक वृद्धिगत करता है (२२८)।

आत्मा और उसकी कर्मबद्ध अवस्था

चार्वाक आत्माके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करते तथा सांख्य आत्माके अस्तित्वको तो स्वीकार करते हैं, किन्तु उसे सर्वथा और सर्वदा ही शुद्ध (कर्ममलसे रहित) मानते हैं। इन दोनों मतोंपर दृष्टि रखकर ग्रन्थकर्ता श्री गुणभद्राचार्यने 'अस्त्यात्मास्तमितादिबन्धनगतः' इत्यादि श्लोक (२४१) के द्वारा उस आत्माके अस्तित्वका निर्देश करते हुए उसे अनादि बन्धनबद्ध बतलाया है। प्रत्येक प्राणीके जो 'अहम् अहम्' अर्थात् मैं चलता हूं, मैं भोजन करता हूं, मैं सुखी हूं, मैं दुखी हूं, मैं बालक हूं, मैं युवा हूं, मैं वृद्ध हूं, तथा मैं रोगग्रस्त हूं; इत्यादि प्रकारका जो स्वसंवेदन होता है उससे आत्माका अस्तित्व सिद्ध होता है[1]। कारण यह कि उक्त

१. स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।
अत्यन्तसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः॥ इष्टोपदेश २१.

प्रत्ययमें 'अहम्' पदके द्वारा जिसका बोध होता है वह शरीर तो कुछ हो नहीं सकता है, क्योंकि, जब शरीरमेंसे वह अदृश्य शक्ति (चेतना) निकल जाती है तब वह निष्क्रिय हो जाता है। उस समय फिर किसी भी प्रकारका बोध नहीं होता। तथा बालक और युवावस्थाके अनुसार जो उसमें हीनाधिकता होती थी उसका होना तो दूर ही रहा, वह स्वयं सड़-गल कर विकृत हो जाता है। इससे सिद्ध है कि उक्त शरीरके भीतर जो पूर्वोक्त प्रवृत्तियोंकी कारणभूत विशिष्ट शक्ति विद्यमान रहती है उसीका इस 'अहम्' पदके द्वारा बोध होता है और उसे ही आत्मा या जीव आदि शब्दोंसे कहा जाता है।

वह आत्मा अनादि कालसे कर्मसे सम्बद्ध रहता है। जिस प्रकार बीजसे अंकुर और उससे फिर बीज, इस प्रकार बीज और अंकुरकी परम्परा अनादि कालसे चली आ रही है उसी प्रकार राग-द्वेषादि परिणामोंसे कर्म-बन्ध और उस कर्मबन्धसे पुनः राग-द्वेषादि, इस प्रकार यह बन्धकी परम्परा भी अनादि कालसे चली आ रही है। इस तरह वह आत्मा स्वभावतः शुद्ध होकर भी संसार अवस्थामें पर्यायकी अपेक्षा मलिन हो रहा है। जिस प्रकार कोई कपड़ा स्वभावतः (शक्तिकी अपेक्षा) स्वच्छ होकर भी यदि वर्तमानमें मलिन हो रहा है तो उसे सोड़ा-साबुन आदिके द्वारा स्वच्छ किया जाता है; इसी प्रकार आत्मा शक्तिकी अपेक्षा शुद्ध होकर भी चूंकि वर्तमानमें शरीरादिसे संयुक्त होकर मलिन हो रहा है, इसीलिये उसे तप-श्चरण आदिके द्वारा उक्त कर्ममलसे रहित करके शुद्ध किया जाता है। इसीका नाम मुक्ति है। यदि कोई मलिन भी कपड़ेको सर्वथा (शक्तिके समान व्यक्तिसे भी) स्वच्छ ही समझता है तो फिर उसे स्वच्छ करनेका वह प्रयत्न भी क्यों करेगा? नहीं करेगा। इसी प्रकार आत्माको सर्वथा ही शुद्ध माननेपर उसकी मुक्तिके लिये किया जानेवाला प्रयत्न–तप-संयमादि–व्यर्थ ठहरता है। अतएव जहां वह द्रव्यकी अपेक्षा शुद्ध है वहां वर्तमान अवस्थाकी अपेक्षा वह अशुद्ध भी है, ऐसा निश्चय करना चाहिये। मिथ्यात्व, अवि-रति, प्रमाद, कषाय और योग; ये उसके बन्धके कारण तथा इनके विपरीत

सम्यक्त्व; विरति, अप्रमाद (दक्षता), अकषाय (कालुष्याभाव) और अयोग; ये उसकी मुक्तिके कारण हैं।

यह बन्ध और निर्जराकी प्रक्रिया भी अपने अपने परिणामोंके अनुसार हीनाधिक स्वरूपसे चला करती है। जैसे– मिथ्यात्वके रहनेपर चूंकि अविरति आदि शेष चार कारण भी अवश्य रहते हैं, अतएव मिथ्यादृष्टि जीवके अधिक बन्ध होता है। उस मिथ्यात्वके अभावमें सम्यग्दृष्टि जीवके अविरति आदिके द्वारा उक्त मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा कुछ हीन कर्मबन्ध होता है। संयत जीवके मिथ्यात्व और अविरतिके अभावमें प्रमादादिनिमित्तक और भी कम बन्ध होता है। इसकी अपेक्षा अप्रमत्त अवस्थामें कषाय व योगनिमित्तक उससे भी कम बन्ध होता है। आगे अकषाय (उपशान्तमोह, क्षीणमोह व सयोगकेवली) अवस्थामें केवल एक योगनिमित्तक अतिशय अल्प मात्रामें प्रकृति और प्रदेशरूप ही बन्ध होता है। इसी प्रकार निर्जराके भी हीनाधिक क्रमको समझना चाहिये (२४५)। इतना स्मरण रखना चाहिये कि वह निर्जरा सविपाक और अविपाकके भेदसे दो प्रकार होती है। उनमें सविपाक निर्जरा (फल देकर कर्मपुद्गलोंका पृथक् होना) तो सर्वसाधारणके हुआ करती है जो निरुपयोगी है। किन्तु जिसके पुण्य और पापरूप दोनों ही प्रकारके कर्मपुद्गल निष्फल होकर– अविपाक निर्जरा द्वारा– स्वयं निर्जीर्ण होते हैं उसे यहां योगी कहा गया है। वह सब प्रकारके आस्रवसे रहित होकर निर्वाण प्राप्त करता है (२४६)।

यथार्थ तपस्वी

उक्त आस्रवनिरोध (संवर) के कारण गुप्ति, समिति एवं धर्म आदि हैं। किन्तु इच्छानिरोधस्वरूप तप संवर और निर्जरा दोनोंका ही कारण है[1]। जिस प्रकार जलसे परिपूर्ण तालाबका बांध यदि कहींपर थोडा-सा भी टूट जाता है तो बुद्धिमान् अधिकारी मनुष्य उसे उसी समय दुरुस्त करा देता है। कारण यह कि वह जानता है कि यदि उसे शीघ्र ही दुरुस्त नहीं

१. स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परिषहजय-चारित्रैः। तपसा निर्जरा च। त. सू. ९, २-३.

कराया जायगा तो थोड़े ही समयमें वह पूरा ही बांध कटकर नष्ट हो जावेगा और इस प्रकारसे संचित सब जल यों ही निकल जावेगा। ठीक इसी प्रकार गुणरूप जलसे परिपूर्ण इस तपरूप तालाबके प्रतिज्ञारूप बांधमें यदि कहीं थोड़ी-सी भी क्षति (दोष) होती है तो विवेकी साधु उसकी उपेक्षा नहीं करता है– वह योग्य प्रायश्चित्त आदिके द्वारा उसे शीघ्र ही ठीक कर लेता है। इसके विपरीत अविवेकी साधु दुर्धर तपके द्वारा जिन दोषोंको नष्ट करना चाहते हैं उन्हें ही वे परनिन्दा आदिके द्वारा और भी पुष्ट किया करते हैं। उस समय वे यह विचार नहीं करते कि अनेक उत्तमोत्तम गुणोंसे विभूषित किसी महात्मामें यदि दैववश कोई एक आध क्षुद्र दोष दिखता है तो उसे तो उसकी गुणाधिकताके कारण कोई भी देख सकता है। पर इससे क्या उसकी निन्दा करके कोई उसके उस उच्च स्थानको पा सकता है? कभी नहीं। उदाहरणस्वरूप चन्द्रमाके भीतर स्थित लांछन उसकी ही चांदनीके द्वारा देखा जाता है। परन्तु उसे देखकर यदि कोई कलंकी कहकर उस चन्द्रकी निन्दा करे तो इससे क्या वह उस चन्द्रके स्थानको पा लेगा? कभी नहीं (२५०)।

जिस प्रकार सज्जन पुरुषोंको गुणग्रहणके विना शान्ति नहीं प्राप्त होती उसी प्रकार दुर्जनोंको भी दोषनिरूपणके विना शान्ति नहीं प्राप्त होती। इसका कारण उनका उस जातिका चिरकालीन अभ्यास ही है[1]। इसीलिये सच्चे साधु परके दोषोंको न देखकर सदा अपने ही दोषोंको देखा करते हैं। आत्माका उद्धार भी वस्तुतः इसीमें है। यही कारण है जो आत्मदोषद्रष्टाको शरीरसे संयुक्त होनेपर भी सिद्ध समान बतलाया गया है[2]।

कर्मोदयवश यदि कदाचित् किसी प्रकारका कष्ट भी प्राप्त होता है तो भी सच्चा साधु उससे खेदका अनुभव नहीं करता। बल्कि, वह यह विचार करता है कि भविष्यमें उदय आनेके योग्य जिन कर्मनिषेकोंको मैं

१. गुणानगृह्णन् सुजनो न निर्वृतिं प्रयाति दोषानवदन् न दुर्जनः।
चिरन्तनाभ्यासनिबन्धनेरिता गुणेषु दोषेषु च जायते मतिः ॥च.च.१-७.

२. अन्यदीयमिवात्मीयमपि दोषं प्रपश्यता।
कः समः खलु मुक्तोऽयं युक्तः कायेन चेदपि ॥ क्ष. चू. १-८३.

तपके द्वारा अपकर्षण कर वर्तमानमें उदयमें लाना चाहता था वे निषेक यदि स्वयं ही उदयमें आ रहे हैं तो इससे मुझे खेद क्यों होना चाहिये? जैसे कोई विजिगीषु जिस शत्रुके देशमें जाकर आक्रमण करना चाहता था वह शत्रु यदि स्वयं उसके ही देशमें आ जाता है तो फिर भला वह विजिगीषु उसके साथ युद्ध करनेमें क्यों भयभीत होगा? नहीं होगा– वह तो इस अनुकूलताको पाकर अतिशय प्रसन्न ही होगा (२५७)।

जिन तपस्वियोंने सब कुछ सह सकनेके योग्य आत्मबलको प्राप्त करके अकेले ही रहनेकी दृढ प्रतिज्ञा कर ली है तथा जो अपने कार्यमें संलग्न होकर पर्वतीय भयानक गुफाओंमें स्थित होते हुए ध्यानमें मग्न रहते हैं वे ही तपस्वी कर्म-मलको निर्मूल करके अविनश्वर आत्मीक सुखको प्राप्त करते हैं (२५८)। ऐसे महातपस्वी सुख और दुखके समयमें यह विचार करते हैं कि यह सुख और दुख अपने पूर्वकृत कर्मके उदयसे प्राप्त होता है, उसको छोड़कर अन्य कोई भी उस सुख और दुखके देनेमें समर्थ नहीं है। अतएव इसमें हर्ष-विषाद करना व्यर्थ है। ऐसा विचार करते हुए वे प्राप्त सुख-दुखमें उदासीनभावको धारण करते हैं[1]।

इस प्रकार राग-द्वेषसे रहित हो जानेके कारण ही उन्हें अपने शरीरमें लगी हुई धूलि (मैल) भूषणके समान प्रतीत होती है। वे जहां कहीं भी शिला आदिके ऊपर आसन जमाकर ध्यानस्थ हो जाते हैं। उन्हें कठोर व कंकरीली पृथिवीपर निद्रा लेते हुए कोई कष्ट नहीं होता। तथा जहां सिंहादि हिंस्र जन्तुओंका सतत निवास होता है ऐसे भयानक पर्वतकी गुफाओंको वे महलसे बढ़कर मानते हैं और वहां सिंहके समान निर्भयतापूर्वक रहते हैं (२५९)।

ऐसे ही राग-द्वेषविहीन मुनिको लक्ष्य करके कवि भर्तृहरि कहते हैं (वै. श. ९४) कि जिसकी शय्या (पलंग) पृथिवी है, जिसकी भुजा ही तकियाका काम करती है, आकाश जिसका चंदोबा (उढ़ौना) है, अनुकूल वायु जिसे पंखेकी पवनसे भी बढ़कर प्रतीत होती है, शरद् ऋतुका

१. निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन। विचारयन्नेवमनन्यमानसः परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम्॥ द्वात्रिंशतिका ३१.

चन्द्रमा जिसे दीपकके समान प्रकाश देता है, तथा विरति (सर्वसंगपरित्याग) रूप बनिताका संगम जिसे निरन्तर प्रमुदित किया करता है; वह मुनि अपरिमित वैभवके धारक राजाके समान सुखी एवं शान्त होकर सोता है– इस प्रकार इस स्वाभाविक सामग्रीका उपभोग करनेवाला वह साधु अपरिमित विभूतिका उपभोग करनेवाले किसी भी राजा आदिकी अपेक्षा अतिशय सुखका अनुभव करता है। आगे (वै. श. ९९) वे कहते हैं– जिनके भोजनका पात्र अपना ही हाथ है, जो घूमते हुए भिक्षावृत्तिसे प्राप्त अविनश्वर अन्नका उपभोग करते हैं[1], दस दिशायें जिनके वस्त्रका काम करती हैं– जो नग्न दिगम्बर रहते हैं, अपरिमित पृथिवी ही जिनकी स्थिर शय्या है, तथा जो सर्वसंगके परित्यागको स्वीकार करनेकी दृढताको प्राप्त हुए मनसे सदा संतुष्ट रहते हैं; वे योगीश्वर धन्य हैं। ऐसे ही योगी दीनताको उत्पन्न करनेवाली– याचनावृत्तिसे प्राप्त होनेवाली– समस्त सामग्रीसे रहित होकर कर्मके नष्ट करनेमें समर्थ होते हैं।

इस प्रकारके निःस्पृह साधुओंके पूर्वसंचित कर्मोंकी निर्जरा और नवीन कर्मोंका निरोध (संवर) होता है। उस समय उनके शरीरमेंसे वह निर्मल ज्योति (केवलज्ञान) प्रकट होती है जो समस्त पदार्थोंके प्रकाशित करनेमें समर्थ होती है। फिर यह ज्योति उस शरीरके नष्ट हो जानेपर भी– सिद्धत्व अवस्थाको प्राप्त कर लेनेपर भी– इस प्रकारसे प्रदीप्त रहती है जिस प्रकार कि काष्ठमेंसे प्रगट हुई अग्नि उस काष्ठको भस्म कर देनेके बाद भी अंगार अवस्थामें प्रदीप्त रहती है (२६४)।

वैशेषिक इस मुक्तावस्थामें बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन नौ विशेष गुणोंका विनाश मानते हैं[2]। उनको लक्ष्य करके यहां (२६५) यह संकेत किया है कि जब गुणी (द्रव्य–

१. इस विशेषणका ऐसा भाव प्रतीत होता है– जिनके द्वारा भोजन ग्रहण करनेपर दाताके गृहका अन्न अक्षय हो जाता है।

२. नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छित्तिर्मोक्षः। प्रश.भा. (व्योमवती)पृ. ६३८. ××× नवानामात्मगुणानां बुद्धि-सुख-दुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्माधर्म-संस्काराणां निर्मूलोच्छेदोऽपवर्ग इत्युक्तं भवति। यावदात्मगुणाः सर्वे नोच्छिन्ना वासनादयः। तावदात्यन्तिकी दुःखव्यावृत्तिर्नावकल्पते॥ न्यायमं. पृ. ५०८.

आत्मा) गुणमय होता है– अपने उन गुणोंसे अभिन्न होता है– तब गुणोंका नाश माननेपर उन गुणोंसे अपृथग्भूत आत्माका भी विनाश अवश्य मानना पड़ेगा। और तब ऐसी अवस्थामें वैशेषिकसम्मत उस मुक्तिका अभाव होकर बौद्धोंके द्वारा कल्पित मुक्तिका प्रसंग दुर्निवार होगा। कारण यह कि मुक्तिके विषयमें बौद्ध इस प्रकारकी कल्पना करते हैं कि जिस प्रकार तेलके समाप्त हो जानेपर दीपक बुझ जाता है– वह बुझकर न पृथिवीमें प्रविष्ट होता है, न आकाशमें जाता है, न किसी दिशामें जाता है, और न किसी विदिशामें भी जाता है; किन्तु केवल स्नेह (तेल) के विनष्ट हो जानेसे शान्तिको प्राप्त करता है। उसी प्रकार मुक्तिको प्राप्त हुआ जीव भी न पृथिवीमें प्रविष्ट होता है, न आकाशमें जाता है, न किसी दिशामें जाता है, और न किसी विदिशामें भी जाता है; किन्तु केवल स्नेह (राग) के नष्ट हो जानेसे शान्तिको प्राप्त करता है[1]। उनके मतानुसार जिस पदमें न जन्म है, न जरा है, न मृत्यु है, न रोग है, न अनिष्टसंयोग है, न इष्टवियोग है, न इच्छा है, और न विपत्ति है; वही कल्याणकारक नैष्ठिक पद कहा जाता है।

वस्तुतः जन्मसे रहित (अनादि), अविनश्वर (अनिधन), अमूर्त– रूप-रसादिसे रहित, कर्ता– शुभाशुभ भावों अथवा आत्मपरिणमनका कर्ता, आत्मकृत कर्मोंके फलका भोक्ता, सुखस्वरूप, ज्ञानमय और प्राप्त शरीरके बराबर आत्मा कर्म-मलसे रहित होकर स्वभावतः ऊपर चला जाता है और वहींपर सर्वशक्तिमान् होकर स्थिर हो जाता है– गमनागमनसे रहित हो जाता है (२६६)। वैसे तो इन विशेषणोंमें सब ही महत्त्वके हैं, फिर भी कर्ता, भोक्ता, सुखी और बुध (ज्ञानमय) ये विशेषण सांख्यसिद्धान्तकी अपेक्षा विशेष महत्त्वके हैं। सांख्योंका अभिमत है कि प्रकृति कर्त्री और पुरुष कमलपत्रके समान निर्लेप है। वह केवल बुद्धिसे अध्यवसित अर्थका अनुभवन करता है– भोक्ता मात्र है। ज्ञान और सुख प्रकृतिके धर्म हैं, न कि पुरुष (आत्मा) के। इसी अभिप्रायको लक्ष्यमें रखकर उक्त विशेषणों द्वारा यह प्रकट किया है कि वही आत्मा कर्ता है और वही भोक्ता भी है– कर्ता

१. षट्खण्डागम पु. ६, ९, २३३.

एक और भोक्ता दूसरा नहीं हो सकता है। साथ ही वह सुख व ज्ञान-स्वरूप भी है, अन्यथा उसको जड़ मानना पड़ेगा। इस प्रकार अन्तमें सिद्धोंके स्वरूप और उनके स्वाधीन सुखकी प्ररूपणा करके प्रस्तुत ग्रन्थको समाप्त किया गया है।

आत्मानुशासनमें विशेष उदाहरण

किसी भी विषयका वर्णन यदि उदाहरणपूर्वक किया जाता है तो वह सरलतासे समझनेमें आ जाता है। जैसे– कहा भी गया है 'दृष्टान्ते हि स्फुटायते मतिः' अर्थात् दृष्टान्त मिलनेपर बुद्धि स्पष्ट हो जाती है। तदनुसार प्रस्तुत ग्रन्थमें भी विषयको विशद करनेके लिये कुछ विशेष उदाहरण दिये गये हैं। यथा—

१. श्लोक ३२ में पुरुषार्थकी व्यर्थताको प्रगट करनेके लिये युद्धमें शत्रुओं द्वारा पराजित इन्द्रका उदाहरण दिया गया है। इस सम्बन्धका विष्णु-पुराण (अंश १, अध्याय ९)में निम्न कथानक उपलब्ध होता है—

किसी समय शंकरके अंशभूत दुर्वासा ऋषि पृथिवीपर विचरण कर रहे थे। उस समय उन्हें एक विद्याधरीके हाथमें एक दिव्य माला दिखायी दी। उस सुन्दर मालाको देखकर उन्होंने उक्त विद्याधरीसे उसे मांग लिया। तदनुसार विद्याधरीने भी वह उन्हें प्रणामपूर्वक दे दी। उसे लेकर ऋषिने अपने शिरके ऊपर डाल लिया और फिर वे पृथिवीपर विचरण करने लगे। इस बीच उन्होंने ऐरावत हाथीपर चढ़कर देवोंके साथ आते हुए तीनों लोकोंके स्वामी इन्द्रको देखा। तब उक्त दुर्वासा ऋषिने उस मालाको अपने शिरपरसे निकालकर इन्द्रके ऊपर फेंक दी। इन्द्रने भी उसे लेकर ऐरावतके शिरपर डाल दिया। उस हाथीने भी उसे सूंढसे सूंघकर पृथिवी-तलपर डाल दिया। यह देख ऋषिराजको इन्द्रपर बहुत क्रोध हुआ। वे बोले— अरे दुष्ट इन्द्र! तू ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त हुआ है। इसीलिये तूने मेरी दी हुई मालाको लेकर आभार मानना तो दूर ही रहा, उसको तिरस्कृत भी किया है। इससे तेरी वह तीनों लोकोंकी लक्ष्मी नष्ट हो जावेगी। हे इन्द्र! तू मुझे अन्य ब्राह्मणोंके सदृश ही समझता है। इसीलिये तूने मेरा अपमान किया। चूंकि तूने मेरी मालाको योंही फेंक दिया है, इसीलिये

तेरे तीनों लोक भी श्रीहीन हो जावेंगे। यह सुनकर इन्द्र तुरन्त हाथी-परसे उतरा और ऋषिसे प्रार्थना करने लगा। तब ऋषि प्रणामपूर्वक प्रार्थना करनेवाले उस इन्द्रसे बोले कि मेरे हृदयमें न दया है और न क्षमा भी है, वे क्षमा करनेवाले ऋषि दूसरे हैं। मुझे तू दुर्वासा समझ। हे इन्द्र! मैं क्षमा नहीं करूंगा। इस प्रकार कहकर ऋषि चले गये। तब वह इन्द्र भी ऐरावतपर चढ़कर अमरावतीको चला गया।

उसी समयसे इन्द्र और उसके तीनों लोकोंकी वह श्री (शोभा) नष्ट होने लगी। औषधियां और लतायें सूख गईं। यज्ञोंकी प्रवृत्ति बंद हो गई। तपस्वियोंने तप करना छोड़ दिया। मनुष्योंका चित्त दानादि सत्कार्योंसे विमुख हो गया। तथा सब ही प्राणी लोभादिके वशीभूत होकर बलहीन हो गये और क्षुद्र वस्तुओंकी भी अभिलाषा करने लगे। बल चूंकि लक्ष्मीका अनुसरण करता है, अतः लक्ष्मीके न रहनेसे उनका वह बल नष्ट हो गया तथा बलके नष्ट हो जानेसे गुण भी जाते रहे। इस प्रकार तीनों लोकोंके निःश्रीक, निर्बल एवं गुणहीन हो जानेसे दैत्य और दानवोंने देवोंके ऊपर आक्रमण कर दिया। उन्होंने लोभके वश होकर देवोंके साथ खूब युद्ध किया। अन्तमें देव हार गये। तब वे सब अग्नि देवको आगे करके ब्रह्माजीकी शरणमें पहुंचे। उन्होंने ब्रह्माजीसे सब घटना कह दी। उसे सुनकर ब्रह्माजी बोले कि तुम सब विष्णु भगवान्‌की शरणमें जाओ। वे ही उन दैत्योंको दलित कर सकते हैं। यह कहकर उन देवोंके साथ वे स्वयं भी क्षीरसमुद्रके उत्तर किनारेपर जा पहुंचे। वहां जाकर उन्होंने देवोंके साथ विष्णु भगवान्‌की स्तुति की।

इस प्रकार स्तुति करनेपर भगवान् विष्णुने उन्हें दर्शन दिया और वे प्रसन्न होकर बोले कि हे देवगण! मैं तुम्हारे उस तेजको वृद्धिंगत करूंगा। तुम लोग दैत्य और दानवोंके साथ सब औषधियोंको लाकर अमृतके लिये क्षीरसमुद्रमें डालो तथा मन्दर पर्वतको मथानी और वासुकि सर्पको नेती (रस्सी) बनाकर दैत्योंके साथ समुद्रका मन्थन करो। सहायताके लिये मैं स्वयं वहां उपस्थित रहुंगा। उससे जो अमृत निकलेगा उसके

पीनेसे तुम लोग बलवान और अमर हो जाओगे। मैं उस समय ऐसा करूंगा कि वह अमृत दैत्योंको न प्राप्त होकर तुम लोगोंको ही प्राप्त होगा।

तदनुसार दैत्योंके साथ मेल-जोल करके समुद्रका मन्थन करनेपर जो अमृत निकला उसका पान करनेसे वे सब पूर्वके समान सत्त्वशाली व तेजस्वी हो गये।

२. श्लोक ९६ में टीकाकार श्रीप्रभाचन्द्राचार्यने निर्दिष्ट किया है कि वहां कृष्णराजके निधानस्थान (खजाना) के बहाने धर्मके स्वरूप और उसके मार्गको बतलाया गया है। ऐतिहासिक दृष्टिसे यह कृष्णराज और उसका द्वितीय मंत्री सर्वार्थ कौन है, यह अन्वेषणीय है। यदि मूल ग्रन्थकारके समयका विचार किया जाय तो ये राष्ट्रकूट नरेश कृष्णराज द्वितीय होना चाहिये जिनका राजकाल ई. ८७८ से ९१२ तक पाया जाता है।

३. श्लोक ११८ और ११९ में भगवान् आदि जिनेन्द्रका उदाहरण देकर यह बतलाया है कि आत्मप्रयोजनको सिद्ध करनेके लिये महान् पुरुषोंको भी कष्ट सहना पड़ता है। कारण कि पूर्वमें जिस अशुभ कर्मका उपार्जन किया गया है उसका फल भोगना ही पड़ता है, उसका उल्लंघन करनेके लिये कोई भी समर्थ नहीं है। (इससे सम्बद्ध कथानक ११८वें श्लोकके विशेषार्थमें देखिये)

४. श्लोक १३५ में शंकरका उदाहरण देकर स्त्रियोंको विषसे भी भयानक बतलाया गया है। यह कथानक कवि कालिदासविरचित कुमारसंभव (सर्ग १-३) में इस प्रकार पाया जाता है—

किसी समय हिमालयकी पुत्री पार्वती अपने पिताके समीप बैठी हुई थी। उस समय स्वेच्छापूर्वक विचरण करनेवाले नारद ऋषिने उसे देखकर कहा कि यह भविष्यमें महादेवकी अर्धांगहारिणी अद्वितीय पत्नी होगी। यह सुनकर पिता हिमालयने उसे युवती देखकर भी अन्य वरकी इच्छा नहीं की। उधर प्रार्थनाभंग होनेके भयसे वह इसके लिये महादेवको भी नहीं बुला सका। कारण यह कि पार्वतीने पूर्व जन्ममें जब दक्षके क्रोधसे शरीरको छोड़ा था तबसे महादेवने विषयासक्तिसे रहित होकर किसी

अन्य स्त्रीको ग्रहण नहीं किया था। प्रत्युत इसके वे हिमालयके शिखरपर बैठकर किसी फलकी इच्छासे वहां तप करने लगे थे। उस समय हिमालयने जलादिसे उनकी स्वयं पूजा की तथा उनकी आराधनाके लिये जया और विजया सखियोंके साथ अपनी पुत्री पार्वतीको भी आज्ञा दी। यद्यपि स्त्री तपमें विघ्नकारक मानी जाती है, किन्तु फिर भी महादेवने उसे शुश्रूषाकी अनुमति दे दी। तब वह वेदीको झाड़-बुहारकर पूजाके लिये पुष्प एवं जलादि सामग्रीको लाती हुई प्रतिदिन महादेवकी शुश्रूषा करने लगी।

इसी समय वज्रणखके पुत्र तारक नामके असुरने देवोंको पीड़ित किया। इससे वे इन्द्रको आगे करके ब्रह्मलोकमें गये। वहां जाकर उन सबने ब्रह्माजीकी स्तुति की। उससे प्रसन्न होते हुए ब्रह्मदेवने उनके कान्तिहीन मुख आदिको देखकर आनेका कारण पूछा। तब इन्द्रका संकेत पाकर बृहस्पतिने निवेदन किया कि प्रभो! आप अन्तर्यामी होकर सब कुछ जानते हैं। आपका वर पाकर महान् असुर तारक हम लोगोंको बहुत पीड़ा दे रहा है। उसके प्रतीकारके लिये हम लोगोंने कितने ही प्रयत्न किये, किन्तु वे सब व्यर्थ हुए। अतएव हम किसी ऐसे सेनानीकी सृष्टि चाहते हैं जिसके बलपर हम विजय प्राप्त कर सकें। इसपर ब्रह्मदेवने कहा कि तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा, किन्तु इसके लिये कुछ कालकी प्रतीक्षा करना पड़ेगी। चूंकि मैंने उसे वर दिया है, अतः उसको नष्ट करनेके लिये मैं स्वयं सेनानीको उत्पन्न न करूंगा। महादेवके वीर्यांशके विना उक्त असुरका पराभव करनेके लिये अन्य कोई भी समर्थ नहीं है। इसलिये तुम पार्वतीके सौन्दर्य द्वारा उनके मनको विचलित करनेका प्रयत्न करो। तदनुसार इन्द्रने इसके लिये कामदेवको नियुक्त किया। तब कामदेव रतिके साथ जाकर वसन्त आदिकी रचना करते हुए उनके मनको आकृष्ट करनेका प्रयत्न करने लगा। इस बीच पार्वती पूजासामग्री लेकर महादेवके पास पहुंची। उसने उन्हें अपने हाथसे पद्मबीजोंकी जपमाला दी। इसी समय वह कामदेव अपने धनुषके ऊपर संमोहन नामक बाणको रखकर उसके छोड़नेमें उद्यत हुआ। उसको महादेवने देख लिया। इससे उन्हें उसके ऊपर बहुत क्रोध हुआ। तब उनके तृतीय नेत्रसे जो अग्निकी ज्वाला प्रगट

हुई उसे देखकर आकाशमें देवोंने प्रार्थना की कि हे प्रभो! क्रोधको शान्त कीजिये। किन्तु इसके पूर्व ही उसे उक्त अग्निज्वालाने भस्म कर दिया[1]।

तत्पश्चात् यथावसर जब महादेवके लिये पार्वतीको देना निश्चित हो गया तब हिमालयने तपस्वियोंसे विवाहकी तिथि पूछी। इसके उत्तरमें उन्होंने तीन दिनके पश्चात् चतुर्थ दिन निर्दिष्ट किया। परन्तु तब उन्हीं तपस्वी महादेवने पार्वतीके समागममें उत्सुक होकर इन तीन दिनोंको भी कष्टपूर्वक बिताया[2]।

५. श्लोक २१६ में महादेवका उदाहरण देकर क्रोधके निमित्तसे होनेवाली कार्यकी हानिको दिखलाया गया है। कथानक वही पूर्वोक्त है।

६. श्लोक २१७ में बाहुबलीका उदाहरण देकर मान कषायके निमित्तसे होनेवाली महती हानिको प्रदर्शित किया गया है। (कथानक उक्त श्लोकके विशेषार्थमें देखिये)

७. श्लोक २२० में मरीचि, युधिष्ठिर और कृष्णका उदाहरण देकर थोड़े-से भी मायाचारको विषके समान भयानक बतलाया गया है। (इन तीनों कथानकोंको उक्त श्लोकके विशेषार्थमें देखिये)

आत्मानुशासनपर पूर्ववर्ती अन्य भारतीय साहित्यका प्रभाव

कोई भी अध्ययनशील विद्वान् जब कुछ स्वतन्त्र मौलिक साहित्यकी रचना करता है तब उसकी कृतिपर अपनेसे पूर्ववर्ती साहित्यका प्रभाव

१. स दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टिं नतांसमाकुञ्चितसव्यपादम्।
ददर्श चक्रीकृतचारुचापं प्रहर्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिम्॥
तपःपरामर्शविवृद्धमन्योर्भ्रूभङ्गदुष्प्रेक्ष्यमुखस्य तस्य।
स्फुरन्नुदर्चिः सहसा तृतीयादक्ष्णः कृशानुः किल निष्पपात॥
क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार॥ कु. सं. ३, ७०-७२.

२. वैवाहिकीं तिथिं पृष्टास्तत्क्षणं हरबन्धुना।
ते त्र्यहादूर्ध्वमाख्याय चेरुश्चीरपरिग्रहाः॥
पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः।
कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः॥
कु. सं. ६-९३, ९५.

किसी न किसी रूपमें पड़ता ही है। तदनुसार प्रकृत आत्मानुशासनके ऊपर भी पूर्ववर्ती भारतीय साहित्यका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उसके कर्ता श्री गुणभद्राचार्य बहुश्रुत विद्वान् थे, उन्होंने पूर्ववर्ती जैन अजैन साहित्यका खूब परिशीलन किया था। वे सिद्धान्त, न्याय, व्याकरण एवं आयुर्वेद आदि अनेक विषयोंके पारंगत थे। अतएव यदि उनकी इस कृतिपर अन्य साहित्यका प्रभाव रहा है तो यह कुछ आश्चर्यकी बात नहीं है। प्रस्तुत ग्रन्थपर आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द, यतिवृषभ, शिवार्य, समन्तभद्र और पूज्यपादके साहित्यके अतिरिक्त योगी भर्तृहरिके शतकत्रयका भी प्रभाव पड़ा दिखाई देता है।

कुन्दकुन्द-साहित्यका प्रभाव

प्रस्तुत ग्रन्थके १९५ वें श्लोकमें शरीरको समस्त अनर्थपरम्पराका मूल कारण बतलाते हुए यह कहा है कि प्रारम्भमें शरीर उत्पन्न होता है, उसमें दुष्ट इन्द्रियां होती हैं, वे विषयोंको चाहती हैं; और वे विषय मानहानि, प्रयास, पाप एवं दुर्गतिके देनेवाले होते हैं[१]।

लगभग इसी अभिप्रायको प्रगट करनेवाली निम्न गाथायें श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके पंचास्तिकाय (१२८-३०) में उपलब्ध होती हैं–

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो हवदि गदिसु गदी॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयगहणं तत्तो रागो व दोसो वा॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा॥

अभिप्राय इनका यह है कि संसारी जीव अशुद्ध (राग और द्वेष)

१ इसी आशयको पण्डितप्रवर आशाधरजी ने भी निम्न श्लोकमें इस प्रकारसे प्रगट किया है–

बन्धाद्देहोऽत्र करणान्येतैश्च विषयग्रहः।
बन्धश्च पुनरेवातस्तदेनं संहराम्यहम्॥ सा. ध. ६-३१.

परिणामोंसे संयुक्त होनेके कारण नवीन कर्मबन्धको करता है, उससे नरकादि गतियोंमें गमन होता है, गतिको प्राप्त हुए जीवके शरीर होता है, शरीरमें सम्बद्ध इन्द्रियां होती हैं, उनके द्वारा विषयग्रहण होता है, और उससे फिर राग एवं द्वेष भाव उत्पन्न होता है। इस प्रकारसे गाड़ीके पहियेके समान संसाररूप समुद्रमें परिभ्रमण करनेवाले संसारी जीवकी अवस्था है। उक्त संसारपरिभ्रमण अभव्य जीवका अनादि-अनिधन तथा भव्य जीवका अनादि-सान्त होता है, ऐसा जिनेन्द्र देवके द्वारा कहा गया है।

श्लोक २१७ में बाहुबलीका उदाहरण देकर यह बतलाया गया है कि भरतके द्वारा छोड़ा गया चक्र जब उनका घात न करके उन्हींकी दाहिनी भुजामें आकर स्थित हो गया तब उन्होंने विरक्त होते हुए उस चक्र-रत्नसे मोह छोड़कर उसी समय दीक्षा ग्रहण कर ली थी। उन्हें यद्यपि उसी समय मुक्त हो जाना चाहिये था, पर वे मुक्त न होकर चिर काल तक क्लेशको प्राप्त हुए हैं। सो ठीक भी है— थोड़ा-सा भी मान महती हानिको किया करता है।

उक्त बाहुबलीका उदाहरण कुन्दकुन्दाचार्यने भावप्राभृत (गा. ४४) में इस प्रकार दिया है[१]—

देहादिचत्तसंगो माणकसाएण कलुसिओ धीर।
अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्तियं कालं ॥

अर्थात् शरीरको आदि लेकर समस्त परिग्रहका त्याग करके भी मान कषायसे कलुषित रहनेके कारण बाहुबलीको कितने ही काल आतापनयोगसे स्थित रहने पड़ा— कायोत्सर्गसे स्थित होते हुए भी उन्हें एक वर्ष तक मुक्ति प्राप्त नहीं हुई।

श्लोक ९९ में गर्भ और जन्मके दुखको दिखलाते हुए बतलाया है कि प्राणी माताके उदररूप विष्ठागृहमें स्थित रहकर भूख-प्याससे

१ इस गाथाकी टीकामें श्री श्रुतसागर सूरिने आत्मानुशासनके इस (उपर्युक्त) श्लोकको 'तथा चोक्तं' कहकर उद्धृत भी किया है।

पीड़ित होता हुआ माताके द्वारा खाये हुए इष्ट उच्छिष्ट भोजनकी प्रतीक्षा किया करता है। वहां कीड़ोंके साथ रहता हुआ वह स्थानके संकुचित होनेसे हाथ-पैर आदिको हिला-डुला भी नहीं सकता है।

इस अभिप्रायको कुन्दकुन्दाचार्यने भावप्राभृतकी निम्न गाथा (४०) में व्यक्त किया है[1]—

दियसंगट्ठियमसणं आहारिय मायभुत्तमण्णंते।
छद्दि-खरिसाण मज्झे जठरे वसिओसि जणणीए॥

अर्थात् प्राणी दांतोंके संगमें स्थित भोजनको— माताके द्वारा दांतोंसे चबाये गये उच्छिष्ट अन्नको — खाकर माताके उदरमें उसी भक्षित अन्नके मध्यमें तथा छर्दि (उच्छिष्ट) और खरिस (रक्तमिश्रित अपक्व मल)के मध्यमें निवास किया करता है[2]।

श्लोक ८९ और ९० में यह बतलाया है कि बाल्यावस्थामें जीव हित व अहितको कुछ भी नहीं समझता है। उसने जो इस अवस्थामें कर्मके परवश होकर घृणित कार्य किया है वह स्मरण करनेके भी योग्य नहीं है। उपर्युक्त अभिप्राय भावप्राभृतकी इस गाथामें निहित है—

सिसुकाले य अयाणे असुईमज्झम्मि लोलिओ सि तुमं।
असुई असिया बहुसो मुणिवर बालत्तपत्तेण[3]॥ ४१॥

१ कृमिसमूहका निर्देश भावप्राभृतकी पिछली गाथा ३९ में किया गया है।

२ इस गाथाकी टीका करते हुए श्री श्रुतसागर सूरिने यहां आत्मानुशासनके इस श्लोकको उद्धृत भी किया है। यहां यह स्मरण रखनेकी बात है कि जीवको संबोधित करके जैसे भावप्राभृतमें 'वसिओ सि' मध्यम पुरुषका प्रयोग किया गया है वैसे ही आत्मानुशासनके उस श्लोकमें भी 'बिभेषि' मध्यम पुरुषका ही प्रयोग हुवा है।

३. इसकी टीका करते हुए श्री श्रुतसागर सूरिने आत्मानुशासनके ८९वें श्लोकको उद्धृत भी किया है। ऐसी ही एक गाथा तिलोयपण्णत्तीमें भी उपलब्ध होती है—

बालत्तणम्मि गुरुगं दुक्खं पत्तो अजाणमाणेण।
जोव्वणकाले मज्झो इत्थीपासम्मि संसत्तो॥ ति. प. ४-६२६.

अभिप्राय यह है कि प्राणी बाल्यावस्थाको प्राप्त होकर अज्ञानतासे परिपूर्ण उस शैशवकालमें अशुचि (विष्ठा आदि) पदार्थके मध्यमें लोटता है– खेलता है– और उसी अपवित्र पदार्थको बहुत वार खाया भी करता है[1]।

आत्मानुशासन और भगवती-आराधना

हम यह ऊपर लिख चुके हैं कि आत्मानुशासनके श्लोक ८८ और ८९में बाल्यावस्थाकी अज्ञानतापूर्ण प्रवृत्तिका दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। उसका विशेष वर्णन भगवती-आराधनाकी निम्न गाथाओंमें उपलब्ध होता है–

बालो विहिंसणिज्जाणि कुणदि तह चेव लज्जणिज्जाणि ।
मेज्झामेज्झं कज्जाकज्जं किंचि वि अयाणंतो ।। १०२२ ।।
अण्णस्स अप्पणो वा सिंहाणय-खेल-मुत्त-पुरिसाणि ।
चम्मट्ठि-वसा-पूयादीणि य तुंडे सगे छुभदि ॥ १०२३ ॥
जं किंचि खादि जं किंचि कुणदि जं किंचि जंपदि अलज्जो ।
जं किंचि जत्थ तत्थ व वोसरदि अयाणगो बालो ॥ १०२४ ॥
बालत्तणे कदं सव्वमेव जदि णाम संभरिज्ज तदो ।
अप्पाणम्मि दु गच्छे णिव्वेदं किं पुण परम्मि ॥ १०२५ ॥

अर्थात् पवित्र-अपवित्र और कार्य-अकार्यका कुछ भी विवेक न रखनेवाला अल्पवयस्क बालक हिंसा एवं लज्जाको उत्पन्न करनेवाले अनेक कार्योंको किया करता है। वह दूसरेके और स्वयं अपने भी नासिकामल, कफ, मूत्र, मल, चमड़ा, हड्डी, चर्बी और पीव आदिको अपने मुंहमें डाला करता है। वह अज्ञान बालक लज्जारहित होकर कुछ भी खाता है, कुछ भी करता है, कुछ भी बोलता है, तथा जहां कहीं भी मल-मूत्र आदिको भी किया करता है। उस बाल्यावस्थामें जो कुछ भी किया गया है उसका स्मरण मात्र भी विरक्तिको उत्पन्न करनेवाला है।

१. इनके अतिरिक्त श्लोक ११० मोक्षप्राभृतकी १२वीं, श्लोक १६१ मोक्षप्राभृतकी २०वीं, श्लोक १६७ मोक्षप्राभृतकी ७८वीं, तथा श्लोक १९३ मोक्षप्राभृतकी ५वीं गाथासे प्रभावित प्रतीत होते हैं।

यहां श्लोक ९० का प्रथम चरण (बाल्येऽस्मिन् यदनेन ते विरचितं स्मर्तुं च तन्नोचितम्) विशेष ध्यान देने योग्य है। वह भगवती-आराधनाकी १०२५वीं गाथासे विशेष प्रभावित दिखता है।

आत्मानुशासन (१२६-१३६) में सत्पुरुषोंको विरक्त करानेकी इच्छासे स्त्रियोंके कुछ दोष दिखलाते हुए उन्हें दृष्टिविष सर्पसे भी भयानक, क्रोधी, प्राणघातक, निरौषधविष, ईर्ष्यालु, बाह्यमें ही रमणीय, विषयानुरागको उत्पन्न करनेवाली तथा दूषित शरीरकी धारक बतलाया है। ऐसे ही उनके अनेक दोष उक्त भगवती-आराधना (गा. ९३८–९०) में भी दिखलाये गये हैं। विशेषता यह पायी जाती है कि आगे चलकर वहां यह स्पष्ट कह दिया है कि स्त्रियोंके इन निर्दिष्ट तथा अन्य अनिर्दिष्ट भी दोषोंका विचार करनेसे– उन्हें विष व अग्निके समान संतापजनक जानकर– पुरुषका चित्त उद्वेगको प्राप्त होता है। तब वह जैसे व्याघ्रादिके दोषोंको जानकर उनका परित्याग करता है वैसे ही वह महिलाओंके दोषोंको देखकर उनका भी परित्याग करता है[1]। इसके पश्चात् वहां यह भी निर्देश कर दिया है कि जो दोष महिलाओंके सम्भव हैं वे तथा उनकी अपेक्षा और भी कुछ अधिक दोष उन नीच पुरुषोंके भी हो सकते हैं, क्योंकि, वे उनकी अपेक्षा अधिक बल एवं शक्तिसे संयुक्त होते हैं। जिस प्रकार अपने शीलका संरक्षण करनेवाले पुरुषोंके लिये स्त्रियां निन्दित हैं उसी प्रकार अपने उस शीलकी रक्षा करनेवाली स्त्रियोंके लिये पुरुष भी निन्दित हैं। कारण यह कि जिनकी कीर्ति दिशाओंमें विस्तृत है तथा जो अनेक गुणोंसे विभूषित हैं ऐसी भी स्त्रियां लोकमें सम्भव हैं। वे मनुष्यलोककी देवता हैं, उनकी वन्दना स्वयं देव भी आकर किया करते हैं। उत्तम देव-मनुष्योंसे पूजित वे

1. एए अण्णे य बहु [हू] दोसे महिलाकदे विचिंतयदो।
महिलाहिंतो वि चित्तं उव्वियदि विसग्गि-सर[रि]सीहि॥
वग्घादीणं दोसे णच्चा परिहरदि ते जहा पुरिसो।
तह महिलाणं दोसे दट्ठुं महिलाओ परिहरइ॥ भ. ९९१-९२.

महिलायें तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, बलदेव और गणधर जैसे पुरुष-रत्नोंको उत्पन्न करनेवाली हैं[1]।

आत्मानुशासन और समन्तभद्र-साहित्य

प्रस्तुत ग्रन्थके ऊपर समन्तभद्राचार्यके ग्रन्थोंका भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जैसे—

श्लोक ५८ में संसारके स्वरूपको दिखलाते हुए बतलाया है कि प्राणीको मृत्युसे भय रहता है, परन्तु वह निरन्तर होती अवश्य है (मृतेः प्रतिभयं शश्वन्मृतिश्च ध्रुवम्)। इसपर स्वयंभूस्तोत्रके निम्न पद्य (३४)का प्रभाव स्पष्ट दिखता है—

बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो नित्यं शिवं वाञ्छति नास्य लाभः।
तथापि बालो भय-कामवश्यो वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादीः॥

श्लोक १०७ में भव्य जीवको प्रेरणा देते हुए यह कहा है कि तू दया, दम, त्याग एवं समाधिके मार्गमें— जैन मतमें— जानेका सरलतापूर्वक प्रयत्न कर। इससे तू अनिर्वचनीय एवं निर्विकल्प उस परम पदको अवश्य पा लेगा। यहां 'दयादमत्यागसमाधिसंततेः' का आधार युक्त्यनुशासनका निम्न श्लोक रहा है—

दयादमत्यागसमाधिनिष्ठं नयप्रमाणप्रकृताञ्जसार्थम्।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन त्वदीयं मतमद्वितीयम्॥ ६॥

1. महिलाणं जे दोसा ते पुरिसाणं पि हुंति णीचाणं।
तत्तो अहियदरा वा तेसिं बल-सत्तिजुत्ताणं॥
जह सीलरक्खयाणं पुरिसाणं णिंदिदाओ महिलाओ।
तह सीलरक्खयाणं महिलाणं णिंदिदा पुरिसा॥
किं पुण गुणसहिदाओ इत्थीओ अत्थि वित्थडजसाओ
णरलोगदेवदाओ देवेहि वि वंदणिज्जाओ॥
तित्थयर-चक्कधर-वासुदेव-बलदेव-गणधरवराणं।
जणणीओ महिलाओ सुर-णरवरेहिं महियाओ॥ भ. ९९३-९६.
इस प्रकार उनकी प्रशंसा वहां आगे भी गा. १००२ तक की गई है।

श्लोक १७१ में बतलाया है कि जीवादि प्रत्येक पदार्थ स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा तत्स्वरूप– विवक्षित जीव आदि स्वरूप–भी है तथा परकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा वह अतत्स्वरूप– अजीव आदि स्वरूप– भी है। इस प्रकार उत्तरोत्तर सूक्ष्मतासे विचार करनेपर उसका अन्त नहीं आता[1]।

इस विषयकी विशेष प्ररूपणा स्वामी समन्तभद्रने देवागमस्तोत्रमें विस्तारसे की है। यथा—

कथंचित् ते सदेवेष्टं कथंचिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ।। १४ ।।
सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ।। १५ ।।
क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं सहावाच्यमशक्तितः।
अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः ।। १६ ।।

अर्थात् हे भगवन्! आपको जीव आदि विवक्षित पदार्थ कथंचित् सत् ही इष्ट है, कथंचित् असत् ही इष्ट है, कथंचित् उभय (सत्-असत्) ही इष्ट है, और कथंचित् अवक्तव्य ही इष्ट है। यह सब आपको नयके सम्बन्धसे ही इष्ट है, न कि सर्वथा। कारण कि ऐसा कौन-सा बुद्धिमान् है जो स्वरूपचतुष्टयसे– अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा– वस्तुको सत् ही न माने तथा इसके विपरीत पररूपचतुष्टयसे– दूसरेके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा– उसे असत् ही न माने। यदि ऐसा नहीं मानता है तो फिर वह वस्तुस्वरूपकी व्यवस्था भी नहीं कर सकता है– ऐसा माननेके विना चेतन व अचेतन आदि पदार्थोंकी पृथक् पृथक् व्यवस्था नहीं बन सकती है। क्रमसे विवक्षित स्वचतुष्टय और परचतुष्टयकी अपेक्षा वह वस्तु उभय (सत्-असत्) ही है। कारण कि शब्दके द्वारा जब कभी भी वस्तुका कथन किया जाता है तब वह

१. इसका विशेष विवेचन तत्त्वार्थवार्तिक (१,६,५. और ४,४२,१५.) आदिमें भी किया गया है।

क्रमसे ही किया जाता है । स्वचतुष्टय और परचतुष्टयकी अपेक्षा युगपत् विवक्षामें वस्तु अवक्तव्य ही है, क्योंकि, स्वचतुष्टय और परचतुष्टयकी अपेक्षा एक साथ शब्दके द्वारा वस्तुका कथन करना अशक्य है । ये चार भंग हुए । इस अवक्तव्य भंगके साथ अपने अपने हेतुसे शेष तीन भंग और भी संभव हैं । जैसे— स्वचतुष्टयकी अपेक्षा होनेपर एक साथ चूंकि वस्तुका कथन नहीं किया जा सकता है अतएव वह कथंचित् सत् अवक्तव्य ही है । परचतुष्टयकी अपेक्षा होनेपर चूंकि उसे कहा नहीं जा सकता है अतएव वह कथंचित् असत् अवक्तव्य ही है । क्रमसे स्व-पर-चतुष्टयकी अपेक्षा होनेपर चूंकि एक साथ उसे नहीं कहा जा सकता है अतएव वह कथंचित् सत् असत् अवक्तव्य ही है । आत्मानुशासनके उपर्युक्त श्लोकमें इसी सप्तभंगीकी सूचना की गई है ।

इसके आगे १७२ वें श्लोकके द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि प्रत्येक वस्तु प्रतिसमयमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य (सत्) स्वरूप है; क्योंकि, इसके विना उसमें एक साथ जो भेद और अभेदका निर्बाध ज्ञान होता है वह संगत नहीं हो सकता है ।

उपर्युक्त विवेचनकी आधारभूत देवागमकी निम्न कारिकायें रहीं प्रतीत होती हैं—

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् ।
व्येत्युदेति विशेषात् ते सहैकत्रोदयादि सत् ।। ५८ ।।
कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात् पृथक् ।
न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः खपुष्पवत् ।। ५८ ।।
घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पाद-स्थितिष्वयम् ।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ।। ५९ ।।
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम ।। ६० ।।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि हे भगवन् ! आपके मतमें कोई भी वस्तु सामान्य स्वरूपसे— द्रव्यकी अपेक्षा— न तो उत्पन्न होती है

और न नष्ट भी होती है, क्योंकि, उन दोनों ही अवस्थाओंमें स्पष्टतया सामान्य स्वरूपका अन्वय देखा जाता है– सुवर्णघटको नष्ट करके उससे बनाये गये मुकुटमें भी उस सुवर्णका अस्तित्व पाया जाता है। [इससे वस्तुमें ध्रौव्य या नित्यताकी सिद्धि होती है।] वस्तु जो नष्ट और उत्पन्न होती है वह विशेष (पर्याय)की अपेक्षा ही होती है। इस प्रकार एक ही वस्तुमें एक साथ ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय इन तीनोंके रहनेका नाम सत् या द्रव्य है[1]। हेतु (उपादान कारण) के नाशका नाम ही कार्यकी उत्पत्ति है, क्योंकि, उन दोनोंके एकहेतुताका नियम है– जो दण्ड घटके विनाशका हेतु होता है वही ठीकरोंकी उत्पत्तिका भी हेतु हुआ करता है। परन्तु अपने अपने असाधारण लक्षणकी अपेक्षा वे दोनों– विनष्ट घट और उत्पन्न ठीकरे– भिन्न ही होते हैं। इस प्रकार लक्षणसे भिन्न होनेपर भी वे दोनों सर्वथा भिन्न नहीं हैं– कथंचित् अभिन्न भी हैं, क्योंकि, उनमें मिट्टी या सुवर्णत्व जाति आदिका अवस्थान देखा जाता है। ये तीनों परस्पर सापेक्ष होकर ही वस्तुमें रहते हैं, अन्यथा उनका आकाशकुसुमके समान सद्भाव ही नहीं रह सकेगा। इसको स्पष्ट करनेके लिये वहां ये दो उदाहरण दिये गये हैं–

१. क्रमसे घट, मुकुट और सुवर्णमात्रके अभिलाषी तीन व्यक्ति किसी सुनारके यहां जाते हैं। उस समय उन्हें सुनार घटको तोड़कर मुकुटको बनाता हुआ दिखता है। यह देखकर घटका अभिलाषी खिन्न और मुकुटका अभिलाषी हर्षित होता है। परन्तु सुवर्णसामान्यका अभिलाषी व्यक्ति न तो खिन्न होता है और न हर्षित भी, वह मध्यस्थ रहता है। यह अवस्था उनकी निर्हेतुक नहीं है। इससे प्रगट है कि घट और मुकुटमें जैसे पर्यायकी अपेक्षा भेद है वैसे द्रव्य (सुवर्ण) की अपेक्षा भेद नहीं है– सुवर्णसामान्यकी अपेक्षा वे दोनों अभिन्न हैं।

२. जिस व्यक्तिने यह नियम किया है कि मैं आज दूधको ही ग्रहण करूंगा वह दहीको नहीं खाता है, जिसने यह नियम किया है

१. सद्द्रव्यलक्षणम्। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्। त. सू. ५, २९-३०.

कि मैं आज दहीको ही लूंगा वह दूधको नहीं लेता है, तथा जिसने यह नियम लिया है कि मैं आज गोरसको ग्रहण नहीं करूंगा वह दूध और दही दोनोंको ही नहीं ग्रहण करता है। इस प्रकार गोरस (सामान्य) स्वरूपसे अभिन्न होनेपर भी जब दूध और दही ये दोनों अवस्थाविशेषसे भिन्न समझे जाते हैं तभी उक्त तीनों व्यक्तियोंका वैसा आचरण संगत होता है। इससे सिद्ध है कि वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों स्वरूप है।

इसके पश्चात् १७३वें श्लोकमें यह कहा गया है कि वस्तु न नित्य है, न क्षणनश्वर (क्षणिक) है, न ज्ञानमात्र है, और न अभावस्वरूप (शून्य) भी है; क्योंकि, वैसी निर्बाध प्रतीति नहीं होती है। जैसी कि निर्बाध प्रतीति होती है तदनुसार वस्तु कथंचित् नित्यानित्यादिस्वरूप ही सिद्ध होती है। यह अवस्था जैसे एक वस्तुकी है वैसे ही वह अनादि-अनन्त समस्त वस्तुओंकी ही समझना चाहिये।

इस संक्षिप्त विवेचनका आधार भी वह देवागमस्तोत्र रहा है[1]। वहां ३७-५४ कारिकाओंमें नित्यत्व और अनित्यत्व एकान्तवादोंका निराकरण करके ५६वीं कारिका द्वारा कथंचित् नित्यानित्यत्वको सिद्ध किया गया है। इसी प्रकार २४-२७ कारिकाओंमें सामान्य अद्वैतवादका निराकरण करके ७९-८० कारिकाओंके द्वारा विज्ञानाद्वैतका तथा १२वीं कारिकाके द्वारा अभावरूपता (शून्यैकान्त) का भी निषेध किया है।

आत्मानुशासन और पूज्यपाद-साहित्य

इष्टोपदेश और समाधिशतक ये दो ग्रन्थ आध्यात्मिक हैं जो पूज्यपाद स्वामीके द्वारा रचे गये हैं। इन दोनों ही ग्रन्थोंका प्रभाव आत्मानुशासनपर दृष्टिगोचर होता है। यथा—

आत्मानुशासनके ४५वें श्लोकमें यह बतलाया है कि जिस प्रकार नदियां कभी शुद्ध जलसे परिपूर्ण नहीं होती हैं, किन्तु नालियों आदिके

१. स्वामी समन्तभद्रविरचित युक्त्यनुशासनमें भी श्लोक १८-२४में विज्ञानाद्वैतका, ८-९ श्लोकोंमें नित्यत्वका, ११-१७ श्लोकोंमें क्षणिकत्वका, तथा २५वें श्लोकमें अभावैकान्त (शून्यवाद) का विचार किया गया है।

गंदले पानीसे ही वे परिपूर्ण होती हैं; उसी प्रकार शुद्ध धनसे कभी सत्पुरुषोंके भी सम्पत्ति नहीं बढती है, किन्तु वह अन्यायोपार्जित धनसे ही बढती है जो सत्पुरुषोंको इष्ट नहीं है। इस अन्यायोपार्जित धनकी निन्दा इष्टोपदेशमें इस प्रकारसे की गई है–

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।
स्वशरीरं स पङ्केन स्नास्यामीति विलिम्पति[1] ॥ १६ ॥

अभिप्राय यह है कि जो निर्धन व्यक्ति यह सोचकर धनका संचय करता है कि मैं उससे पुण्यवर्धक दानादि सत्कार्योंको करूंगा उसका ऐसा करना उस मूर्खके समान है जो यह सोचकर कि मैं स्नान करूंगा, अपने निर्मल शरीरको कीचड़से लिप्त करता है। कारण यह कि धनका संचय कभी न्याय्य वृत्तिसे नहीं हुआ करता है।

श्लोक ५० में जीवको सबोधित करके यह कहा गया है कि जिस विषयसुखको विषयी जनोंने भोगकर विरक्त होते हुए छोड़ दिया है उसीको तू उच्छिष्ट (वान्ति) के समान फिर भी भोगना चाहता है। इसमें तुझे ग्लानि नहीं होती? जब तक तू उस विषयतृष्णाको नष्ट नहीं करता है तब तक तुझे शान्ति प्राप्त नाहीं हो सकती है। यही भाव प्रकारान्तरसे इष्टोपदेशके निम्न श्लोकमें भी निहित है—

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥ ३० ॥

आशय इसका यह है कि अनादि कालसे संसारमें परिभ्रमण करते हुए मैंने सब पुद्गलोंको वार वार भोगकर छोड़ दिया है। फिर जब आज वह विवेक उत्पन्न हो चुका है तब उच्छिष्टके समान उन्हीं पद्गलोंको फिरसे भोगनेकी इच्छा मुझे क्यों करना चाहिये? नहीं करना चाहिये।

---

१. इस श्लोककी टीका करते हुए पण्डितप्रवर आशाधरजीने वहां आत्मानुशासनके उक्त श्लोकको उद्धृत भी किया है।

श्लोक ११० में[1] यह उपदेश दिया गया है कि हे भव्य ! तू यह समझ कि यहां संसारमें मेरा कुछ भी नहीं है। यदि तू इस प्रकारसे रहता है तो शीघ्र ही तीनों लोकोंका स्वामी (परमात्मा) हो जावेगा। यह वह परमात्माका रहस्य है जिसे केवल योगी ही जानते हैं, अन्य कोई भी नहीं जानता। इस प्रकार यहां निर्ममत्व भावको मोक्षका कारण बतलाकर उसे स्वीकार करनेकी प्रेरणा की गई है। अब इष्टोपदेशके निम्न पद्यको देखिये कितनी समानता है–

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत्[2] ॥ २६ ॥

इसमें भी यही बतलाया गया है कि समम जीव– शरीर एवं अन्य बाह्य पदार्थोंमें ममत्वबुद्धि रखनेवाला प्राणी – कर्मबन्धको प्राप्त होता है तथा इसके विपरीत निर्मम जीव– मेरा यहा कुछ भी नहीं है और न मैं भी किसीका हूं, इस मकारकी ममत्वबुद्धिसे रहित हुआ भव्य जीव– मुक्तिको प्राप्त होता है। इसीलिये प्रयत्नपूर्वक उस निर्ममत्वभावका– अकिंचनताका– चिन्तन करना चाहिये। यही बात समाधिशतकके निम्न श्लोकमें भी कही गई है—

परत्राहंमतिः स्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसंशयम्।
स्वस्मिन्नहंमतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः ॥ ४३ ॥

अर्थात् शरीरादि परपदार्थोंमें 'अहं' बुद्धिको रखनेवाला अज्ञानी प्राणी तो निश्चयतः कर्मको बांधता है तथा आत्मामें आत्मबुद्धि रखनेवाला विवेकी जीव नियमतः उस कर्मसे छुटकारा पाता है।

१७५ वें श्लोकमें यह बतलाया है कि ज्ञानभावनाके चिन्तनका फल प्रशस्त अविनश्वर ज्ञान (केवलज्ञान)की प्राप्ति है। परन्तु अज्ञानी जन मोहके प्रभावसे उसका फल लाभ-पूजादिमें खोजते हैं। इसपर इष्टोपदेशके निम्न पद्यका प्रभाव स्पष्ट दिखता है।

१. इसके अतिरिक्त १८०-१८१ और २४३-४४ श्लोकोंको भी देखिये, उनमें भी यही भाव निहित है।

२. इसकी टीकामें भी पं. आशाधरजीने उक्त श्लोकको उद्धृत भी किया है।

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः ।
ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः[१] ॥ २३ ॥

अर्थात् अज्ञान एवं अज्ञानी जनकी उपासना अज्ञानको तथा ज्ञानमय निज आत्मा और ज्ञानी गुरु आदिकी उपासना ज्ञानको देती है। ठीक है– जो जिसके पास होता है उसे ही वह देता है, यह एक प्रसिद्ध उक्ति है।

श्लोक १७८–७९ में जीवको मथानी तथा उसमें लपेटी जानेवाली रस्सी(नेती)के दोनों छोरोंको राग-द्वेषके समान बतलाकर यह कहा गया है कि जिस प्रकार मथानीमें लिपटी हुई रस्सीको जब तक एक ओरसे खींचते तथा दूसरी ओरसे ढीली करते रहते हैं तब तक वह रस्सी बंधती व उकलती रहती है तथा मथानी भी तब तक घूमती ही रहती है। उसी प्रकार जीव जब तक एकसे राग और दूसरे द्वेष करता है तब तक रस्सीके समान उसका कर्म बंधता और उकलता (सविपाक निर्जरासे निर्जीर्ण होता) रहता है तथा जीव भी तब तक संसाररूप समुद्रमें परिभ्रमण करता ही रहता है। परन्तु जब उस रस्सीको एक ओरसे ढीली करके दूसरी ओरसे पूरा खींच लिया जाता है तब जिस प्रकार उसका बंधना व उकलना तथा मथानीका घूमना भी बंद हो जाता है उसी प्रकार राग-द्वेषको छोड़ देनेसे कर्मका बंधना और फल देकर निर्जीर्ण होना तथा जीवका संसारपरिभ्रमण भी नष्ट हो जाता है। यह विवेचन इष्टोपदेशके निम्न श्लोकसे कितना अधिक प्रभावित है, यह ध्यान देनेके योग्य है—

राग-द्वेषद्वयी-दीर्घनेत्राकर्षणकर्मणा ।
अज्ञानात् सुचिरं जीवः संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ ॥ ११ ॥

यहां उसी मथानीका दृष्टान्त देकर राग-द्वेषरूप लंबी रस्सीके खींचनेसे जीव संसार-समुद्रमें अपनी अज्ञानताके वश चिर काल तक परिभ्रमण किया करता है, यही भाव दिखलाया गया है।

---

१. इसकी टीकामें पं. आशाधरजीने उक्त श्लोकको उद्धृत भी किया है।

श्लोक १८२ में कहा गया है कि जिस प्रकार बीजसे मूल और अंकुर उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार मोहरूप बीजसे राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। इसीलिये जो उनको नष्ट करना चाहता है उसे उस मोहबीजको ज्ञानरूप अग्निके द्वारा जला देना चाहिये। अब इससे मिलता-जुलता यह समाधि-शतकका श्लोक देखिये—

यदा मोहात् प्रजायेते राग-द्वेषौ तपस्विनः।
तदैव भावयेत् स्वस्थमात्मानं शा[सा]म्यतः क्षणात्॥ ३९ ॥

श्लोक २३९-४० में बतलाया है कि शुभ, पुण्य और सुख ये तीन हितकारक होनेसे अनुष्ठेय तथा अशुभ, पाप और दुख ये तीन अहित-कारक होनेसे हेय हैं। इन तीनों हेयोंमेंसे प्रथम अशुभका त्याग कर देनेसे शेष दो– पाप और दुख– स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि, वे दोनों उस अशुभके अविनाभावी हैं। अन्तमें फिर योगी शुद्धके निमित्त उस शुभको भी छोड़कर परम पदको प्राप्त हो जाता है। यह भाव समाधिशतकके निम्न दो श्लोकोंमें व्यक्त किया गया है—

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत्॥ ८३ ॥
अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः॥ ८४ ॥

अर्थात् अव्रतोंसे– हिंसादिरूप अशुभ प्रवृत्तिसे– पाप तथा व्रतोंसे– अहिंसादिरूप शुभ आचरणसे– पुण्य होता है। उक्त दोनों (पाप-पुण्य)के अभावका नाम मोक्ष है। इसलिये मुमुक्षु जीवको अव्रतोंके समान व्रतोंको भी छोड़ देना चाहिये। वह अव्रतोंको छोड़कर व्रतोंमें निष्ठित होवे और तत्पश्चात् अपने परम पदको प्राप्त होकर उन व्रतोंको भी छोड़ दे।

आत्मानुशासनपर श्वे. आगमोंका प्रभाव

प्रस्तुत ग्रन्थके भीतर श्लोक १० में सम्यग्दर्शनके दो, तीन और दस भेदोंका निर्देश मात्र करके उसके गुण और दोषोंको दिखलाते हुए उसे संसारनाशक बतलाया गया है। इसके आगे श्लोक ११ में पूर्वनिर्दिष्ट

उन दस मेदोंका नामनिर्देश करके श्लोक १२-१४ द्वारा उनका पृथक् पृथक् स्वरूप भी बतलाया गया है। ये दस मेद आत्मानुशासनके पूर्ववर्ती दिगम्बर ग्रन्थोंमें कहां और किस प्रकारसे पाये जाते हैं, इसके खोजनेका मैंने यथासम्भव कुछ प्रयत्न किया है। परन्तु वे मुझे उपलब्ध नहीं हो सके। ये दस मेद लगभग इसी रूपसे 'पन्नवणासुत्त' आदि आगम ग्रन्थोंमें अवश्य पाये जाते हैं। यथा—

निसग्गुवएसरुई आणरुई सुत्त-बीयरुइमेव।
अभिगम-वित्थाररुई किरिया-संखेव-धम्मरुई[1] ॥

पन्नवणा १, ७४ (सुत्तागमे २, पृ. २८६)

इस गाथाके अनुसार वे दस मेद ये हैं— निसर्गरुचि, उपदेशरुचि, आज्ञारुचि, सूत्ररुचि, बीजरुचि, अभिगमरुचि, विस्ताररुचि, क्रियारुचि, संक्षेपरुचि और धर्मरुचि।

इस प्रकार आज्ञासम्यक्त्व, उपदेशसम्यक्त्व, सूत्रसम्यक्त्व, बीजसम्यक्त्व, सक्षेपसम्यक्त्व और विस्तारसम्यक्त्व ये छह सम्यक्त्वभेद तो दोनों ग्रन्थोंमें समानरूपसे पाये जाते हैं। किन्तु पन्नवणामें मार्गसम्यक्त्व, अर्थसम्यक्त्व, अवगाढसम्यक्त्व और परमावगाढसम्यक्त्व इन चार भेदोंके स्थानमें निसर्गरुचि, अभिगमरुचि, क्रियारुचि और धर्मरुचि ये चार मेद पाये जाते हैं।

श्रावकप्रज्ञप्तिमें भी कहा गया है कि इस सम्यक्त्वको उपाधिभेदसे दस प्रकारका भी आगममें बतलाया है। परन्तु सामान्यरूपसे वह दस प्रकारका भी सम्यक्त्व इन भेदोंसे— पूर्वोक्त औपशमिकादि भेदोंसे— अभिन्नस्वरूप है[2]।

---

१. आत्मानुशासनमें रुचिके समानार्थक विरुचित, श्रद्धा, दृष्टि और उस रुचि शब्दका भी प्रयोग हुआ है।

२. किं चेहुवाहिभेया दसहावीमं परूवियं समए।
ओहेण तंपिमेसिं भेयाणमभिन्नरूवं तु ॥ श्रा. प्र. ५२.

इसकी टीकामें श्री हरिभद्रसूरिने 'यथोक्तं प्रज्ञापनायाम्' लिखकर पन्नवणाकी उक्त गाथाको उद्धृत किया है।

श्रीगुणभद्राचार्यने आत्मानुशासनके समान उत्तरपुराणमें भी इन दस सम्यक्त्वके भेदोंकी प्ररूपणा की है[1]। इसके उत्तरकालीन ग्रन्थोंमें ये दस भेद प्रायः आत्मानुशासनके उक्त १०वें श्लोकको उद्धृत करके प्ररूपित हुए देखे जाते हैं[2]।

आत्मानुशासन और सुभाषितत्रिशती

योगिराज श्री भर्तृहरिने सुभाषितरूपसे शतकत्रयकी रचना की है। इनमें प्रथम सौ श्लोकोंमें नीति, आगेके सौ श्लोकोंमें श्रृंगार तथा अन्तिम सौ श्लोकोंमें वैराग्यका वर्णन किया है। रचना प्रौढ, अलंकारोंसे अलंकृत एवं आकर्षक है। आत्मानुशासनकी रचनामें श्री गुणभद्राचार्यने इसका उपयोग किया है, ऐसा ग्रन्थके अन्तःपरीक्षणसे प्रतीत होता है। यथा—

आत्मानुशासनमें जो 'नेता यत्र[3] बृहस्पतिः' इत्यादि श्लोक (३२) आया है वह तथा 'यदेतत् स्वच्छन्दं' आदि श्लोक (६७) भी उपर्युक्त सुभाषितत्रिशतीमें (नी.श.८१ और वै. श. ८२) जैसाका तैसा उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त अन्य कितने ही श्लोकोंमें शब्द, अर्थ अथवा दोनोंसे भी समानता पायी जाती है। जैसे–

श्लोक १२७ में स्त्रीस्वभावका वर्णन करते हुए उन्हें सर्पसे भी भयानक बतलाया है। हेतु यह दिया है कि सर्प तो क्रुद्ध होकर किसी विशेष समयमें ही काटता है तथा उसके विषकी विनाशक औषधियां भी बहुत पायी जाती हैं। इसके अतिरिक्त उसके काट लेनेपर एक मात्र इसी जन्ममें कष्ट होता है। परन्तु स्त्रियां क्रोध और प्रसन्नता दोनों ही अवस्थाओं-

१. उत्तरपुराण ७४,४३९-४९.

२. यशस्तिलक (उत्तर खण्ड) पृ. ३२३; श्रुतसागरसूरिविरचित तत्त्वार्थवृत्ति १–७.; एवं दर्शनप्राभृतटीका गा. १२.; पण्डितप्रवर श्री आशाधरजीने एक स्वतन्त्र श्लोकके द्वारा इन दस भेदोंका उल्लेख किया है—

आज्ञा-मार्गोपदेशार्थ-बीज-संक्षेप-सूत्रजाः।
विस्तारजावगाढासौ परमा दशधेति दृक् ॥ अ. ध. २, ६२.

३. नि. सा. द्वारा मुद्रित प्रथम गुच्छकमें 'यस्य' पाठ है।

में काटती हैं— प्राणियोंको संतप्त करती हैं, तथा उनके विषकी विनाशक कोई औषधि भी नहीं है। इसके अतिरिक्त उनके काटनेपर इस लोक और पर लोक दोनोंमें ही प्राणियोंको संताप होता है। दूसरे, वे उन महान् ऋषियोंको[1] भी काटती हैं– मोहित करती हैं– कि जिनसे सर्प भी भयभीत रहा करते हैं। अब शृंगारशतकका यह श्लोक भी देखिये–

अपसर सखे दूरादस्मात् कटाक्ष-विषानलात्
प्रकृतिविषमाद्योषित्सर्पाद्विलास-फणाभृतः ।
इतरफणिना दष्टः शक्यश्चिकित्सितुमौषधै–
श्चतुरवनिता-भोगिग्रस्तं त्यजन्ति हि मन्त्रिणः ॥ ५२ ॥

इसमें भी स्त्रीको सर्पके समान बतलाकर उसे स्वभावतः कुटिल, कटाक्षरूप विषाग्निकी ज्वालासे संयुक्त और विलासरूप फणको धारण करनेवाली कहा है। साथमें यह भी बतलाया है कि लोकप्रसिद्ध सर्पके द्वारा काटे गये प्राणीकी औषधियोंके द्वारा चिकित्सा भी की जा सकती है, परन्तु चतुर स्त्रीरूप सर्पके द्वारा काटे गये प्राणीको असाध्य समझकर मान्त्रिक जन भी छोड़ देते हैं। इसलिये हे मित्र! तू उक्त स्त्रीरूप सर्पसे दूर रह।

श्लोक १२९ में स्त्रियोंको सरोवरके समान निर्दिष्ट करके उन्हें हास्यसे निर्मल एवं तरंगोंके समान अस्थिर सुखको उत्पन्न करनेवाले जलसे परिपूर्ण तथा मुखरूप कमलोंसे बाह्यमें रमणीय बतलाया है। साथ ही यह भी सूचना कर दी है कि वहां पानी पीनेकी इच्छा करनेवाले बहुत-से अज्ञानी जन किनारेपर ही भयानक विषयोंरूप मगर-मत्स्योंके ग्रास बनकर नष्ट हो चुके हैं और फिर वहांसे नहीं निकले हैं। यह आशय प्रायः शृंगार-शतकके निम्न श्लोकमें देखा जाता है—

१. विश्वामित्र-पराशरप्रभृतयो वाताम्बु-पर्णाशना–
स्तेऽपि स्त्रीमुख-पङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः ।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं ये भुञ्जते मानवा–
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद्विन्ध्यः प्लवेत् सागरे ॥ शृं. श. ८०.

उन्मीलत्त्रिवलीतरंगनिलया प्रोत्तुङ्गपीनस्तन–
द्वन्द्वेनोद्गतचक्रवाकयुगला वक्त्राम्बुजोद्भासिनी।
कान्ताकारधरा नदीयमभितः क्रूरात्र नापेक्ष्यते
संसारार्णवमज्जनं यदि तदा दूरेण संत्यज्यताम्॥ ४९॥

अर्थात् स्त्रीके आकारको धारण करनेवाली यह क्रूर नदी उत्पन्न होनेवाली त्रिवलीरूप तरंगोंसे सहित, स्तनोंरूप चक्रवाक पक्षियुगलसे संयुक्त, और मुखरूप कमलसे शोभायमान है। इसलिये यदि संसाररूप समुद्रमें निमग्न होनेकी इच्छा नहीं है तो उसे दूरसे ही छोड़ देना चाहिये।

आगे १३०वें श्लोकमें बतलाया है कि दुष्ट इन्द्रियरूप शिकारियोंके द्वारा मनुष्यरूप मृगादिकोंके निवासस्थानके चारों ओर प्रज्वलित की गई रागरूप अग्निसे संतप्त होकर ये मनुष्यरूप मृग रक्षाकी इच्छासे स्त्रीके मिषसे बनाये गये कामरूप व्याधके घातस्थानको प्राप्त होते हैं। इसके सदृश श्रृंगारशतकमें यह श्लोक उपलब्ध होता है—

विस्तारितं मकरकेतनधीवरेण स्त्रीसंज्ञितं बडिशमत्र भवाम्बुराशौ।
येनाचिरात्तदधरामिषलोलमर्त्य-मत्स्यान् विकृष्य विपचत्यनुरागवह्नौ॥५३॥

इसका अभिप्राय यह है कि कामरूप धीवरने मनुष्योंरूप मत्स्योंको फंसानेके लिये इस संसाररूप समुद्रमें स्त्रीनामधारी कांटेको विस्तृत किया। उसके द्वारा वह स्त्रीरूप कांटेके अधरोष्ठरूप मांसखण्डके लोलुपी मनुष्योंरूप मछलियोंको शीघ्र ही पकड़कर उन्हें अनुरागरूप अग्निमें पकाता है।

इन दोनों श्लोकोंके तात्पर्यमें कोई भेद नहीं है। विशेषता यदि है तो वह इतनी ही है कि जहां आत्मानुशासनमें स्त्रीको कामरूप व्याधके द्वारा निर्मित मनुष्यरूप मृगोंका घातस्थान बतलाया गया है वहां श्रृंगार-शतकमें उसे कामरूप धीवरके द्वारा विस्तारित ऐसा मनुष्यरूप मछलियोंको फंसानेवाला कांटा बतलाया गया है।

आत्मानुशासनके उपर्युक्त श्लोकमें इन्द्रियोंको रागरूप अग्निको जलाकर मनुष्योंको संतप्त करनेवाले शिकारियोंके समान बतलाया है। वे इन्द्रियां किस प्रकारसे रागको उत्पन्न करती हैं, इसके लिये श्रृंगारशतकका यह श्लोक देखिये—

इह हि मधुरगीतं नृत्तमेतद्रसोऽयं
स्फुरति परिमलोऽसौ स्पर्श एष स्तनानाम्।
इति हतपरमार्थैरिन्द्रियैर्भ्राम्यमाणः
स्वहितकरणधूर्तैः पञ्चभिर्वञ्चितोऽस्मि ॥ ५६ ॥

अर्थात् स्त्रियोंमें कानोंको सुखप्रद मधुरगीत, नेत्रोंको मुग्ध करनेवाला यह नृत्य, जिह्वाको संतुष्ट करनेवाला यह रस (अधरामृत), नासिकाको मुदित करनेवाला वह कर्पूरादिके लेपनका सुन्दर गन्ध, और यह स्पर्शन इन्द्रियको हर्षित करनेवाला स्पर्श है। इस प्रकार मानकर परमार्थसे पराङ्मुख हुई इन धूर्त पांचों इन्द्रियोंके द्वारा भ्रमणको प्राप्त– अपने अपने विषयमें आसक्त– कराया जानेवाला मैं ठगा गया हूं।

श्लोक १५१ में साधुको लक्ष्य करके यह कहा गया है कि तेरे पास गृहके स्थानमें रहनेके लिये गुफायें विद्यमान हैं, पहिननेके लिये दिशारूप वस्त्र है, इष्ट भोजन तपकी वृद्धि है, अर्थ (धन) के स्थानमें आगमका अर्थ (रहस्य) है, तथा कलत्रके स्थानमें उत्तमोत्तम गुण हैं। इस प्रकार तेरे लिये मांगनेके लिये कुछ भी शेष नहीं है। अतएव तू व्यर्थमें याचनाको प्राप्त न हो। इसकी तुलना वैराग्यशतकके इस श्लोकसे कीजिये—

पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं
विस्तीर्णं वस्त्रमाशादशकमचपलं तल्पमस्वल्पमुर्वी।
येषां निःसंगताङ्गीकरणपरिणतस्वान्तसंतोषिणस्ते
धन्याः संन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराः कर्म निर्मूलयन्ति ॥ ९९ ॥

यहां भी यही बतलाया है कि जिन साधुओंके पास अपना हाथ ही पवित्र पात्र है, भ्रमणसे प्राप्त हुआ भैक्ष भोजन है, विस्तृत दश दिशायें वस्त्र हैं, तथा पृथिवी ही स्थिर व विशाल शय्या है; इस प्रकार जो अपरिग्रह व्रतको स्वीकार करनेसे परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुए अपने मनसे संतुष्ट रहते हैं और इसीलिये जिन्होंने दीनताको उत्पन्न करनेवाले व्यतिकरका परित्याग कर दिया है ऐसे वे ही साधू धन्य हैं और वे ही कर्मका निर्मूलन करते हैं।

श्लोक २६० में कहा गया है कि जो साधु अतिशय वृद्धिंगत तपके प्रभावसे प्राप्त हुई ज्ञान-ज्योतिके द्वारा अन्तस्तत्त्वको जानकर प्रसन्नताको प्राप्त हैं तथा वनके भीतर ध्यानावस्थामें हरिणियोंके द्वारा विश्वासपूर्वक देखे जाते हैं वे साधु धन्य हैं। ऐसे ही धीर साधु अपने अलौकिक आचरणके द्वारा चिर काल तक दिनोंको विताया करते हैं। अब वैराग्यशतकके इस श्लोकको भी देखिये—

गङ्गातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य।
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशङ्काः
कण्डूयन्ते जरठहरिणाः स्वाङ्गमङ्गे मदीये॥ ९८॥

यहां योगी विचार करता है कि गंगा नदीके किनारे हिमालय पर्वतकी शिलाके ऊपर पद्मासनसे स्थिर होकर आत्मध्यानके अभ्यासकी विधिसे योगनिद्राको प्राप्त हुए मेरे क्या वे उत्तम दिन कभी होंगे कि जिनमें वृद्ध हिरण निर्भय होकर मेरे शरीरसे अपने शरीरको खुजलावेंगे।

उपर्युक्त दोनों ही श्लोकोंमें ध्यानकी वह उत्कृष्ट अवस्था निर्दिष्ट की गई है कि जिसमें निर्भय एवं निरीह योगीके स्थिर शरीरको देखकर हिरण-हिरणियोंको यह कल्पना भी नहीं होती कि यह कोई मनुष्य है। इसीलिये वे निर्भय होकर अपने शरीरको उसके शरीरसे रगड़ने लगते हैं।

इसी प्रकार आत्मानुशासन के २५९वें श्लोकमें जिस निर्ममत्व एवं समताभावको अंकित किया गया है वह वैराग्यशतकके ९१ और ९४-९६ श्लोकोंमें दृष्टिगोचर होता है।

आत्मानुशासन और आयुर्वेद

प्रस्तुत ग्रन्थके कर्ता श्री गुणभद्राचार्य केवल सिद्धान्त एवं न्याय-व्याकरणादि विषयोंमें ही पारंगत नहीं थे, बल्कि वे आयुर्वेदके भी अच्छे ज्ञाता थे; यह उनके इसी ग्रन्थसे सिद्ध होता है। उन्होंने ग्रन्थके प्रारम्भमें यह कह दिया है कि यहां जो उपदेश दिया जा रहा है वह यद्यपि सुननेके समय कुछ कटुक प्रतीत होगा, तो भी उसका फल मधुर होगा।

इसलिये जिस प्रकार रोगी मनुष्य तीक्ष्ण (अतिशय कड़ुवी) औषधिसे भयभीत नहीं होता है उसी प्रकार आत्महितैषी भव्य जीवोंको इससे भयभीत नहीं होना चाहिये।

आगे श्लोक १६-१७में मिथ्यात्वरूप घातक व्याधिसे पीड़ित भव्य जीवकी अज्ञान बालकके समान सुकुमार क्रिया करनेका निर्देश करके यह बतलाया है कि जिस प्रकार विषम भोजनसे उत्पन्न हुए ज्वरसे पीड़ित एवं तीव्र प्यासका अनुभव करनेवाले क्षीणशक्ति रोगीके लिये सुपाच्य पेय (दूध व फलोंका रस आदि) आदिकी व्यवस्था हितकर होती है उसी प्रकार विषयसेवनसे उत्पन्न मोहसे संयुक्त होकर तीव्र विषयतृष्णाजनित संतापको प्राप्त हुए तेरे लिये पेयादिके समान अणुव्रतादिका आचरण ही हितकर होगा।

श्लोक १०८ में कहा गया है कि परिग्रहोंका त्याग विवेकबुद्धिसे मोहके नष्ट करनेवाले जीवको इस प्रकारसे अजर-अमर कर देता है जिस प्रकार कि कुटीप्रवेश क्रिया विशुद्ध शरीरको करके प्राणीको अजर-अमर (दीर्घायु) कर देती है।

यह कुटीप्रवेश क्रिया क्या है, इसके लिये आयुर्वेद ग्रन्थोंमें कहा गया है कि रसायनोंका प्रयोग दो प्रकारका होता है कुटीप्रावेशिक और और वातातपिक। इनमें कुटीप्रावेशिक मुख्य है। कुटीका अर्थ झोंपड़ी होता है। तदनुसार आयुर्वेदिक उपकरणोंकी सुलभता युक्त नगरके भीतर किसी ऐसे भवनमें, जहां न वायुका संचार हो और न भयके कारण भी विद्यमान हों, उत्तरदिशागत उत्तम स्थानमें एकके भीतर दूसरी और दूसरीके भीतर तीसरी इस प्रकार तीन कोठरियोंवाली कुटीकी रचना कराना चाहिये। यह कुटी छोटे गवाक्षों (झरोखों) से सहित; धुआँ, धूप, धूलि, सर्प, स्त्री एवं मूर्ख जन आदिसे रहित; वैद्यके उपकरणों (औषधियां आदि) से सुसज्जित तथा साफ-सुथरी होना चाहिये। जो व्यक्ति उक्त क्रियाके करानेका इच्छुक है उसे किसी शुभ दिनमें पूज्य गुरुजनोंकी पूजा करके उस कुटीके भीतर प्रवेश करना चाहिये। उक्त रसायनके अभिलाषी व्यक्तिको पवित्र, सुखी,

बलवान्, ब्रह्मचारी, धैर्यशाली, श्रद्धालु, जितेन्द्रिय एवं दानादि धर्मकार्योंमें तत्पर होना चाहिये। साथ ही उसका औषधिमें अनुराग भी होना चाहिये[१]।

रसायन प्रारम्भ करानेके पूर्वमें हरीतकी (हरड) आदिके विरेचन-द्वारा मलस्थितिके अनुसार तीन, पांच अथवा सात दिन तक उसकी कोष्ठशुद्धि कराना चाहिये। तत्पश्चात् रसायनका प्रारम्भ कराना चाहिये। रसायनका अर्थ होता है श्रेष्ठ रस-रुधिरादिककी प्राप्तिका उपाय। इस रसायनके उपयोगसे मनुष्यको दीर्घ आयु, स्मृति, मेधा, आरोग्य, तारुण्य एवं तेज आदिकी प्राप्ति होती है[२]।

प्रकृत रसायनोंमें अनेक प्रकारके लेह आदि योगोंकी विधि, उनके उपयोग और उससे प्राप्त होनेवाले फलका पृथक् पृथक् विवेचन आयुर्वेद ग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है[३]।

श्लोक १८३ में मोहको व्रणके समान बतलाकर यह कहा गया है कि जिस प्रकार पुराना, शनि आदि ग्रहके दोषसे उत्पन्न, गहरा, गतियुक्त— शरीरके भीतर जाकर फैलनेवाला— और सरुज्[४] (पीड़ाप्रद) फोड़ा जात्यादि-

---

१. रसायनानां द्विविधं प्रयोगमृषयो विदुः। कुटीप्रावेशिकं मुख्यं वातातपिकमन्यथा ॥ निवाते निर्भये हर्म्ये प्राप्योपकरणे पुरे। दिश्युदीच्यां शुभे देशे त्रिगर्भां सूक्ष्मलोचनाम् ॥ धूमातप-रजोव्याल-स्त्रीमूर्खाद्यविलङ्घिताम्। सज्जवैद्योपकरणां सुमृष्टां कारयेत् कुटीम् ॥ अथ पुण्येऽह्नि संपूज्य पूज्यांस्तां प्रविशेच्छुचिः। तत्र संशोधनैः शुद्धः सुखी जातबलः पुनः॥ ब्रह्मचारी धृतियुतः श्रद्धानो जितेन्द्रियः। दान-शील-दया-सत्य-व्रत-धर्मपरायणः॥ देवतानुस्मृतौ युक्तो युक्तस्वप्न-प्रजागरः। प्रियौषधः पेशलवाक् प्रारभेत रसायनम् ॥ अष्टाङ्गहृदय ३९, ५-१०.

२. दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः। प्रभा-वर्ण-स्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलोदयम् ॥ वाक्सिद्धिं वृषतां कान्तिमवाप्नोति रसायनात्। लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम् ॥ अ. हृ. ३९, १-२.

३. इन रसायनोंका वर्णन वाग्भटविरचित अष्टाङ्गहृदय (अ. ३९) में श्लोक १५-१४४ में पाया जाता है।

४. सरुज् व्रणका स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है—

श्यामं सशोफं पिटिकान्वितं च मुहुर्मुहुः शोणितवाहितं च।
मृदूद्गतं बुद्बुदतुल्यमांसं व्रणं सशल्यं सरुजं वदन्ति ॥

योगरत्नाकर २, पृ. २९६.

घृत अथवा तेलसे शुद्ध होकर भर जाता है उसी प्रकार चिरकालीन, परिग्रहकी ममतासे उत्पन्न, महान्, नरकादि गतियोंसे संयुक्त और पीड़ाप्रद मोह भी परिग्रहपरित्यागसे शुद्ध होता है। यहां निर्दिष्ट किये गये जात्यादि घृतका विधान आयुर्वेदमें इस प्रकार उपलब्ध होता है—

जातीपत्र-पटोल-निम्बकटुका-दार्वी-निशा-सारिवा-
मञ्जिष्ठामय-तुत्थ-सिक्थ-मधुकैर्नक्ताह्वबीजान्वितैः।
सर्पिःसिद्धमनेन सूक्ष्मवदना मर्माश्रिताः स्राविणो
गम्भीराः सरुजो व्रणाः सगतिकाः शुद्ध्यन्ति रोहन्ति च ॥

योगरत्नाकर (मराठी अनुवाद सहित) २, पृ. २९२.

अर्थात् जातीके पत्ते, कटु परवल, कटु नीमकी छाल, कुटकी, दारु हलदी, हलदी, सरिवन, मंजीठा, हरड, तूतिया, मैन, मुलहठी और कंजीके बीज; इन सबसे सिद्ध किये गये घृतसे सूक्ष्म मुख(छेद)वाले, मर्मपर उत्पन्न हुए, बहनेवाले, गहरे घाववाले, ठनकनेवाले और भीतर फैलनेवाले व्रण (घाव) शुद्ध होकर भर जाते हैं। इस घृतकी उपर्युक्त औषधियोंमें चूंकि सर्वप्रथम जातीके पत्तोंका उल्लेख किया गया है, अतएव इसे जात्यादिघृत कहा जाता है।

इन्हीं औषधियोंमें कुछ कुष्ठ आदि अन्य औषधियोंको मिलाकर उन्हें तेलमें पकानेपर जात्यादितेल बनता है जो विषव्रण, फोड़ा, खुजली, कण्डू, विसर्प तथा कीड़ेके काटने, शस्त्रप्रहार एवं जलने आदिसे उत्पन्न हुए कितने ही प्रकारके घावोंमें उपयोगी होता है[२]।

१. यह अन्तिम चरण विशेष ध्यान देने योग्य है। इसकी समानता आत्मानुशासनके उक्त श्लोकसे देखिये—

पुराणो ग्रहदोषोत्थो गम्भीरः सगतिः सरुक्।
त्यागजात्यादिना मोह-व्रणः शुद्ध्यति रोहति ॥ १८३ ॥

२. जाती-निम्ब-पटोलानां नक्तमालस्य पल्लवाः। सिक्थकं मधुकं कुष्ठं द्वे निशे कटुरोहिणी ॥ मञ्जिष्ठा पद्मकं लोध्रमभया नीलमुत्पलम्। तुत्थकं सारिवाबीजं नक्तमालस्य च क्षिपेत् ॥ एतानि समभागानि पिष्ट्वा तैलं विपाचयेत्। विषव्रणसमुत्पत्तौ स्फोटेषु च सकच्छुषु ॥ कण्डू-विसर्परोगेषु कीटदष्टेषु सर्वथा। सद्यःशस्त्रप्रहारेषु दग्ध-विद्ध-क्षतेषु च ॥ नख-दन्तक्षते देहे दुष्टमांसावघर्षणे। व्रणमार्थमिदं तैलं हितं शोधन-रोपणम् ॥ योगरत्नाकर २, पृ. ३०१.

श्लोक १३३ में नारीके जघनरन्ध्रको कामदेवके आयुध (बाण) जन्य नाडीव्रणके समान निर्दिष्ट किया गया है। इस नाडीव्रणका स्वरूप आयुर्वेदमें इस प्रकार पाया जाता है—

यः शोफमाममतिपक्वमुपेक्षतेऽज्ञो यो वा व्रणं प्रचुरपूयमसाधुवृत्तः।
अभ्यन्तरं प्रविशति प्रविदार्य तस्य स्थानानि पूर्वविहितानि ततः स पूयः॥
तस्यातिमात्रगमनाद्गतिरिष्यते तु नाडीव यद्वहति तेन मता तु नाडी।
योगरत्नाकर. २, पृ. ३१३.

इसका अभिप्राय यह है कि जो अज्ञानी एवं असाधु आचरण करनेवाला वैद्य अतिशय पके हुए सूजनयुक्त फोड़ेको कच्चा समझकर उपेक्षा करता है तथा बहुत पीववाले घावकी भी उपेक्षा करता है उसकी पीव चूंकि पूर्वोक्त स्थानों (त्वचा, मांस, शिरा, स्नायु, सन्धि, हड्डी और मर्म) में अतिशय मात्रामें गति करती है— जाती है— इसलिये उसे गति माना जाता है तथा चूंकि वह नाडीके समान बहता है इसलिये उक्त व्रणको नाडी भी माना जाता है।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थके अन्तर्गत उपर्युक्त स्थलोंको देखते हुए यह भली भांति सिद्ध होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थके कर्ता श्री गुणभद्राचार्य आयुर्वेदके भी अच्छे ज्ञाता थे और उसका प्रभाव उनके इस ग्रन्थपर भी पर्याप्त मात्रामें पड़ा है।

आत्मानुशासनके काव्यगुण

किंवदन्ती है कि जब आचार्य जिनसेन स्वामीको अपने स्वर्ग-वासका समय निकट आता दिखा तब उन्हें अपने प्रारम्भ किये हुए महा-पुराणके पूर्ण होनेकी चिन्ता हुई। उस समय उन्होंने अपने योग्य दो शिष्योंको बुलाकर उनकी योग्यताकी परीक्षा करते हुए उन्हें संस्कृतमें अनूदित करनेके लिये यह वाक्य दिया— सूखा वृक्ष सामने है। इसका अनुवाद एकने 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' तथा दूसरेने 'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः' इस रूपसे किया। दूसरा अनुवाद प्रस्तुत ग्रन्थके रचयिता श्री गुणभद्राचार्यका था जो सरस एवं ललित पदयुक्त होनेसे आकर्षक था। उसे

देखकर जिनसेनाचार्यको यह विश्वास हो गया कि मेरा यह सुयोग्य शिष्य अपनी प्रतिभाके बलपर इस महापुराणको अवश्य पूरा करेगा। तदनुसार उन्होंने उसे पूरा किया भी है।

उपर्युक्त लोकश्रुतिमें कदाचित् ऐतिहासिक दृष्टिसे सत्यांश भले ही सम्भव न हो, परन्तु इस सत्यमें सन्देहके लिये कोई स्थान नहीं है कि प्रस्तुत ग्रन्थके निर्माता गुणभद्र उच्च कोटिके प्रतिभासम्पन्न कवि थे। उनकी यह कृति आध्यात्मिक होकर भी उत्कृष्ट काव्यके अन्तर्गत है। कविसम्प्रदायमें काव्यका लक्षण यह किया जाता है—

साधुशब्दार्थसंदर्भं गुणालंकारभूषितम्।
स्फुटरीति-रसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये॥

अर्थात् जिस रचनामें अनर्थकत्व आदि दोषसे रहित शब्दोंकी तथा देशविरुद्धत्व आदि दोषसे रहित अर्थकी योजना की गई हो, जो औदार्य आदि गुणों एवं अनुप्रासादिरूप शब्दालंकारों और उपमा-रूपकादि-स्वरूप अर्थालंकारोंसे अलंकृत हो, तथा प्रगट रीति व रसोंसे सुशोभित हो वह काव्य कहलाता है और वही कविकी कमनीय कीर्तिको दिगदिगन्तमें विस्तृत करता है।

काव्यका यह लक्षण प्रकृत आत्मानुशासनमें सर्वथा घटित होता है। उसमें की गई शब्द और अर्थकी योजना निर्दोष है। वह गुणोंसे भी शून्य नहीं हैं— वहां विविध स्थलोंमें औदार्य, प्रसत्ति एवं ओज आदि गुण भी पाये ही जाते हैं। इसके अतिरिक्त वह अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतप्रशंसा, श्लेष, विभावना एवं अर्थान्तरन्यास आदि अनेक अलंकारोंसे अलंकृत एवं रीति और रससे भी संयुक्त है। तथा उसमें जहां तहां विविध प्रकारके उपयुक्त छन्दोंका भी उपयोग उत्तम रीतिसे किया गया है। उदाहरणस्वरूप इस श्लोकको देखिये—

यमनियमनितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्मा
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकम्पी।

विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः ।।२२५।।

इसमें सरस अर्थ और पदोंकी योजना की गई है, अतएव यह माधुर्य गुणसे विभूषित है। साथ ही वह यम-नियम, नितान्त शान्त अन्त-रात्म, विहित-हित-मिताशी, जालं समूलं, तथा दहति निहत इत्यादि समान श्रुतिवाले अक्षरोंकी पुनरावृत्तिसे सहित होनेके कारण अनुप्रासा-लंकारसे अलंकृत है। यह अनुप्रासालंकार तो प्रायः समस्त ग्रन्थमें ही देखा जाता है। यह उन गुणभद्रकी भद्र वाणीकी विशेषता है। इस अनुप्रासका यह दूसरा भी स्थल देखिये—

प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः
प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः ।
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया
ब्रूयाद् धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः ।। ५ ।।

इस श्लोकमें प्रायः प्रत्येक विशेषणके प्रारम्भमें 'प्र'का प्रयोग बड़ी सुन्दरताके साथ किया गया है। इस शब्दकौशल्यके साथ अर्थकी विशेषता भी अतिशय ग्राह्य है[१]।

उपमालंकारका उदाहरण देखिये—

व्यापत्पर्वमयं विरामविरसं मूलेऽप्यभोग्योचितं
विष्वक् क्षुत्क्षतपातकुष्ठकुथिताद्युग्रामयैश्छिद्रितम् ।
मानुष्यं घुणभक्षितेक्षुसदृशं नाम्नैकरम्यं पुनः
निःसारं परलोकबीजमचिरात् कृत्वेह सारीकुरु ।। ८१ ।।

यहां मनुष्य पर्यायको घुणभक्षित इक्षुकी उपमाको ऐसे श्लेषात्मक विशेषणपदोंके द्वारा पुष्ट किया गया है जो दोनों ओर घटित होते हैं[२]।

१. अनुप्रास शब्दालंकारके उदाहरणस्वरुप अन्य भी निम्न श्लोक देखे जा सकते हैं— ५७,६१,८९,९१,१०१ आदि।

२. उपमालंकारसे विभूषित निम्न श्लोक भी द्रष्टव्य हैं—६३,७७, १२०, १२१,१२३,१२९,१७८ आदि।

यह अतिशयोक्तिसे अनुप्राणित अर्थान्तरन्यास अलंकारका उदाहरण है—

क्षितिजलधिभिः संख्यातीतैर्बहिः पत्रनैस्त्रिभिः
परिवृतमनः खेनाधस्तात् खलासुरनारकान् ।
उपरि दिविजान् मध्ये कृत्वा नरान् विधिमन्त्रिणा
पतिरपि नृणां त्राता नैको ह्यलङ्घ्यतमोऽन्तकः ॥ ७५ ॥

यहां विधि-मन्त्रीके द्वारा मनुष्योंके संरक्षणके लिये उक्त सामग्रीकी योजनाकी कल्पना असम्बन्धे सम्बन्धरूप अतिशयोक्ति अलंकार है और उसीके द्वारा 'ह्यलङ्घ्यतमोऽन्तकः' उक्तिकी सिद्धि की गई है, जिससे यहां अर्थान्तरन्यास अलंकार[1] बना है।

जन्म-तालद्रुमाज्जन्तु-फलानि प्रच्युतान्यधः ।
अप्राप्य मृत्यु-भूमागमन्तरे स्युः कियच्चिरम् ॥ ७४ ॥

यह रूपकालंकारसे अलंकृत है[2]।

पलितच्छलेन देहान्निर्गच्छति शुद्धिरेव तव बुद्धेः ।
कथमिव परलोकार्थं जरी वराकस्तदा स्मरति ॥ ८६ ॥

यहां पलितको छल कहकर बुद्धिके नैर्मल्यकी कल्पना की जानेसे अपह्नुति अलंकार समझना चाहिये[3]।

पुरा शिरसि धार्यन्ते पुष्पाणि विबुधैरपि ।
पश्चात् पादोऽपि नास्प्राक्षीत् किं न कुर्याद् गुणक्षतिः ॥ १३९ ॥

यहां अप्रकृत पुष्पोंकी गुणहीनताको दिखलाकर तपोभ्रष्ट साधुओंकी निन्दा की गई है, अतएव यह अप्रस्तुतप्रशंसालंकारसे अलंकृत है[4]।

१. अर्थान्तिरन्यासके ये उदाहरण भी देखे जा सकते हैं– ४४,७६,९३,११८, ११९,१३६,१३९ आदि ।

२. रूपकालंकारके अन्य भी उदाहरण सुलभ हैं । यथा— ८७,१३२,१७०, १८३ आदि ।

३. अपह्नुतिके उदाहरण स्वरूप १२६ आदि अन्य भी श्लोक देखने योग्य हैं।

४. इसके श्लोक १४० आदि अन्य भी उदाहरण हैं।

यह विभावनालंकारका उदाहरण देखिये—

अभुक्त्वापि परित्यागात् स्वोच्छिष्टं विश्वमाशितम् ।
येन चित्रं नमस्तस्मै कौमारब्रह्मचारिणे ॥ १०९ ॥

यहां भोजन रूप कारणके विना भी उच्छिष्टरूप कार्यके दिखलानेसे विभावना अलंकार समझना चाहिये । यहां श्लेषालंकारका भी चमत्कार है । यह श्लेषालंकारका भी उदाहरण देखिये—

यस्मिन्नस्ति स भूभृतो धृतमहावंशाः प्रदेशः परः
प्रज्ञापारमिता धृतोन्नतिधना मूर्ध्ना ध्रियन्ते श्रिये ।
भूयांस्तस्य भुजंगदुर्गमतमो मार्गो निराशस्ततो
व्यक्तं वक्तुमयुक्तमार्यमहतां सर्वार्थसाक्षात्कृतः ॥ ९६ ॥

यहां श्लेषरूपसे भाण्डागार और धर्म इन दोनोंका स्वरूप दिखलाया गया है ।

इस प्रकारसे यह आत्मानुशासनरूप कृति अनेक उत्तमोत्तम अलंकारोंसे अलंकृत होनेसे अतिशय मनोहर है ।



विषय-सूची

ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

गुणभद्र-देव-विरचितं

आत्मानुशासनम्

लक्ष्मीनिवासनिलयं विलीनविलयं निधाय हृदि वीरम्।
आत्मानुशासनमहं वक्ष्ये मोक्षाय भव्यानाम् ॥ १ ॥

वारं प्रणम्य भववारिनिधिप्रपोत-
मुद्योतिताखिलपदार्थमनल्पपुण्यम्।
निर्वाणमार्गमनवद्यगुणप्रबन्ध-
मात्मानुशासनपद प्रवर प्रवक्ष्ये ॥

बृहद्धर्मभ्रातुर्लोकसेनस्य विषयव्यामुग्धबुद्धे सबोधनव्याजेनसर्वसत्त्वोपकारक सन्मार्ग-सुपदर्शयितुकामो गुणभद्रदेवो निविघ्नत शास्त्रपरिसमाप्त्यादिक फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वाणो लक्ष्मात्याद्याह— अह वक्ष्य कथयिष्ये। किं तत्। आत्मानुशासनम् आत्मन शिक्षादायक शास्त्रम्। किं कृत्वा। निधाय धृत्वा। क। हृदि हृदये[1]। कम्। वीर विशिष्टाम् इन्द्राद्यसभविनाम् ईम् अन्तरङ्गा बहिरङ्गा[2] समवसरणानन्तचतुष्टयलक्षणां लक्ष्मीं राति आदत्त इति वार अन्तिमतार्थकर तीर्थकरसमुदायो वा तम्। कथभूतम्। लक्ष्मीनिवासनिलयं

जो वीर जिनेन्द्र लक्ष्मीके निवासस्थानस्वरूप हैं तथा जिनका पाप कर्म नष्ट हो चुका है उन्हे हृदयमे धारण करके मैं भव्य जीवोंको मोक्ष प्राप्तिके निमित्तभूत आत्मानुशासन अर्थात् आत्मस्वरूपकी शिक्षा देनेवाले इस ग्रन्थको कहूगा ॥ विशेषार्थ— यहा प्रस्तुत ग्रन्थके कर्ता श्री गुणभद्राचार्यने ग्रन्थके प्रारम्भमें अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्धमान जिनेन्द्रका स्मरण करके उस आत्मानुशासन ग्रन्थके रचनेकी प्रतिज्ञा की है जो भव्य जीवोंको आत्माके यथार्थ स्वरूपकी शिक्षा देकर उन्हें मोक्षकी प्राप्ति करा सके। यहा श्लोकमें मगलस्वरूपसे जिस 'वीर' शब्दका प्रयोग किया गया है उससे अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्धमान जिनेन्द्रका तो स्पष्टतया बोध होता ही

१ ज निधाय हृदि धृत्वा क हृदये। २ ज अन्तरङ्गबहिरङ्गा।

दुःखाद्बिभेषि नितरामभिवाञ्छसि सुखमतोऽहमप्यात्मन् ।
दुःखापहारि सुखकरमनुशास्मि तवानुमतमेव ॥ २ ॥

यतो वीरोऽतो लक्ष्मीनिवासस्थानम् । पुनरपि कथंभूतम् । विलीनविलयं विलीनो विनष्टो विलयो लब्धानन्तचतुष्टयस्वरूपात्प्रच्युतिर्यस्य । किमर्थं वक्ष्ये । मोक्षाय सकलकर्मविप्रमोचनाय । केषाम् । भव्यानां सम्यग्दर्शनादिसामग्रीं प्राप्य अनन्तचतुष्टयरूपतया भवनयोग्यानाम् ॥ १ ॥ शास्त्राभिधेये विनेयानां भयमुत्सार्य प्रवृत्त्यङ्गतामुपदर्शयन् दुःखादित्याह— नितराम् अत्यर्थम् । अतः यतो दुःखाद् बिभेषि सुखं च अभिवाञ्छसि अतः । अहम् अपि । हे आत्मन् । तवानुमतम् एव तव अभिमतम् एव । अनुशास्मि प्रतिपादयामि । कुतोऽनुमतम् एवम् ।

है, साथ ही उससे समस्त तीर्थंकरसमूहका भी बोध होता है। यथा— 'विशिष्टाम् ईं राति इति वीरः, तं वीरम्' इस निरुक्तिके अनुसार यहां वीर (वि-ई-र) पदमें स्थित 'वि' उपसर्ग का अर्थ 'विशिष्ट' है, ई शब्दका अर्थ है लक्ष्मी, तथा र का अर्थ देनेवाला है। इस प्रकार समुदायरूपमें उसका यह अर्थ होता है कि जो विशिष्ट अर्थात् अन्यमें न पायी जानेवाली समवसरणादिरूप बाह्य एवं अनन्तचतुष्टयरूप अन्तरंग लक्ष्मीको देनेवाला है वह वीर कहा जाता है। इस प्रकार चूंकि अन्तरंग और बहिरंग दोनों ही प्रकारकी लक्ष्मीसे सम्पन्न सब ही तीर्थंकर अपने दिव्य उपदेशके द्वारा भव्य जीवोंके लिये विशिष्ट लक्ष्मीके देनेमें समर्थ होते हैं अतएव वीर शब्दसे यहां उन सबका ही ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार मंगलरूपमें श्री वर्धमान जिनेन्द्र अथवा समस्त ही तीर्थंकरसमुदायका ध्यान करके ग्रन्थकर्ताने इस ग्रन्थके रचनेका यह प्रयोजन भी प्रगट कर दिया है कि चूंकि सब ही प्राणी सुखको चाहते हैं और दुखसे डरते हैं अतएव मैं उन भव्य जीवोंके लिये इस ग्रन्थके द्वारा उस आत्मतत्त्वकी शिक्षा दूंगा कि जिसके निमित्तसे वे जन्म-मरणके असह्य दुखसे छूटकर अविनश्वर एवं निर्बाध सुखको प्राप्त कर सकेंगे ॥ १ ॥

हे आत्मन् ! तू दुखसे अत्यन्त डरता है और सुखकी इच्छा करता है, इसलिये मैं भी तेरे लिये अभीष्ट उसी तत्त्वका प्रतिपादन करता हूं जो कि

यद्यपि कदाचिदस्मिन् विपाकमधुरं तदात्वकटु किंचित् ।
त्वं तस्मान्मा भैषीर्यथातुरो भेषजादुग्रात् ॥ ३ ॥

जना घनाश्च वाचालाः सुलभाः स्युर्वृथोत्थिताः ।
दुर्लभा ह्यन्तरार्द्रास्ते जगदभ्युज्जिहीर्षवः ॥ ४ ॥

यतो दुःखापहारि दुःखस्फेटकं सुखकरं च ॥ २ ॥ तच्च यद्यपि कदाचित्तदात्वकटु तथापि ततो मा भैषीस्त्वम् इत्याह— यद्यपीत्यादि । अस्मिन् शास्त्रे । कदाचित् कस्मिंश्चित् प्रघट्टके प्रतिपाद्यमानं किंचित् सम्यग्दर्शनादि । तदात्वकटु किंचित् प्रतिपाद्यं प्रतिपादनकाले अनुष्ठानकाले च दुःखदम् । यद्यपि । विपाकमधुरं फलानुभवनकाले सुखदम् । तस्मात् तदात्वकटुकात् । यथा आतुरः रोगी । भेषजात् औषधात् । उग्रात् रौद्रात् । न बिभेति तथा त्वं मा भैषीः । अथवा यथासौ ततो बिभेति तथा त्वं मा भैषीः ॥ ३ ॥ ननु उपदेष्टारो बहवः सन्ति तत्किं भवतां विफलप्रयासेन इति आह— जना इत्यादि । वाचालाः

तेरे दुखको नष्ट करके सुखको करनेवाला है ।। २ ।। यद्यपि इस (आत्मानुशासन) में प्रतिपादित किया जानेवाला कुछ सम्यग्दर्शनादिका उपदेश कदाचित् सुननेमें अथवा आचरणके समयमें थोडा-सा कडुआ (दुखदायक) प्रतीत हो सकता है, तो भी वह परिणाममें मधुर (हितकारक) ही होगा । इसलिये हे आत्मन् ! जिस प्रकार रोगी तीक्ष्ण (कडुवी) औषधिसे नहीं डरता है उसी प्रकार तू भी उससे डरना नहीं ।। विशेषार्थ— जिस प्रकार ज्वर आदिसे पीड़ित बुद्धिमान् मनुष्य उसको नष्ट करनेके लिये चिरायता आदि कडुवी भी औषधिको प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करता है उसी प्रकार संसारके दुखसे पीडित भव्य जीवोंको इस उपदेशको सुनकर प्रसन्नतापूर्वक तदनुसार आचरण करना चाहिये । कारण यह कि यद्यपि आचरणके समय वह कुछ कष्टकारक अवश्य दिखेगा तो भी उसका फल मधुर (मोक्षप्राप्ति) होगा ।। ३ ।। जिनका उत्थान (उत्पत्ति और प्रयत्न) व्यर्थ है ऐसे वाचाल मनुष्य और मेघ दोनों ही सरलतासे प्राप्त होते हैं। किन्तु जो भीतरसे आर्द्र (दयालु और जलसे पूर्ण) होकर जगत्का उद्धार करना

प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः
प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः।
प्रायःप्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया
ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः ॥ ५ ॥

असत्प्रलापिनः। वृथोत्थिताः विफलाटोपाः विफलप्रवृत्तयो वा। अन्तरार्द्राः सकरुणाः सजलाश्च। अभ्युज्जिहीर्षवः अभ्युद्धर्तुमिच्छवः ॥ ४ ॥ तर्हि कीदृग्गुणैः युक्तः उपदेष्टा भवतीति प्रश्ने 'प्राज्ञः' इत्यादि श्लोकद्वयम् आह— प्रज्ञा त्रिकालार्थविषया प्रतिपत्तिः। उक्तं च— 'मतिरप्राप्तिविषया बुद्धिः सांप्रतदर्शिनी। अतीतार्था स्मृतिर्ज्ञेया प्रज्ञा कालत्रयार्थगा ॥' सा अस्य अस्तीति प्राज्ञः। 'प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्यो णः' [जैनेन्द्रम. ४।१।२८] इति णः। प्राप्तेत्यादि। प्राप्तं परिज्ञातं समस्तशास्त्राणां हृदयम् अन्तस्तत्त्वं येन। प्रव्यक्तलोकस्थितिः प्रव्यक्ता परिस्फुटा लोकस्य जगतः प्राणिगणस्य वा स्थितिः स्थानं व्यवहारश्च यस्य। प्रास्ताशः प्रकर्षेण अस्ता स्फेटिता आशा लाभपूजादिवाञ्छा येन।

चाहते हैं ऐसे वे मनुष्य और मेघ दोनों ही दुर्लभ हैं ॥ विशेषार्थ– जो मेघ गरजते तो हैं, किन्तु जलहीन होनेसे वरसते नहीं हैं, वे सरलतासे पाये जाते हैं। परन्तु जो जलसे परिपूर्ण होकर वर्षा करनेके उन्मुख हैं, वे दुर्लभ ही होते हैं। ठीक इसी प्रकारसे जो उपदेशक अर्थहीन अथवा अनर्थकारी उपदेश करते हैं वे तो अधिक मात्रामें प्राप्त होते हैं, किन्तु जो स्वयं मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होकर दयार्द्रचित्त होते हुए अन्य उन्मार्गगामी प्राणियोंको उससे उद्धार करनेवाले सदुपदेशको करते हैं वे कठिनतासे ही प्राप्त होते हैं। ऐसे ही उपदेशकोंका प्रयत्न सफल होता है ॥ ४ ॥ जो त्रिकालवर्ती पदार्थोंको विषय करनेवाली प्रज्ञासे सहित है, समस्त शास्त्रोंके रहस्यको जान चुका है, लोकव्यवहारसे परिचित है, अर्थलाभ और पूजा-प्रतिष्ठा आदिकी इच्छासे रहित है, नवीन नवीन कल्पनाकी शक्तिरूप अथवा शीघ्र उत्तर देनेकी योग्यतारूप उत्कृष्ट प्रतिभासे सम्पन्न है, शान्त है, प्रश्न करनेके पूर्वमें ही वैसे प्रश्नके उपस्थित होनेकी सम्भावनासे उसके उत्तरको देख चुका है, प्रायः अनेक प्रकारके प्रश्नोंके उपस्थित होनेपर उनको सहन करनेवाला है

श्रुतमविकलं शुद्धा वृत्तिः परप्रतिबोधने
परिणतिरुरुद्योगो मार्गप्रवर्तनसद्विधौ।
बुधनुतिरनुत्सेको लोकज्ञता मृदुताऽस्पृहा
यतिपतिगुणा यस्मिन्नन्ये च सोऽस्तु गुरुः सताम् ॥ ६ ॥

प्रतिभापरः आशु उत्तरप्रतिपत्तिः प्रतिभा सा परा उत्कृष्टा यस्य। प्रशमवान् प्रकृष्टोपशमयुक्तः। प्रागेव दृष्टोत्तरः परपर्यनुयोगात् पूर्वमेव अवधारितोत्तरः यद्ययम् एवंविधं पर्यनुयोगं करिष्यति तदा एवं विधम् उत्तरं दास्यामीति। प्रायःप्रश्नसहः प्रचुरप्रश्नसहः। प्रभुः आदेयरूपः। परमनोहारो परचित्तानुरागजनकः परचित्तोपलक्षको वा। परानिन्दया परेषां दोषाभावनया यथावद्वस्तुस्वरूपमेव निरूपयन् धर्मकथां ब्रूयात् इत्यर्थः। गणी आचार्यः। गुणनिधिः अनेकगुणनिधानः। प्रस्पष्टेत्यादि। प्रकर्षेण स्पष्टानि व्यक्तानि मृष्टानि श्रोत्रमनःप्रियाणि अक्षराणि यस्य ॥ ५ ॥ श्रुतमित्यादि। श्रुतम् अविकलं परिपूर्णं निःसंदिग्धं वा यस्मिन् स गुरुः उपदेष्टा। तथा शुद्धा निरवद्या वृत्तिः चारित्रं मनोवाक्कायप्रवृत्तिर्वा। परप्रतिबोधने परिणतिः परिणामः प्रवीणता वा। उरुः महान् उद्योगः उद्यमः। केत्याह मार्गेत्यादि। मार्गं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणं प्रवर्तयति इति. मार्गप्रवर्तनः स चासौ सद्विधिश्च सन् शोभनो मायादिरहितो विधिः अनुष्ठानं यस्मिन्। बुधनुतिः बुधानां बुधैर्वा नुतिर्नमनम्।

अर्थात् न तो उनसे घबड़ाता है और न उत्तेजित ही होता है, श्रोताओंके ऊपर प्रभाव डालनेवाला है, उनके (श्रोताओंके) मनको आकर्षित करनेवाला अथवा उनके मनोगत भावको जाननेवाला है, तथा उत्तमोत्तम अनेक गुणोंका स्थानभूत है; ऐसा संघका स्वामी आचार्य दूसरोंकी निन्दा न करके स्पष्ट एवं मधुर शब्दोंमें धर्मोपदेश देनेका अधिकारी होता है ॥ ५ ॥ जिसके परिपूर्ण श्रुत है अर्थात् जो समस्त सिद्धान्तका जानकार है; जिसका चारित्र अथवा मन, वचन व कायकी प्रवृत्ति पवित्र है; जो दूसरोंको प्रतिबोधित करनेमें प्रवीण है, मोक्षमार्गके प्रचाररूप समीचीन कार्यमें अतिशय प्रयत्नशील है, जिसकी अन्य विद्वान् स्तुति करते हैं तथा जो स्वयं भी विशिष्ट विद्वानोंकी प्रशंसा एवं उन्हें नमस्कार आदि करता है, जो अभिमानसे रहित है, लोक और लोकमर्यादाका जानकार है, सरल परिणामी है, इस लोक

भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन् दुःखाद् भृशं भीतवान्[1]
सौख्यैषी श्रवणादिबुद्धिविभवः श्रुत्वा विचार्य स्फुटम्।

अनुत्सेकोऽनुद्धतः[२]। लोकज्ञता सचराचरजगत्परिज्ञानम्। मृदुता सेव्यता। अस्पृहा निस्स्पृहता। अन्ये च उक्तेभ्योऽपरेऽपि परमकरुणादयः। सतां हेयोपादेयविवेकपरिज्ञानार्थिनाम्॥ ६॥ यद्येवंविधः शास्ता शिष्यस्तर्हि कीदृशो भवतीत्याह— भव्य इत्यादि। विमृशन् पर्यालोचयन्।

सम्बन्धी इच्छाओंसे रहित है, तथा जिसमें और भी आचार्य पदके योग्य गुण विद्यमान हैं; वही हेयोपादेय-विवेकज्ञानके अभिलाषी शिष्योंका गुरु हो सकता है ॥ ६ ॥ जो भव्य है; मेरे लिये हितकारक मार्ग कौन-सा है, इसका विचार करनेवाला है; दुखसे अत्यन्त डरा हुआ है, यथार्थ सुखका अभिलाषी है, श्रवण आदिरूप बुद्धिविभवसे सम्पन्न है, तथा उपदेशको सुनकर और उसके विषयमें स्पष्टतासे विचार करके जो युक्ति व आगमसे सिद्ध ऐसे सुखकारक दयामय धर्मको ग्रहण करनेवाला है; ऐसा दुराग्रहसे रहित शिष्य धर्मकथाके सुननेमें अधिकारी माना गया है ॥ विशेषार्थ— यहां धर्मोपदेशके सुननेका अधिकारी कौन है, इस प्रकार श्रोताके गुणोंका विचार करते हुए सबसे पहिले यह बतलाया है कि वह भव्य होना चाहिये। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको प्राप्त करके भविष्यमें अनन्तचतुष्टयस्वरूपसे परिणत होनेवाला है वह भव्य कहलाता है। यदि श्रोता इस प्रकारका भव्य नहीं है तो उसे उपदेश देना व्यर्थ ही होगा। कारण कि जिस प्रकार पानीके सींचनेसे मिट्टी गीलेपनको प्राप्त हो सकती है उस प्रकार पत्थर नहीं हो सकता, अथवा जिस प्रकार नवीन घटके ऊपर जलबिन्दुओंके डालनेपर वह उन्हें आत्मसात् कर लेता है उस प्रकार घी आदिसे चिक्कणताको प्राप्त हुआ घट उन्हें आत्मसात् नहीं कर सकता है– वे इधर उधर बिखर कर नीचे गिर जाती हैं। ठीक यही स्थिति उस श्रोताकी भी है—जिस श्रोताका हृदय सरल है वह सदुपदेशको ग्रहण करके तदनुसार प्रवृत्ति करनेमें प्रयत्नशील होता है, किन्तु जिसका हृदय कठोर है उसके ऊपर सदुपदेशका कुछ भी प्रभाव

१ मु (नि. सा.) भीतिमान्। २ ज अनुद्धताः।

धर्मं शर्मकरं दयागुणमयं युक्त्यागमाभ्यां स्थितं
गृह्णन् धर्मकथां श्रुतावधिकृतः शास्यो[1] निरस्ताग्रहः ॥ ७ ॥

भृशम् अतिशयेन । श्रवणेत्यादि । श्रवणादयो बुद्धेर्विभवाः गुणविभूतयः यस्य । शुश्रूषा-श्रवणग्रहणधारणविज्ञानोहापोहतत्त्वाभिनिवेशा हि बुद्धिगुणाः । शर्मकरं सुखजनकम् । दया-

नहीं पड़ता । अतएव सबसे पहिले उसका भव्य होना आवश्यक है । दूसरी विशेषता उसकी यह निर्दिष्ट की गई है कि उसे हिताहितका विवेक होना चाहिये । कारण कि मेरा आत्मकल्याण किस प्रकारसे हो सकता है, यह विचार यदि श्रोताके रहता है तब तो वह सदुपदेशको सुनकर तदनुसार कल्याणमार्गमें चलनेके लिये उद्यत हो सकता है । परन्तु यदि उसे आत्महितकी चिन्ता अथवा हित और अहितका विवेक ही नहीं है तो वह मोक्षमार्गमें प्रवृत्त नहीं हो सकेगा । किन्तु जब और जिस प्रकारका अनुकूल या प्रतिकूल उपदेश उसे प्राप्त होगा तदनुसार वह अस्थिरतासे आचरण करता रहेगा । इस प्रकारसे वह दुखी ही बना रहेगा । इसीलिये उसमें आत्महितका विचार और उसके परीक्षणकी योग्यता अवश्य होना चाहिये । इसी प्रकार उसे दुखका भय और सुखकी अभिलाषा भी होनी चाहिये, अन्यथा यदि उसे दुखसे किसी प्रकारका भय नहीं है या सुखकी अभिलाषा नहीं है तो फिर भला वह दुखको दूर करनेवाले सुखके मार्गमें प्रवृत्त ही क्यों होगा? नहीं होगा । अतएव उसे दुखसे भयभीत और सुखाभिलाषी भी अवश्य होना चाहिये । इसके अतिरिक्त उसमें निम्न प्रकार बुद्धिका विभव या श्रोताके आठ गुण भी होने चाहिये— "शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा । स्मृत्यूहापोहनिर्णीतिः श्रोतुरष्टौ गुणान् विदुः ॥" सबसे पहिले उसे उपदेश सुननेकी उत्कंठा (शुश्रूषा) होनी चाहिये, अन्यथा तदनुसार आचरण करना तो दूर रहा किन्तु वह उसे रुचिपूर्वक सुनेगा भी नहीं । अथवा शुश्रूषासे अभिप्राय गुरूकी सेवाका भी हो

१ स शस्यो ।

पापाद् दुःखं धर्मात् सुखमिति सर्वजनसुप्रसिद्धमिदम्।
तस्माद्विहाय पापं चरतु सुखार्थी सदा धर्मम्॥ ८॥

गुणमयं दयागुणेन निर्वृत्तं दयागुणैर्वा प्रकृतः यत्र। युक्त्या प्रमाणनयात्मिकया। अधिकृतः योग्यः। शास्यः प्रतिपाद्यः। निरस्ताग्रहः दुराग्रहरहितः॥ ७॥ एवंविधः शिष्यो गुरूपदेशात्सुखार्थितया धर्मोपार्जनार्थमेव प्रवर्तताम्। यतः—पापादित्यादि। इति एवम्। चरतु अनुतिष्ठतु॥ ८॥ धर्मं वा चरता सर्वेणापि विशिष्टसुखप्राप्त्यर्थिना विचार्याप्तः

सकता है, क्योंकि वह भी ज्ञानप्राप्तिका साधन है। इसके अनन्तर श्रवण (सुनना), सुने हुए अर्थको ग्रहण करना, ग्रहण किये हुए अर्थको हृदयमें धारण करना, उसका स्मरण रखना, उसके योग्यायोग्यका युक्तिपूर्वक विचार करना, इस विचारसे जो योग्य प्रमाणित हो उसे ग्रहण करके अयोग्य अर्थको छोड़ना, तथा योग्य तत्त्वके विषयमें दृढ रहना; ये श्रोताके आठ गुण हैं जो उसमें होने चाहिये। उपर्युक्त गुणोंके अतिरिक्त श्रोतामें हठाग्रहका अभाव भी होना चाहिये, क्योंकि यदि वह हठाग्रही है तो वह यथावत् वस्तुस्वरूपका विचार नहीं कर सकेगा। कहा भी है— "आग्रही बत निनीषति युक्तिं तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा। पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥" अर्थात् दुराग्रही मनुष्यने जो पक्ष निश्चित कर रखा है वह युक्तिको उसी ओर ले जाना चाहता है। किन्तु जो आग्रहसे रहित होकर निष्पक्ष दृष्टिसे विचार करना चाहता है वह युक्तिका अनुसरण करके उसके ऊपर विचार करता और तदनुसार वस्तुस्वरूपका निश्चय करता है। इस प्रकार जिस श्रोतामें ये गुण विद्यमान होंगे वह सुरुचिपूर्वक धर्मोपदेशको सुन करके तदनुसार आत्महितके मार्गमें अवश्य प्रवृत्त होगा॥ ७॥

पापसे दुख और धर्मसे सुख होता है, यह बात सब जनोंमें भले प्रकार प्रसिद्ध है— इसे सब ही जानते हैं। इसलिये जो भव्य प्राणी सुखकी अभिलाषा करता है उसे पापको छोड़कर निरन्तर धर्मका आचरण करना चाहिये॥ ८॥ सब प्राणी शीघ्र ही यथार्थ सुखको प्राप्त करनेकी

सर्वः प्रेप्सति सत्सुखाप्तिमचिरात् सा सर्वकर्मक्षयात्
सद्वृत्तात् स च तच्च बोधनियतं सोऽप्यागमात् स श्रुतेः ।
सा चाप्तात् स च सर्वदोषरहितो रागादयस्तेऽप्यतः
तं युक्त्या सुविचार्य सर्वसुखदं सन्तः श्रयन्तु श्रियै ॥ ९ ॥

कश्चित्समाश्रयणीयः तन्मूलकारणत्वात् तत्प्राप्तेः । एतदेवाह— सर्व इत्यादि । प्रेप्सति प्रकर्षेण वाञ्छति । काम् । सत्सुखाप्तिं मोक्षसुखाप्तिम् । अचिरात् संक्षेपेण । सद्वृत्तात् सम्यक्चारित्रात् । तच्च बोधनियतं ज्ञानायत्तम् । स श्रुतेः स आगमः श्रुतेः आकर्णनात् । आकर्ण्यमानो हि आगमः कार्यकारी भवति सद्व्यवहारं च भजते । [सा चाप्तात् । स च] सर्वदोषरहितः । सर्वे दोषा रागादयोऽष्टादश–'क्षुधा तृषा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम् । जरा रुजा च मृत्युश्च खेदः स्वेदो मदो रतिः ॥ विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवाः । त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषाः साधारणा इमे ॥ एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः ।' इत्यभिधानात् । अतः यतः परम्परया सत्सुखाप्तेराप्तो मूलमतः । तम् इत्थंभूतम् आप्तम् । युक्त्या प्रमाणोपपत्त्या । सुविचार्य जिन-सुगत-ईश्वर-ब्रह्म-कपिलेषु आप्तत्वेन परिकल्पितेषु मध्ये क एवंविधगुणसंपन्नो घटते इति निपुणरूपतया परीक्ष्य ।

इच्छा करते हैं, वह सुखकी प्राप्ति समस्त कर्मोंका क्षय हो जानेपर होती है, वह कर्मोंका क्षय भी सम्यक्चारित्रके निमित्तसे होता है, वह सम्यक्चारित्र भी सम्यग्ज्ञानके अधीन है, वह सम्यग्ज्ञान भी आगमसे प्राप्त होता है, वह आगम भी द्वादशांगरूप श्रुतके सुननेसे होता है, वह द्वादशांग श्रुत भी आप्तसे आविर्भूत होता है, आप्त भी वही हो सकता है जो समस्त दोषोंसे रहित है, तथा वे दोष भी रागादिस्वरूप हैं। इसलिये सुखके मूल कारणभूत आप्तका (देवका) युक्ति (परीक्षा) पूर्वक विचार करके सज्जन मनुष्य बाह्य एवं अभ्यन्तर लक्ष्मीको प्राप्त करनेके लिये सम्पूर्ण सुख देनेवाले उसी आप्तका आश्रय करें ॥ विशेषार्थ– यहां यह बतलाया है कि क्षुधा-तृषा आदि अठारह दोषोंसे रहित आप्तकी दिव्यध्वनिको सुनकर गणधरोंके द्वारा द्वादशांग श्रुतकी रचना की जाती है। उसको सुनकर आरातीय आचार्य आगमका प्रणयन करते हैं जिसके कि अभ्याससे साधारण प्राणियोंको हिताहितका बोध प्राप्त होता

श्रद्धानं द्विविधं त्रिधा दशविधं मौढ्याद्यपोढं सदा
संवेगादिविवर्धितं भवहरं त्र्यज्ञानशुद्धिप्रदम्।

सर्वसुखदं सर्वसुखं परिपूर्णं मोक्षसुखं तस्य दायकं सर्वेषां वा प्राणिनां सुखदायकम्। श्रयन्तु आश्रयन्तु आराधयन्तु। श्रिये बाह्याभ्यन्तरलक्ष्मीसिद्धयर्थं ॥ ९ ॥ तत्सिद्धयै च तेन भगवता सतामुपायः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपआराधनारूपो दर्शितस्तत्र सम्यग्दर्शनाराधनास्वरूपं दर्शयन्नाह— श्रद्धानमित्यादि। श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मनः स्वरूपम्। तत् द्विविधं तावत् नैसर्गिकमधिगमं च। त्रिधा औपशमिकं क्षायिकं क्षायोप-

है। इस प्रकार जब प्राणीको हिताहितविवेकके साथ वस्तुस्थितिका ज्ञान हो जाता है तब उसका सम्यक्‌चरित्र (तप-संयम आदि) की ओर झुकाव होता है और इससे वह सम्पूर्ण कर्मोंको आत्मासे पृथक् करके शीघ्र ही अविनश्वर निराकुल सुखको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार परम्परासे उसके मनोरथकी पूर्तिका मूल कारण रागादि दोषोंसे रहित सर्वदर्शी आप्त ही ठहरता है। अतएव सुखाभिलाषी प्राणियोंको ऐसे ही आप्तका स्मरण, चिन्तन एवं उपासना आदि करनी चाहिये ॥ ९ ॥ तत्त्वार्थ-श्रद्धानका नाम सम्यग्दर्शन है। वह निसर्गज और अधिगमजके भेदसे दो प्रकारका; औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकके भेदसे तीन प्रकारका; तथा आगे कहे जानेवाले आज्ञासम्यक्त्व आदिके भेदसे दस प्रकारका भी है। मूढता आदि (३ मूढता, ८ मद, ६ अनायतन और ८ शंका-कांक्षा आदि) दोषोंसे रहित होकर संवेग आदि गुणोंसे वृद्धिको प्राप्त हुआ वह श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) निरन्तर संसारका नाशक; कुमति, कुश्रुत एवं विभंग इन तीन मिथ्याज्ञानोंकी शुद्धि (समीचीनता) का कारण; तथा जीवाजीवादि सात अथवा इनके साथ पुण्य और पापको लेकर नौ तत्त्वोंका निश्चय करानेवाला है। वह सम्यग्दर्शन स्थिर मोक्षरूप भवनके ऊपर चढ़नेवाले बुद्धिमान् शिष्योंके लिये प्रथम सीढ़ीके समान है। इसीलिये इसे चार आराधनाओंमें प्रथम आराधनास्वरूप कहा जाता है ॥ विशेषार्थ— यहां सम्यग्दर्शनके जो दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं वे हैं

निश्चिन्वन् नव सप्ततत्त्वमचलप्रासादमारोहतां
सोपानं प्रथमं विनेयविदुषामाद्येयमाराधना ॥ १० ॥

शमिकं च। दशविधं वक्ष्यमाणाज्ञासम्यक्त्वादिभेदात्। मौढ्याद्यपोढं मौढ्यादिभिः पञ्चविंशतिदोषैः रहितम्। के ते मौढ्यादयो दोषा इत्याह— 'मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट्। अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ॥' मूढत्रयं लोक-समय-देवतामूढलक्षणम्। अष्टमदा जाति-कुलैश्वर्यादयः। षडनायतनानि मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्राणि त्रीणि त्रयश्च तद्वन्तः पुरुषाः। अथवा असर्वज्ञ-असर्वज्ञायतन-असर्वज्ञज्ञान-असर्वज्ञज्ञानसमवेतपुरुषाऽसर्वज्ञानुष्ठानाऽ-

निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शन। इनमें जो तत्त्वार्थश्रद्धान साक्षात् बाह्य उपदेश आदिकी अपेक्षा न करके स्वभावसे ही उत्पन्न होता है उसे निसर्गज तथा जो बाह्य उपदेशकी अपेक्षासे उत्पन्न होता है उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं। प्रत्येक कार्य अन्तरङ्ग और बाह्य इन दो कारणोंसे उत्पन्न होता है। तदनुसार यहां सम्यग्दर्शनका अन्तरङ्ग कारण जो दर्शनमोहनीयका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम है वह तो इन दोनों ही सम्यग्दर्शनोंमें समान है। विशेषता उन दोनोंमें इतनी ही है कि निसर्गज सम्यग्दर्शन साक्षात् बाह्य उपदेशकी अपेक्षा न करके जिन-महिमा आदिके देखनेसे प्रगट हो जाता है, परन्तु अधिगमज सम्यग्दर्शन बाह्य उपदेशके विना नहीं प्रगट होता है। इसके आगे जो उसके तीन भेद निर्दिष्ट किये हैं वे अन्तरङ्ग कारणकी अपेक्षासे हैं। यथा— जो सम्यग्दर्शन अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे उत्पन्न होता है उसे औपशमिक तथा जो इन्हीं सात प्रकृतियोंके क्षयसे उत्पन्न होता है उसे क्षायिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इनके उदयाभावी क्षय व सदवस्थारूप उपशमसे तथा देशघाती स्पर्धकस्वरूप सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसे क्षायोपशमिक कहा जाता है। आगे जो यहां उस सम्यग्दर्शनके दस भेदोंका निर्देश किया है उनका वर्णन

सर्वज्ञानुष्ठानसमवेतपुरुषलक्षणानि। अष्टौ शङ्कादयः शङ्का काङ्क्षा विचिकित्सा मूढदृष्टिरनुपगूहनमस्थितीकरणमवात्सल्यमप्रभावना इति। संवेगादिविवर्धितं संवेगः संसारभीरुता धर्मे धर्मफलदर्शने च हर्षो वा। आदिशब्दाद्वैराग्यनिन्दागर्हादयो गृह्यन्ते। ते विशेषेण वर्धिता वृद्धिं नीता येन तैर्वा विवर्धितं निर्मलरूपतया प्रकर्षंनीतम्। भवहरं संसारविनाशकम्।

ग्रन्थकार स्वयं ही आगे करेंगे, अतएव उनके सम्बन्धमें यहां कुछ नहीं कहा जा रहा है। जिन दोषोंके कारण यह सम्यग्दर्शन मलिनताको प्राप्त होता है वे पच्चीस दोष निम्न प्रकार हैं— ३ मूढता, ८ मद, ६ अनायतन और ८ शंका आदि। मूढताका अर्थ अज्ञानता है। वह मूढता तीन प्रकारकी है। (१) लोकमूढता— कल्याणकारी समझकर गंगा आदि नदियों अथवा समुद्रमें स्नान करना, वालु या पत्थरोंका स्तूप बनाना, पर्वतसे गिरना, तथा अग्निमें जलकर सती होना आदि। (२) देवमूढता— अभीष्ट फल प्राप्त करनेकी इच्छासे इसी भवमें आशायुक्त होकर राग-द्वेषसे दूषित देवताओंकी आराधना करना। (३) गुरुमूढता— जो परिग्रह, आरम्भ एवं हिंसासे सहित तथा संसारपरिभ्रमणके कारणीभूत विवाहादि कार्योंमें रत हैं ऐसे मिथ्यादृष्टि साधुओंकी प्रशंसा आदि करना। कहीं कहीं इस गुरुमूढताके स्थानमें समयमूढता पायी जाती है जिसका अभिप्राय है समीचीन और मिथ्या शास्त्रोंकी परीक्षा न कर कुमार्गमें प्रवृत्त करनेवाले शास्त्रोंका अभ्यास करना। ज्ञान, प्रतिष्ठा, कुल (पितृवंश), जाति (मातृवंश), शारीरिक बल, धन-सम्पत्ति, अनशनादिस्वरूप तप और शरीरसौन्दर्य इन आठके विषयमें अभिमान प्रगट करनेसे आठ मद होते हैं। अनायतनका अर्थ है धर्मका अस्थान। वे अनायतन छह हैं— कुगुरु, कुदेव, कुधर्म, कुगुरुभक्त, कुदेवभक्त और कुधर्मभक्त। निर्मल सम्यग्दृष्टि जीव राजा आदिके भयसे, आशासे, स्नेहसे तथा लोभसे भी कभी इनकी प्रशंसा आदि नहीं करता है। ८ शंका आदि— (१) शंका— सर्वज्ञ देवके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वके विषयमें ऐसी आशंका रखना कि जिस प्रकार

त्र्यज्ञानशुद्धिप्रदं त्रीणि अज्ञानानि कुमति-श्रुतावधयः तेषां शुद्धिप्रदं समीचीनताकरम्। निश्चिन्वन् निश्चितं विषयतां नयन्। जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वमिति सप्त तत्त्वानि पुण्यपापपदार्थाभ्यां सहितानि नव पदार्था उच्यन्ते। अचलप्रासादं न चलन्ति प्राणिनो

यहां अमुक तत्त्वका स्वरूप बतलाया गया है क्या वह वास्तवमें ऐसा ही है अथवा अन्य प्रकार है। (२) कांक्षा— पाप एवं दुखके कारणीभूत कर्माधीन सांसारिक सुखको स्थिर समझकर उसकी अभिलाषा रखना। (३) विचिकित्सा— मुनि आदिके मलिन शरीरको देखकर उससे घृणा करना। यद्यपि यह मनुष्यशरीर स्वभावतः अपवित्र है, फिर भी चूंकि सम्यग्दर्शन आदिरूप रत्नत्रयका लाभ एक मात्र इसी मनुष्यशरीरसे हो सकता है अतएव वह घृणाके योग्य नहीं है। यदि वह घृणाके योग्य है तो केवल विषयभोगकी दृष्टिसे ही है, न कि आत्मस्वरूपलाभकी दृष्टिसे। (४) मूढदृष्टि— कुमार्ग अथवा कुमार्गगामी जीवोंकी मन, वचन अथवा कायसे प्रशंसा करना। (५) अनुपगूहन— अज्ञानी अथवा अशक्त (व्रतादिके परिपालनमें असमर्थ) जनोंके कारण पवित्र मोक्षमार्गके विषयमें यदि किसी प्रकारकी निन्दा होती हो तो उसके निराकरणका प्रयत्न न करके उसमें सहायक होना। (६) अस्थितीकरण— मोक्ष-मार्गसे डिगते हुए भव्य जीवोंको देख करके भी उन्हें उसमें दृढ़ करनेका प्रयत्न न करना। (७) अवात्सल्य— धर्मात्मा जीवोंका अनुरागपूर्वक आदर-सत्कार आदि न करना, अथवा उसे कपटभावसे करना। (८) अप्रभावना— जैनधर्मके विषयमें यदि किन्हींको अज्ञान अथवा विपरीत ज्ञान है तो उसे दूर करके उसकी महिमाको प्रकाशित करनेका उद्योग न करना। इस प्रकार ये सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष हैं जो उसे मलिन करते हैं। इतना यहां विशेष समझना चाहिये कि इन दोषोंकी सम्भावना केवल क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनके विषयमें ही हो सकती है, कारण कि वहां सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय रहता है। औपशमिक और क्षायिक

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात्
विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढं च ॥ ११ ॥
आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञयैव
त्यक्तग्रन्थप्रपञ्चं शिवममृतपथं श्रद्दधन्मोहशान्तेः ।

यस्मादसौ अचलः स चासौ प्रासादश्च मोक्षस्तम् आरोहतां चटताम् । विनेयविदुषां शिष्यपण्डितानाम् ॥१०॥ इदानीं दशविधसम्यक्त्वसूचनाय 'आज्ञेत्यादि' संग्रहश्लोकमाह ॥११॥ अस्यैव विवरणार्थमाज्ञासम्यक्त्वमित्याद्याह— यदुत उत अहो यत् विरुचितं श्रद्धानम् । वीतरागाज्ञयैव शास्त्रपठनमन्तरेण सर्वज्ञवचनोपदेशमात्रेणैव वीतरागाज्ञयेति । वा इव(?) गाढसम्यग्दर्शनपर्यन्तं सर्वत्र संबन्धनीयम् । कथं विरुचितम् । त्यक्तग्रन्थप्रपञ्चं ग्रन्थश्रवणं विना ।

सम्यग्दर्शनके विषयमें उक्त दोषोंकी सम्भावना नहीं है। श्लोकमें जिन संवेग आदि गुणोंसे इस सम्यग्दर्शनको वृद्धिंगत बतलाया है वे ये हैं— (१) संवेग अर्थात् संसारके दुखोंसे निरन्तर भयभीत रहना, अथवा धर्ममें अनुराग रखना। (२) निर्वेद– संसार, शरीर एवं भोगोंसे विरक्ति। (३) निन्दा– अपने दोषोंके विषयमें पश्चात्ताप करना। (४) गर्हा– किये गये दोषोंको गुरुके आगे प्रगट करके निन्दा करना। (५) उपशम– क्रोधादि विकारोंको शान्त करना। (६) भक्ति– सम्यग्दर्शन आदिके विषयमें अनुराग रखना। (७) वात्सल्य– धर्मात्मा जनसे प्रेमपूर्ण व्यवहार करना। (८) अनुकम्पा– प्राणियोंके विषयमें दयाभाव रखना। इस प्रकार इन गुणोंसे सहित और उपर्युक्त पच्चीस दोषोंसे रहित वह सम्यग्दर्शन मोक्षरूपी प्रासादकी प्रथम सीढ़ीके समान है। इसीलिये उसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप इन चार आराधनाओंमें प्रथम स्थान प्राप्त है ॥ १० ॥

वह सम्यग्दर्शन आज्ञासमुद्भव, मार्गसमुद्भव, उपदेशसमुद्भव, सूत्रसमुद्भव, बीजसमुद्भव, संक्षेपसमुद्भव, विस्तारसमुद्भव, अर्थसमुद्भव, अवगाढ और परमावगाढ; इस प्रकारसे दस प्रकारका है ॥ ११ ॥ दर्शनमोहके उपशान्त होनेसे ग्रन्थश्रवणके विना केवल वीतराग भगवान्की आज्ञासे ही जो तत्त्वश्रद्धान उत्पन्न होता है उसे आज्ञासम्यक्त्व कहा गया है।

मार्गश्रद्धानमाहुः पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता
या संज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिरुपदेशादिरादेशि दृष्टिः ॥ १२ ॥
आकर्ण्याचारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूचनं श्रद्दधानः
सूक्तासौ सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजैः ।
कैश्चिज्जातोपलब्धेरसमशमवशाद्बीजदृष्टिः पदार्थान्
संक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमुपगतवान् साधु संक्षेपदृष्टिः ॥ १३ ॥

तथा मार्गश्रद्धानमाहुः विरुचितम् । किं कुर्वन् । श्रद्दधत् प्रतीतिं कुर्वन् । कम् अमृतपथं मोक्षपथम् । किंविशिष्टम् । शिवम् अनन्तसुखहेतुम् अबाध्यमानतया वा प्रशस्तम् । तथा त्यक्तग्रन्थप्रपञ्चं निर्ग्रन्थतालक्षणम् । कुतः श्रद्दधत् प्रतीतिं कुर्वन् । मोहशान्तेः दर्शनमोहोपशमादेः । एतच्च प्रागुत्तरत्र च संबन्धनीयम् । पुरुषेत्यादि । पुरुषवराः त्रिषष्टिशलाकापुरुषाः तेषां पुराणानि तदुपदेशाज्जाता प्रथमानुयोगपरिज्ञानात् उत्पन्नेत्यर्थः । संज्ञानेत्यादि । समीचीनं ज्ञानं यस्यासौ संज्ञानः स चासौ आगमश्च स एव अब्धिः तत्र प्रसृतिभिः प्रवीणैः गणधरदेवादिभिस्तस्य वा प्रसृतिः प्रसरणं येभ्यस्तीर्थकरेभ्यस्तैः । उपदेशादिदृष्टिः उपदेशशब्दः आदौ यस्य दृष्टेः उपदेशदृष्टिः इत्यर्थः । आदेशि उपदिष्टा ॥ १२ ॥ आकर्ण्येत्यादि । मुनिचरणविधेः मुनीनां चरणं चारित्रं तस्य विधेः प्रकारस्य करणस्य वा । सूचनं प्रतिपादकम् । श्रद्दधानः श्रद्धानं परिणतः । प्रतिपत्तिर्विभेदवृत्त्या शक्त्या [सूक्तासौ] शोभना सा सूत्रदृष्टिः उक्ता । दुरधिगमेत्यादि । जातोपलब्धेः पञ्चसंग्रहादिकरणानुयोगपरिज्ञानवतो भव्यस्य । कैः कृत्वा जातोपलब्धेः । बीजैः बीजपदैः कैश्चिद्विवक्षितैः । कस्य बीजपदैः । अर्थसार्थस्य जीवाद्यर्थसंघातस्य । कथंभूतस्य । दुरधिगमगतेः अतिसूक्ष्मादिरूपतया दुरधिगमा महता कष्टेन प्राप्या संवेद्या वा गतिः प्रतिपत्तिर्यस्य । असमशमवशात् अद्वितीयदर्शनमोहोपशमवशात् ।

दर्शनमोहका उपशम होनेसे ग्रन्थश्रवणके विना जो कल्याणकारी मोक्षमार्गका श्रद्धान होता है उसे मार्गसम्यग्दर्शन कहते हैं। तिरेसठ शलाकापुरुषोंके पुराण (वृत्तान्त) के उपदेशसे जो सम्यग्दर्शन (तत्त्वश्रद्धान) उत्पन्न होता है उसे सम्यग्ज्ञानको उत्पन्न करनेवाले आगमरूप समुद्रमें प्रवीण गणधर देवादिने उपदेशसम्यग्दर्शन कहा है ॥ १२ ॥ मुनिके चरित्र (सकलचरित्र) के अनुष्ठानको सूचित करनेवाले आचारसूत्रको सुनकर जो तत्त्वश्रद्धान होता है उसे उत्तम सूत्रसम्यग्दर्शन कहा गया है। जिन जीवादि पदार्थोंके समूहका अथवा गणितादि विषयोंका ज्ञान दुर्लभ है उनका किन्हीं बीजपदोंके द्वारा ज्ञान प्राप्त करनेवाले भव्य

यः श्रुत्वा द्वादशाङ्गीं कृतरुचिरथ तं[1] विद्धि विस्तारदृष्टिं
संजातार्थात्कुतश्चित्प्रवचनवचनान्यन्तरेणार्थदृष्टिः[2]।
दृष्टिः साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढा
कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रूढा ॥ १४ ॥

सा बीजदृष्टिः। पदार्थानित्यादि। तत्त्वार्थसिद्धान्तसूत्रलक्षणद्रव्यानुयोगद्वारेण पदार्थान् जीवादीन् संक्षेपेणैव बुद्ध्वा तेषु रुचिम् उपगतवान् आत्मैव अभेदवृत्त्या साधु समीचीना[3] संक्षेपदृष्टिः उच्यते ॥ १३ ॥ यः श्रुत्वेत्यादि। द्वादशाङ्गानां समाहारो द्वादशाङ्गी तां श्रुत्वा। तत्प्रतिपादितेषु अर्थेषु यः कृतरुचिः। अथ अहो। तमात्मानम् अभेदवृत्त्या विद्धि जानीहि विस्तारदृष्टिम्। संजातेत्यादि। अर्थात् कुतश्चित् अङ्गबाह्यप्रवचनप्रतिपादितात्। प्रवचन-

जीवके जो दर्शनमोहनीयके असाधारण उपशमवश तत्त्वश्रद्धान होता है उसे बीजसम्यग्दर्शन कहते हैं। जो भव्य जीव पदार्थोंके स्वरूपको संक्षेपसे ही जान करके तत्त्वश्रद्धान (सम्यग्दर्शन) को प्राप्त हुआ है उसके उस सम्यग्दर्शनको संक्षेपसम्यग्दर्शन कहा जाता है ॥ १३ ॥ जो भव्य जीव बारह अंगोंको सुनकर तत्त्वश्रद्धानी हो जाता है उसे विस्तारसम्यग्दर्शनसे युक्त जानो, अर्थात् द्वादशांगके सुननेसे जो तत्त्वश्रद्धान होता है उसे विस्तारसम्यदर्शन कहते हैं। अंगबाह्य आगमोंके पढनेके विना भी उनमें प्रतिपादित किसी पदार्थके निमित्तसे जो अर्थश्रद्धान होता है वह अर्थसम्यग्दर्शन कहलाता है। अंगोंके साथ अंगबाह्य श्रुतका अवगाहन करके जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसे अवगाढसम्यग्दर्शन कहते हैं। केवलज्ञानके द्वारा देखे गये पदार्थोंके विषयमें रुचि होती है वह यहां परमावगाढसम्यग्दर्शन इस नामसे प्रसिद्ध है ॥ विशेषार्थ— श्लोक १२, १३ और १४ में सम्यग्दर्शनके जिन दस भेदोंका स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है वे प्रायः उत्तरोत्तर विकासको प्राप्त हुए हैं। यथा— प्रथम आज्ञा-सम्यक्त्वमें जीव शास्त्राभ्यासके विना केवल सर्वज्ञ वीतराग देवकी आज्ञापर ही विश्वास करता है। उसे यह निश्चल श्रद्धान होता है कि जिनेन्द्र देव

१ स तां। २. (नि. सा.)प्रतिपाठोऽयम्, ज स रचना। ३ स समीचीन।

वचनान्यन्तरेण अङ्गबाह्यप्रवचनश्रवणं विना द्वादशाङ्गविदः विशिष्टक्षयोपशमवशात् संजाता अर्थदृष्टिरुच्यते। साङ्गेत्यादि। सह अङ्गैर्वर्तते इति साङ्गं तच्च तत् अङ्गबाह्य[प्र]वचनं च। तदवगाह्य ज्ञात्वा। उत्थिता उत्पन्ना॥ १४॥ ननु चतुर्विधाराधनासु मध्ये सम्यक्त्वाराधना

चूंकि सर्वज्ञ और वीतराग (राग-द्वेषरहित) हैं अतएव वे अन्यथा उपदेश नहीं दे सकते हैं, उन्होंने जो तत्त्वका स्वरूप बतलाया है वह सर्वथा ठीक है। दूसरे मार्गसम्यग्दर्शनमें भी जीवके आगमका अभ्यास नहीं होता। वह केवल सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रस्वरूप मोक्षमार्गको कल्याणकारी समझकर उसपर श्रद्धान करता है। तीसरे उपदेशसम्यग्दर्शनमें प्राणी प्रथमानुयोगमें वर्णित तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण एवं बलभद्र आदि महापुरुषोंके चरित्रको सुनकर और उससे पुण्य-पापके फलको विचारकर तत्त्वश्रद्धान करता है। चौथे सूत्रसम्यग्दर्शनमें जीव चरणानुयोगमें वर्णित मुनियोंके चारित्रको सुनकर तत्त्वरुचिको उत्पन्न करता है। पाचवें बीजसम्यग्दर्शनमें करणानुयोगसे सम्बद्ध गणित आदिकी प्रधानतासे वर्णित जिन दुर्गम तत्त्वोंका ज्ञान सर्वसाधारणके लिये दुर्लभ होता है उसे जीव किन्हीं बीजपदोंके निमित्तसे प्राप्त करके तत्त्वश्रद्धान करता है। छठे संक्षेपसम्यग्दर्शनमें द्रव्यानुयोगमें तर्ककी प्रधानतासे वर्णित जीवा-जीवादि पदार्थोंको संक्षेपसे जानकर प्राणी तत्त्वरुचिको प्राप्त होता है। सातवें विस्तारसम्यग्दर्शनमें जीव द्वादशांगश्रुतको सुनकर तत्त्वश्रद्धानी बनता है। आठवें अर्थसम्यग्दर्शनमें विशिष्ट क्षयोपशमसे सम्पन्न जीव श्रुतके सुननेके विना ही उसमें प्ररूपित किसी अर्थविशेषसे तत्त्वश्रद्धानी होता है। नौवें अवगाढसम्यग्दर्शनमें अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य दोनों ही प्रकारके श्रुतको ज्ञात करके जीव दृढश्रद्धानी बनता है। यह सम्यग्दर्शन श्रुतकेवलीके होता है। अन्तिम परमावगाढसम्यग्दर्शन सचराचर विश्वको प्रत्यक्ष देखनेवाले केवली भगवान्के होता है॥ १४॥ पुरुषके सम्यक्त्वसे

शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम् ॥ १५ ॥
मिथ्यात्वातङ्कवतो हिताहितप्राप्त्यनाप्तिमुग्धस्य ।
बालस्येव तवेयं सुकुमारैव क्रिया क्रियते ॥ १६ ॥

प्रथमतः कस्माद्विधीयते इत्याह— शमबोधवृत्तेत्यादि। गौरवं महत्त्वम्। पाषाणस्येव यथा पाषाणस्य गौरवं विशिष्टफलाप्रसाधकमबहुमूल्यत्वात् तथा शमादीनामपि। तदेव पूज्यं विशिष्टफलसाधकं भवति सम्यक्त्वसंयुक्तमनर्घ्यत्वात्। महामणेरिव ॥ १५ ॥ एवंविध-सम्यक्त्वाराधने प्रवृत्तस्य आराधयितुः स्वरूपं निरूप्य भयमुत्सारयन्नाह— मिथ्यात्वेत्यादि।

रहित शान्ति, ज्ञान, चारित्र और तप इनका महत्त्व पत्थरके भारीपनके समान व्यर्थ है। परन्तु वही उनका महत्त्व यदि सम्यक्त्वसे सहित है तो वह मूल्यवान् मणिके महत्त्वके समान पूजनीय है ॥ विशेषार्थ— साधारण पाषाण और मणिरूप पाषाण ये दोनों यद्यपि पाषाणस्वरूपसे समान हैं, फिर भी गुणकी अपेक्षा उन दोनोंमें महान् अन्तर है। कारण कि यदि किसी मनुष्यके पास विशाल भी साधारण पाषाण हो तो उससे उसका कोई भी अभीष्ट सिद्ध होनेवाला नहीं है, बल्कि वह उसके लिये भारभूत (कष्टप्रद) ही बना रहता है। किन्तु जिसके पास वह मणिरूप पाषाण है वह उससे अपने अभीष्ट प्रयोजनको अवश्य सिद्ध कर लेता है। कारण कि उसका मूल्य बहुत अधिक है। इससे उसकी जनसमुदायमें प्रतिष्ठा भी अधिक होती है। ठीक इसी प्रकारसे जो जीव सम्यग्दर्शनसे रहित है वह भले ही शान्ति, ज्ञान, चारित्र एवं तपका भी आचरण क्यों न करे; किन्तु इससे वह कल्याणके मार्गमें नहीं प्रवृत्त हो पाता है। कारण कि सम्यग्दर्शनके बिना उक्त शान्ति आदिका कोई मूल्य नहीं होता। किन्तु मणिके समान बहुमूल्य सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर लेनेपर उन सब शान्ति आदिका महत्त्व बढ़ जाता है। उस समय वे प्राणीको मोक्षमार्गमें प्रवृत्त करके शाश्वतिक सुखकी प्राप्तिमें सहायक हो जाते हैं। अतएव उक्त शान्ति आदिकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन ही विशेष पूज्य है ॥ १५ ॥ मिथ्यात्वरूप रोगसे सहित होकर हितकी प्राप्ति और अहितके परिहारको

**विषयविषमाशनोत्थितमोहज्वरजनिततीव्रतृष्णस्य।
निःशक्तिकस्य भवतः प्रायः पेयाद्युपक्रमः श्रेयान् ॥ १७ ॥**

सद्यः प्राणहरो व्याधिरातङ्कः। मिथ्यात्वमेव आतङ्कः तेन युक्तस्य। हितं सुखम् अहितं दुःखं तयोः प्राप्तिश्च अनाप्तिश्च प्राप्त्यनाप्ती तत्र मुग्धस्य उपायानभिज्ञस्य। इयं सम्यक्त्वाराधनारूपा अस्माभिः तव प्रथमा क्रिया क्रियते संस्कारो विधीयते। किंविशिष्टा। सुकुमारा अक्लेशेन अनुष्ठातुं शक्या ॥ १६ ॥ अथेदानीं चारित्राराधनाप्रदर्शनोपक्रमं कुर्वाणस्तदाराधयितुर्योग्यामेवाणुव्रतरूपां ताम् उपदर्शयन्नाह— विषयेत्यादि। प्रकृतिविरुद्धम् अधिकभोजनं वा विषमाशनम्। नो चेत्कालातिक्रमहीनं वा। विषया एव विषमाशनम्। मोहः अप्रत्याख्यानावरणोदयलक्षणः चारित्रमोहः स एव ज्वरो मोहज्वरः। तृष्णा तृषा

न समझ सकनेवाले बालकके समान तेरे लिये यह सम्यक्त्वआराधनारूप सरल चिकित्सा की जाती है ।। विशेषार्थ—जिस प्रकार कठिन रोगसे ग्रस्त हुआ बालक अपने हित-अहितको न समझ सकनेके कारण जब उस रोगको नष्ट करनेवाली किसी तीक्ष्ण औषधिको नहीं लेना चाहता है तब चतुर वैद्य बताशा आदिमें औषधिको रखकर अथवा वस्त्र आदिमें उसका प्रयोग करके सरलतासे उसकी चिकित्सा करता है। उसी प्रकार मिथ्यात्वरूप रोगसे ग्रस्त हुआ प्राणी जब अपने हित-अहितका विवेक न होनेसे दुद्धर तपश्चरण आदिमें असमर्थ होता है तब उसके हितको चाहनेवाला गुरु सर्व प्रथम उसके लिये इस सम्यक्त्व आराधनाका उपदेश करता है। कारण कि इसका वह सरलतासे आराधन कर सकता है। इसके अतिरिक्त वह (सम्यक्त्व) आगेकी क्रियाओं (संयम व तप आदि) का मूल कारण भी है ।। १६ ।। विषयरूप विषम भोजनसे उत्पन्न हुए मोहरूप ज्वरके निमित्तसे जो तीव्र तृष्णा (विषयाकांक्षा और प्यास) से सहित है तथा जिसकी शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण हो रही है ऐसे तेरे लिये प्रायः पेय (पीनेके योग्य सुपाच्य फलोंका रस आदि तथा अणुव्रत आदि) आदिकी चिकित्सा अधिक श्रेष्ठ होगी ।। विशेषार्थ— यदि कोई मनुष्य प्रकृतिके विरुद्ध अथवा मात्रासे अधिक भोजन करनेके कारण ज्वर आदिसे पीड़ित होकर तीव्र प्याससे व्याकुल होता है तो ऐसी अवस्थामें चतुर वैद्य

सुखितस्य दुःखितस्य च संसारे धर्म एव तव कार्यः।
सुखितस्य तदभिवृद्ध्यै दुःखभुजस्तदुपघाताय ॥ १८॥

भोगाभिलाषश्च । पेयाद्युपक्रमः—यथा ज्वरक्षीणशक्तेः आतुरस्य प्रथमतः पेयारूक्षाहाराद्युपक्रमः श्रेयान् तथा मोहज्वरक्षीणशक्तेः मुमुक्षोः अणुव्रतादेः पेयादिसदृशस्य प्रथमतः प्रायो बाहुल्येन उपक्रमः प्रारम्भः श्रेयान् ॥ १७ ॥ कस्यासौ तत्प्रारम्भः कर्तुमुचितः इत्याह—सुखितस्येत्यादि । सुखितस्य सुखम् अनुभवतः । दुःखितस्य दुःखमनुभवतश्च । धर्मश्चारित्रम् उत्तमक्षमादिर्वा । स एव संसारे तव कार्यः । सुखितस्य तदभिवृद्ध्यै सुखाभिवृद्धिनिमित्तम् ।

उसकी शारीरिक शक्तिको क्षीण होती हुई देखकर समुचित औषधिके साथ उसके लिये पीनेके योग्य फलोंके रस या दूध आदिरूप सुपाच्य भोजनकी व्यवस्था करता है। कारण कि स्निग्ध व गरिष्ठ भोजनसे उसका उक्त रोग कम न होकर और भी अधिक बढ़ सकता है। इस विधिसे उसका रोग सरलतासे दूर हो जाता है। ठीक इसी प्रकारसे जो प्राणी इन्द्रियविषयोंमें मुग्ध होकर उस विषयतृष्णासे अतिशय व्याकुल हो रहा है तथा इसीलिये जिसकी स्वाभाविक आत्मशक्ति क्षीणताको प्राप्त हो रही है उसके लिये सद्गुरु प्रथमतः अणुव्रत आदिके परिपालनका– जिनका परिपालन वह सरलतासे कर सकता है– उपदेश करता है। कारण कि वैसी अवस्थामें यदि उसे महाव्रतोंके धारण करनेका उपदेश दिया गया और तदनुसार उसने उन्हें ग्रहण भी कर लिया, परन्तु आत्मशक्तिके न रहनेसे यदि वह उनका परिपालन न सका तो इससे उसका और भी अधिक अहित हो सकता है। अतएव उस समय उसके लिये अणुव्रतोंका उपदेश ही अधिक कल्याणकारी होता है ॥ १७ ॥

हे जीव ! तू चाहे सुखका अनुभव कर रहा हो और चाहे दुखका, किन्तु संसारमें इन दोनों ही अवस्थाओंमें तेरा एक मात्र कार्य धर्म ही होना चाहिये। कारण यह है कि वह धर्म यदि तू सुखका अनुभव कर रहा है तो तेरे उस सुखकी वृद्धिका कारण होगा, और यदि तू दुखका अनुभव कर रहा है तो वह धर्म तेरे उस दुखके विनाशका कारण

धर्मारामतरूणां फलानि सर्वेन्द्रियार्थसौख्यानि ।
संरक्ष्य तांस्ततस्तान्युच्चिनु यैस्तैरुपायैस्त्वम् ॥ १९ ॥

दुःखभुजः दुःखितस्य । तदुपघाताय दुःखविनाशनिमित्तम् ॥ १८ ॥ विषयसुखं हि धर्मफलम् । अतो धर्मं रक्षता तद्भोक्तव्यमेतदेवाह— धर्मारामेत्यादि । तान् धर्मारामतरून् । ततस्तेभ्यः । तानि फलानि । उच्चिनु गृहाण । यैः कैश्चित् तैः प्रसिद्धैः स्त्रग्वनितादिभिः उपायैः इन्द्रियसुखहेतुभिः । तान् वा संरक्ष्य । तैः उपायैः उत्तमक्षमामार्दवादिभिः ॥ १९ ॥ विषयसुखप्राप्तौ

होगा ।। विशेषार्थ — जो प्राणियोंके दुखको दूर करके उन्हें उत्तम सुखमें धारण कराता है वही धर्म कहलाता है । इससे धर्मके दो प्रयोजन सिद्ध होते हैं– दुखको दूर करना और सुखको प्राप्त कराना । इसीलिये यहां यह उपदेश दिया गया है कि प्राणियोंको चाहे तो वे सुखी हों और चाहे दुखी, दोनों ही अवस्थाओंमें उन्हें धर्मका आचरण करना चाहिये । कारण कि यदि वे सुखी हैं तो इससे उनका वह सुख और भी वृद्धिंगत होगा, और यदि वे दुखी हैं तो इससे उनके उस दुखका विनाश होगा ।।१८।। इन्द्रियविषयोंके सेवनसे उत्पन्न होनेवाले सब सुख इस धर्मरूप उद्यानमें स्थित वृक्षों (क्षमा-मार्दवादि) के ही फल हैं। इसलिये हे भव्य जीव ! तू जिन किन्हीं उपायोंसे उन धर्मरूप उद्यानके वृक्षोंकी भले प्रकार रक्षा करके उनसे उपर्युक्त इन्द्रियविषयजन्य सुखोंरूप फलोंका संचय कर ।। विशेषार्थ— ऊपर श्लोक १८में जो धर्मको सुखका कारण और दुखका विनाशक बतलाया गया है उसमें यह आशंका हो सकती थी कि जब धर्म प्रत्यक्षमें सुखका विघातक है, तब उसे यहाँ सुखका कारण किस प्रकार कहा ? कारण कि धर्माचरणमें विषयभोगोंके अनुभवसे प्राप्त होनेवाले सुखको छोड़कर अनशनादिजनित दुखको ही सहना पड़ता है । इस आशंकाके निराकरणार्थ यहां यह बतलाया है कि जिस प्रकार अंगूर, सेव एवं आम आदि उत्तम फलोंकी इच्छा करनेवाला मनुष्य प्रथमतः कुछ कष्ट सहकर भी उन फलोंको उत्पन्न करनेवाले वृक्षोंका जलसिंचनादिके

धर्मः सुखस्य हेतुर्हेतुर्न विराधकः स्वकार्यस्य।
तस्मात्सुखभङ्गभिया माभूर्धर्मस्य[1] विमुखस्त्वम् ॥ २० ॥

धर्ममनुतिष्ठतस्तदभावः स्यात् इत्याशङ्कया धर्मात्पराङ्मुखो माभूस्त्वम्। यतः— धर्मः सुखहेतुरित्यादि। न विराधकः न विनाशकः। कया। भङ्गभिया विनाशभयेन। विमुखः परान्मुखः [पराङ्मुखः] ॥ २० ॥ अमुमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेण समर्थयमानः प्राह— धर्मादवाप्तविभव

द्वारा परिवर्धन एवं संरक्षण करता है, तत्पश्चात् वह समयानुसार उनसे अभीष्ट फलोंको प्राप्त करके अतिशय आनन्दका उपभोग करता है। यदि वह पहिले जलसिंचनादिके कष्टसे डरकर उन वृक्षोंका परिवर्धन और संरक्षण न करता तो उसे उन अभीष्ट फलोंका प्राप्त होना असंभव ही था। ठीक इसी प्रकारसे वर्तमानमें जो इन्द्रियविषयभोगजनित सुख प्राप्त हो रहा है वह पूर्वकृत धर्मका ही परिणाम है। अतएव आगे भी यदि उक्त सुखको स्थिर रखना है तो उसके कारणभूत धर्मका आचरण अवश्य ही करना चाहिये। इससे वह धर्म फलीभूत होकर भविष्यमें भी उक्त इन्द्रियविषयजनित सुखरूप फलोंको स्थिर रक्खेगा, अन्यथा भविष्यमें उससे रहित होकर दुखका अनुभव करना अनिवार्य होगा ॥ १९ ॥ धर्म सुखका कारण है और कारण कुछ अपने कार्यका विरोधी होता नहीं है। इसलिये तू सुखनाशके भयसे धर्मसे विमुख न हो ॥ विशेषार्थ— धर्मके आचरणमें विषयसुखका विनाश होता है, इसी आशंकाका निराकरण करते हुए और भी यहां यह बतलाया है कि जब धर्म सुखका कारण है तब वह उस सुखका विघातक नहीं हो सकता है। यदि कारण ही अपने कार्यका विरोधी बन जाय तो फिर कार्य-कारणभावकी नियमव्यवस्था भी कैसे बन सकेगी? नहीं बन सकेगी। इस प्रकारसे तो समस्त लोकव्यवहारका ही विरोध हो जावेगा। इसलिये धर्मसे सुखका विनाश होता है, यह कल्पना भ्रमपूर्ण है ॥ २० ॥ जिस प्रकार किसान बीजसे उत्पन्न

1 स धर्मं°।

धर्मादवाप्तविभवो धर्मं प्रतिपाल्य भोगमनुभवतु।
बीजादवाप्तधान्यः कृषीवलस्तस्य बीजमिव ॥ २१ ॥

संकल्प्यं[1] कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिन्तामणेरपि।
असंकल्प्यमसंचिन्त्यं फलं धर्मादवाप्यते ॥ २२ ॥

इत्यादि। विभवः इन्द्रियसौख्यसंपत्तिः। प्रतिपाल्य रक्षित्वा। कृषीवलः कुटुम्बिकः। तस्य धान्यस्य ॥ २१ ॥ कीदृशं फलं धर्मात्प्राप्यत इत्याह— संकल्प[ल्प्य]मित्यादि। संकल्पं[ल्प्यं] वचनेन याचितम्। चिन्त्यं मनसा संप्रधारितम् ॥ २२ ॥ एवंविधो धर्मः कुतः उपार्जित

धान्य (गेहूं व चावल आदि) को प्राप्त करता हुआ उसमेंसे भविष्यके लिये कुछ बीजके निमित्त सुरक्षित रखकर ही उसका उपभोग करता है उसी प्रकार हे भव्य जीव! तूने जो यह सुख-सम्पत्ति प्राप्त की है वह धर्मके ही निमित्तसे प्राप्त की है, इसलिये तू भी उक्त सुखसंपत्तिके बीजभूत उस धर्मका रक्षण करके ही उसका उपभोग कर ॥२१॥ कल्पवृक्षका फल संकल्प (प्रार्थना) के अनुसार प्राप्त होता है तथा चिन्तामणिका भी फल चिन्ता (मनकृत विचार) के अनुसार प्राप्त होता है, परन्तु धर्मसे जो फल प्राप्त होता है वह अप्रार्थित एवं अचिन्त्य ही प्राप्त होता है ॥ विशेषार्थ— लोकमें कल्पवृक्ष और चिन्तामणि अभीष्ट फलके देनेवाले माने जाते हैं। परन्तु कल्पवृक्ष जहां वचन द्वारा की गई प्रार्थनाके अनुसार अभीष्ट फल देता है वहां चिन्तामणि मनकी कल्पनाके अनुसार वह फल देता है। किन्तु धर्म एक ऐसा अपूर्व पदार्थ है कि जिससे अभीष्ट फल प्राप्तिके लिये न किसी प्रकारकी याचना करनी पड़ती है और न मनमें कल्पना भी। तात्पर्य यह कि धर्मका आचरण करनेसे प्राणीको स्वयमेव ही अभीष्ट सुख प्राप्त होता है। जैसे— यदि मनुष्य सघन वृक्षके नीचे पहुंचता है तो उसे उसकी छाया स्वयमेव प्राप्त होती है, उसके लिये वृक्षसे कुछ याचना आदि नहीं करनी पड़ती ॥२२॥ विद्वान् मनुष्य निश्चयसे आत्मपरिणामको ही पुण्य और पापका कारण बतलाते हैं। इसलिये अपने निर्मल परिणामके द्वारा पूर्वसंचित

1 मुद्रितप्रतिपाठोऽयम्, ज स संकल्पं।

परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञाः।
तस्मात् पापापचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः॥ २३॥

कृत्वा धर्मविघातं विषयसुखान्यनुभवन्ति ये मोहात्।
आच्छिद्य तरून् मूलात् फलानि गृह्णन्ति ते पापाः॥ २४॥

इत्याह— परिणाममेवेत्यादि। खलु स्फुटम्। तस्मात् परिणामात्, अथवा यतः एवं तस्मात्। पापापचयः पापस्य अपचयः अनुपार्जनं निर्जरा च। पुण्योपचयः पुण्योपार्जनं पुण्याभिवृद्धिश्च। सुविधेयः सुखेन विधातुं शक्यः सुष्ठु वा कर्तव्यः॥ २३॥ ये तु धर्मोपचयम् अकुर्वन्तः विषयसुखान्यनुभवन्ति तेषां निन्दां दर्शयन्नाह— कृत्वा धर्मविघातमित्यादि॥ २४॥

पापकी निर्जरा, नवीन पापका निरोध और पुण्यका उपार्जन करना चाहिये॥ विशेषार्थ– 'शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य' (तत्त्वा. ६–३) इस सूत्रमें आचार्यप्रवर श्री उमास्वामीने यह बतलाया है कि शुभ योग पुण्य तथा अशुभ योग पापके आस्रवका कारण है। यहां शुभ परिणामसे उत्पन्न मन, वचन एवं कायकी प्रवृत्तिको शुभ योग तथा अशुभ परिणामसे उत्पन्न मन, वचन एवं कायकी प्रवृत्तिको अशुभ योग समझना चाहिये। इस प्रकार जब पुण्यका कारण अपना ही शुभ परिणाम तथा पापका कारण भी अपना ही अशुभ परिणाम ठहरता है तब आत्महितकी अभिलाषा करनेवाले भव्य जीवोंको अपने परिणाम सदा निर्मल रखने चाहिये, जिससे कि उनके पुण्यका संचय और पूर्वसंचित पापका विनाश होता रहे॥२३॥ जो प्राणी अज्ञानतासे धर्मको नष्ट करके विषयसुखोंका अनुभव करते हैं वे पापी वृक्षोंको जड़से उखाड़कर फलोंको ग्रहण करना चाहते हैं॥ विशेषार्थ— जिस प्रकार उत्तम फलोंको चाहनेवाला मनुष्य उन फलोंको उत्पन्न करनेवाले वृक्षोंको जड़-मूलसे उखाड़कर कभी उन अभीष्ट फलोंको नहीं प्राप्त कर सकता है उसी प्रकार विषयसुखकी अभिलाषा करनेवाले प्राणी भी उस सुखके कारणभूत धर्मको नष्ट करके कभी उक्त विषय-सुखको नहीं प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये यदि विषयसुखकी अभिलाषा है तो उसके कारणभूत धर्मका रक्षण अवश्य करना चाहिये॥२४॥ जो धर्म

कर्तृत्वहेतुकर्तृत्वानुमतैः स्मरणचरणवचनेषु।
यः सर्वथाभिगम्यः स कथं धर्मो न संग्राह्यः ॥ २५ ॥

धर्मो वसेन्मनसि यावदलं स ताव-
द्धन्ता न हन्तुरपि पश्य गतेऽथ तस्मिन्।
दृष्टा परस्परहतिर्जनकात्मजानां
रक्षा ततोऽस्य जगतः खलु धर्म एव ॥ २६ ॥

ननु तिरस्कारमात्रमेवेदं तत्सुखानुभवने धर्मोपार्जनस्य कर्तुं सर्वथाप्यशक्यत्वादित्याशङ्क्याह— कर्तृत्वेत्यादि। धर्मविषये हि यत्स्मरणं तथा चरणम् अनुष्ठानं प्रतिपादनं तद्विषयाणि यस्य यानि (?) प्रत्येकं कर्तृत्वहेतुकर्तृत्वानुमतानि तैः। सर्वथा योऽभिगम्यः प्राप्यः मनाक् अगम्यो न भवति ॥ २५ ॥ एवंविधे धर्मे प्राणिनां चित्ते वर्तमानेऽवर्तमाने च फलमुपदर्शयन्नाह— धर्मो वसेदित्यादि। जनकात्मजानां पितृपुत्राणाम् ॥ २६ ॥

मनसे स्मरण, शरीरके द्वारा आचरण तथा वचनकृत उपदेशको विषय करनेवाले कर्तृत्व (कृत), हेतुकर्तृत्व (प्रेरणा–कारित) और अनुमोदनके द्वारा सब प्रकारसे प्राप्त किया जा सकता है उस धर्मका संग्रह कैसे नहीं करना चाहिये? अर्थात् सब प्रकारसे उसका संग्रह अवश्य करना चाहिये ॥ विशेषार्थ– जो भी शुभ अथवा अशुभ कार्य स्वयं किया जाता है वह कृत, जो दूसरोंके द्वारा प्रेरणापूर्वक कराया जाता है वह कारित, तथा दूसरोंके द्वारा किये जानेपर जिसकी स्वयं प्रशंसा की जाती है वह अनुमत कहा जाता है। ये तीनों ही मन, वचन और कायसे सम्बन्ध रखते हैं। यथा– मनकृत, मनकारित, मनानुमत, वचनकृत, वचनकारित, वचनानुमत, कायकृत, कायकारित और कायानुमत। इस तरह चूंकि इन नौ प्रकारोंसे सुखप्रद धर्मका संग्रह भले प्रकार किया जा सकता है अतएव सुखाभिलाषी प्राणियोंको उक्त प्रकारसे उस धर्मका संग्रह करना चाहिये, यही उपदेश यहां दिया गया है ॥ २५ ॥ देखो, जब तक वह धर्म मनमें अतिशय निवास करता है तब तक प्राणी अपने मारनेवालेका भी घात नहीं करता है। और जब वह धर्म मनमेंसे निकल जाता है तब पिता और पुत्रका भी परस्परमें घात देखा जाता है। इसलिये इस विश्वकी रक्षा उस धर्मके रहनेपर ही हो सकती है ॥

न सुखानुभवात् पापं पापं तद्धेतुघातकारम्भात् ।
नाजीर्णं मिष्टान्नान्ननु तन्मात्राद्यतिक्रमणात् ॥ २७ ॥

ननु विषयसुखमनुभवतां प्राणिनां पापोपार्जनसंभवात्कथं धर्मः स्यात् इत्याशङ्क्य आह— न सुखानुभवादित्यादि । तद्धेतुघातकारम्भात् तस्य धर्मस्य हेतवोऽहिंसादयस्तेषां घातकस्य विनाशकस्य जीववधादेरारम्भात् हिंसाद्यावेशकरणात् । तन्मात्राद्यतिक्रमणात् तस्य भोजनस्य मात्राद्यतिक्रमोऽतिमात्रस्य वेलातिक्रमयुक्तस्य प्रकृत्यवस्थाविरुद्धस्य चाहारस्य ग्रहणं तस्मात् । नो चेन्नित्यभोजनमात्रादधिकात् ॥ २७ ॥ ननु हिंसादिकर्मणः

विशेषार्थ— धर्मका स्वरूप दया है । वह धर्म जिसके हृदयमें स्थित रहता है वह दूसरोंकी तो बात ही क्या है, किन्तु अपने घातकका भी अनिष्ट नहीं करता है । जैसे— यदि कोई दुष्ट जन किसी अहिंसा महाव्रतके धारक साधुके लिये गाली देता है या प्राणहरण भी करता है तो भी वह अपने उस घातकका प्रतीकार नहीं करता, प्रत्युत इसके विपरीत वह उसके हितका ही चिन्तन करता है । वह सोचता है कि यह विचारा अज्ञानी प्राणी अज्ञानवश कुमार्गमें प्रवृत्त हो रहा है, वह कब कुमार्गको छोड़कर सन्मार्गमें प्रवृत्त होगा, आदि । इसके विपरीत जिसके हृदयमें वह दयामय धर्म नहीं रहता है वह औरकी तो बात क्या, किन्तु अपने पिता और पुत्रका भी घात कर डालता है । ऐसे उदाहरण देखने व सुननेमें जब तब आते ही रहते हैं । इससे यही सिद्ध होता है कि विश्वका कल्याण करनेवाला यदि कोई है तो वह एक धर्म ही हो सकता है ॥ २६ ॥ पाप सुखके अनुभवसे नहीं होता है, किन्तु वह उपर्युक्त धर्मके हेतुभूत अहिंसा आदिको नष्ट करनेवाले प्राणिवधादिके आरम्भसे होता है । ठीक ही है— अजीर्ण कुछ मिष्टान्नके खानेसे नहीं होता है, किन्तु वह निश्चयसे उसके प्रमाणके अतिक्रमणसे ही होता है ॥ विशेषार्थ— जिस प्रकार स्वादके निमित्त परिमित मिष्टान्न आदिके खानेसे कभी अजीर्ण नहीं होता, किन्तु वह जिह्वालम्पट होकर उसे अधिक प्रमाणमें खानेपर ही होता है; उसी प्रकार विषयसुखके अनुभव मात्रसे कुछ पाप

अप्येतन्मृगयादिकं यदि तव प्रत्यक्षदुःखास्पदं
पापैराचरितं पुरातिभयदं सौख्याय संकल्पतः।

पापर्द्धिक्रीडादेर्धर्मवत्सुखहेतुत्वप्रसिद्धेः कथं तद्धेतुघातकारम्भात्पापं स्यात्, पापहेतोः सुखहेतुत्वाविरोधात् इत्याशङ्का निराकुर्वन्नाह— अप्येतदित्यादि। अपि शब्दः प्रत्येकमभिसंबन्धनीयः। एतत्परिदृश्यमानं मृगयादिकमपि। मृगया पापर्द्धिः। आदिशब्दादनृतचौर्यादिग्रहणम्। किंविशिष्टं तत्। प्रत्यक्षदुःखास्पदमपि प्रत्यक्षतः प्रतीयमानाना तन्निमित्तदुःखानाम्

नहीं होता, किन्तु वह उस सुखकी प्राप्तिके निमित्त अन्याय्य आचरण करनेसे– जैसे प्राणिहत्या, असत्यभाषण, चोरी, परस्त्री या वेश्याका सेवन अथवा अत्यासक्तिसे स्वस्त्रीका भी सेवन और तृष्णाकी अधिकता आदिसे– होता है। यदि प्राणी पूर्वकृत धर्मके प्रभावसे प्राप्त हुई सामग्रीमें ही सन्तोष रखकर धर्मका घात न करता हुआ अनासक्तिपूर्वक उस विषय-सुखका अनुभव करता है तो इससे वह पापसे विशेष लिप्त नहीं होता है। इसके लिये असाधारण वैभवका उपभोग करनेवाले भरत चक्रवर्ती आदिके उदाहरण भी पुराणोंमें देखे ही जाते हैं। यही तो सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके आचारणमें भेद है। कारण कि चारित्रमोहके उदयसे इन्द्रिजन्य सुखके भोगनेमें वे दोनों ही समानरूपसे प्रवृत्त होते हैं, फिर भी विशेषता उनमें यही है कि एक (सम्यग्दृष्टि) तो हेय-उपादेयके विवेकपूर्वक उसमें अनासक्तिसे प्रवृत्त होता है जब कि दूसरा उक्त विवेकको छोड़कर अत्यासक्तिके साथ ही उसमें प्रवृत्त होता है। इसलिए यह नहीं समझना चाहिये कि विषयसुखका अनुभव करते हुए प्राणीके केवल पाप ही होता है और धर्म नहीं होता ॥ २७ ॥ हे भव्य जीव! जो शिकार आदि व्यसन प्रत्यक्षमें ही दुखके स्थानभूत हैं, जिनमें पापी जीव ही प्रवृत्त होते हैं, तथा जो परभवमें दुखदायक होनेसे अतिशय भयानक हैं; वे भी यदि संकल्प मात्रसे तेरे सुखके लिये हो सकते हैं तो फिर विवेकी जन इन्द्रियसुखको न छोड़कर जिस धर्मयुक्त आचरणको

संकल्पं तमनुज्झितेन्द्रियसुखैरासेविते धीधनैः
धर्म्ये कर्मणि किं करोति न भवाँल्लोकद्वयश्रेयसि ॥ २८ ॥

आस्पदं स्थानम्। तथा पापैराचरितमपि पापिष्ठैः पुरुषैः अनुष्ठितम्। पुरा अतिभयदमपि भवान्तरे प्रचुरदुःखदायित्वात् अतिभयदम्। इत्थंभूतं मृगयादिकमपि यदि तव सौख्याय सौख्यनिमित्तं भवति। कस्मात्। संकल्पतः चित्तोल्लासात्। तदा धर्म्ये कर्मणि धर्मादनपेते कर्मणि हिंसादिविरतिदानदेवपूजादिलक्षणे। तं प्रसिद्धं सौख्यहेतुभूतं संकल्पं किं करोति न भवात् [किं न करोति भवान्]। कथंभूते तस्मिन् धर्म्ये कर्मणि। आसेविते अनुष्ठिते। कैः। धीधनैः विवेकिभिः। किंविशिष्टैः। अनुज्झितेन्द्रियसुखैः विषयसुखमनुभवद्भिः गृहस्थैः अपि अनुष्ठीयमाने। पुनरपि कथंभूते। लोकद्वयश्रेयसि इहलोके परलोके च उपकारकत्वेन प्रशस्ते ॥ २८ ॥ पापर्द्धिक्रीडारतानां अतिनिःकरुणत्वं[1] दर्शयन्नाह— भीतेत्यादि। भीतमूर्तीः

करते हैं तथा जो दोनों ही लोकोंमें कल्याणकारक है उस धर्ममय आचरणमें तू उक्त संकल्पको क्यों नहीं करता है? अर्थात् उसमें ही तुझे सुखकी कल्पना करना चाहिये॥ विशेषार्थ– सुख और दुख वास्तवमें अपने मनकी कल्पनाके ऊपर निर्भर हैं। इस कल्पनाके अनुसार प्राणी जिन पदार्थोंको इष्ट समझता है उनकी प्राप्तिमें वह सुख तथा उनकी अप्राप्तिमें दुखका अनुभव करता है। उसी प्रकार जिन पदार्थोंको उसने अनिष्ट समझ रक्खा है उनके संयोगमें वह दुखी तथा वियोगमें सुखी होता है। परन्तु यथार्थमें यदि विचार किया जाय तो कोई भी वस्तु न तो सर्वथा इष्ट है और न सर्वथा अनिष्ट भी। उदाहरणके रूपमें एक ही समयमें जहां किसी एकके घरपर इष्ट सम्बन्धीका मरण होता है वहीं दूसरेके घरपर पुत्रविवाहादिका उत्सव भी संपन्न होता है। अब जिसके यहां इष्टवियोग हुआ है वह उस एक ही मुहूर्तको अनिष्ट कहकर रुदन करता है और दूसरा उसे ही शुभ घड़ी मानकर अतिशय आनन्दका अनुभव करता है। इससे निश्चित प्रतीत होता है कि जिस प्रकार वह घड़ी (मुहूर्त) वास्तवमें इष्ट और अनिष्ट नहीं है

१ ज निःकरुणात्वं।

भीतमूर्तीर्गतत्राणा निर्दोषा देहवित्तकाः।
दन्तलग्नतृणा घ्नन्ति मृगीरन्येषु का कथा ॥ २९ ॥

भयकम्पितगात्राः। गतत्राणाः रक्षणरहिताः। निर्दोषाः दोषरहिताः। देहवित्तकाः देह एव वित्तं धनं यासाम्। घ्नन्ति मारयन्ति ॥ २९ ॥ हिंसाविरतिव्रते दाढर्थं विधाय अनृतस्तेयविरतिव्रते

उसी प्रकार कोई भी बाह्य पदार्थ स्वरूपसे इष्ट और अनिष्ट नहीं हो सकता है। उन्हें केवल कल्पनासे ही प्राणी इष्ट व अनिष्ट समझने लगते हैं। प्रकृतमें जिन शिकार आदि दुष्कृत्योंमें प्रत्यक्षमें ही प्राणवियोगादिजन्य दुख देखा जाता है उनके सम्पन्न होनेपर शिकारी जन सुखकी कल्पना करते हैं। पर भला विचार तो कीजिये कि दूसरे दीन प्राणियोंको कष्ट पहुंचानेवाले वे कार्य क्या यथार्थमें सुखकारक हो सकते हैं? नहीं हो सकते। इसीलिये यहां यह उपदेश दिया गया है कि जब सुख और दुख कल्पनाके ऊपर ही निर्भर हैं तब विवेकी जनको उभय लोकोंमें कष्ट देनेवाले उन प्राणिवधादिरूप दुष्कार्योंमें सुखकी कल्पना न करके जो अहिंसा एवं सत्यसंभाषणादि उत्तम कार्य उभय लोकोंमें सुखदायक हैं तथा जिनकी सबके द्वारा प्रशंसा की जाती है उनमें ही सुखकी कल्पना करके प्रवृत्त होना चाहिये ॥ २८ ॥ जिन हिरणियोंका शरीर सदा भयसे कांपता रहता है, जिनका वनमें कोई रक्षक नहीं है, जो किसीका अपराध (अनिष्ट) नहीं करती हैं, जिनके एक मात्र अपने शरीरको छोड़कर दूसरा कोई धन नहीं है, तथा जो दांतोंके बीचमें अटके हुए तृणोंको धारण करती हैं; ऐसी हिरणियोंका भी घात करनेसे जब शिकारी जन नहीं चूकते हैं तब भला दूसरे (सापराध) प्राणियोंके विषयमें क्या कहा जा सकता है? अर्थात् उनका घात तो वे करेंगे ही॥ विशेषार्थ– यह प्रायः लोकमें प्रसिद्ध ही है कि सच्चे शूर-वीर युद्धनीतिके अनुसार ऐसे किसी भी प्राणीके ऊपर शस्त्रका प्रहार नहीं करते हैं जो कि कायरताको प्रगट कर रहा हो, अरक्षित हो, निरपराध हो,

पैशुन्यदैन्यदम्भस्तेयानृतपातकादिपरिहारात् ।
लोकद्वयहितमर्जय धर्मार्थयशःसुखायार्थम् ॥ ३० ॥
पुण्यं कुरुष्व कृतपुण्यमनीदृशोऽपि
नोपद्रवोऽभिभवति प्रभवेच्च भूत्यै ।

तद्विधातुमाह— पैशुन्येत्यादि । पैशुन्यं परापवादः । दैन्यं क्लीबता । दम्भो वञ्चना । स्तेयं चौर्यम् । अनृतम् ऋतं सत्यं न ऋतम् अनृतम् असत्यम् । तेभ्यः पातकानि तान्येव पातकानि [वा] । आदिशब्दात् स्तेनप्रयोगतदाहृतादानादयो गृह्यन्ते । तेषां परिहारात् अनृतविरतिव्रते पैशुन्यदैन्यपरिहारयोरन्तर्भावः स्तेयविरतिव्रते दम्भपरिहारस्यान्तर्भावः । लोकद्वयहितम् इहलोके परलोके हितकारकम् । अर्जय उपार्जय ॥ ३० ॥ ननु व्रतिनामप्युपसर्गे समायाते आत्मरक्षार्थं हिंसानृतादिः कश्चित्स्यादित्यत्राह— पुण्यमित्यादि । कृतपुण्यं पुण्यवन्तं प्राणिनम् । अनीदृशोऽपि

सैन्य व शस्त्रादिसे रहित हो, अथवा दांतोंमें तृणोंको धारण करके अपने पराजयको प्रकट कर रहा हो। इसके अतिरिक्त वे स्त्रियों और बालकोंका घात तो किसी भी अवस्थामें नहीं करते हैं। परन्तु खेद है कि शिकारी जनका वह कार्य इससे सर्वथा विपरीत होता है— जहां वीर पुरुष उपर्युक्त अवस्थाओंमेंसे किसी एक ही अवस्थाके होनेपर प्राणीका घात नहीं करते हैं वहां शिकारी जन हिरणियोंमें उन सभी अवस्थाओं (कायरता, अरक्षितता, निरपराधता, शस्त्रादिहीनता, दन्तस्थतृणता और स्त्रीत्व) के रहनेपर उनका निर्दयतासे घात करते हैं। ऐसी अवस्थामें वे अन्य सापराध प्राणियोंका घात किये विना भला कैसे रह सकते हैं? अतएव उनका यह कार्य सर्वथा निन्दनीय तो है ही, साथमें वह उभय लोकोंमें उन्हें दुख देनेवाला भी है ॥२९॥ हे भव्य जीव! तू परनिन्दा, दीनता, छल-कपट, चोरी और असत्यभाषण आदि पापोंको छोड़कर उनके प्रतिपक्षभूत सत्यसभाषण एवं अचौर्य व्रतोंको— जो दोनों ही लोकोंमें हितकारक हैं— धारण कर। कारण कि ये सबके लिये धर्म, धन, कीर्ति और सुखके कारणभूत हैं ॥ ३० ॥ हे भव्य जीव! तू पुण्य कार्यको कर, क्योंकि पुण्यवान् प्राणीके ऊपर असाधारण भी उपद्रव कुछ प्रभाव नहीं डाल सकता है। इतना ही नहीं, बल्कि वह

संतापयञ्जगदशेषमशीतरश्मिः
पद्मेषु पश्य विदधाति विकाशलक्ष्मीम् ॥ ३१ ॥

नेता यत्र बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः
स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः खलु हरेरैरावणो वारणः।

अद्वितीयोऽपि। उपद्रवो नाभिभवति न अभिभवं कुर्यात्। स प्रभवेच्च संपद्यते च। भूत्यै विभूतिनिमित्तम्। ननूपसर्गस्यापकारकत्वात्कथं विभूतिहेतुत्वम्, न हि विषं जीवितहेतुर्भवतीत्याशङ्क्याह संतापयन्नित्यादि। अयमर्थः— यथा अशीतरश्मेरादित्यस्य संतापो जगत्यपकारं कुर्वन्नपि पद्मेषूपकारहेतुर्भवति तथा अपुण्यवति उपद्रवोऽपकाराय प्रवृत्तोऽपि पुण्यवति उपकारनिमित्तं भवतीति ॥ ३१ ॥ अथोच्यते पौरुषादेव शत्रूनभिभूय उपसर्गस्य निवारयितुं शक्यत्वात् अलं पुण्येन इत्याशङ्क्याह— नेता यत्रेत्यादि। नेता मन्त्री। सैनिकाः भृत्याः सेनायां समवेताः सैनिकाः। 'सेनाया वा' [जैनेन्द्रम. ३।३।१९६] इति इकण्। अनुग्रहः

उपद्रव भी उसके लिये सम्पत्तिका साधन बन जाता है। देखो, समस्त संसारको संतप्त करनेवाला भी सूर्य कमलोंमें विकासरूप लक्ष्मीको ही करता है ।। विशेषार्थ— जिस प्रकार सूर्य दूसरोंको संतापकारक भले ही हो, किन्तु वह कमलोंको तो प्रफुल्लित ही करता है, उसी प्रकार जो उपद्रव अन्य पापी प्राणियोंके लिये कष्टदायक होता है वही पुण्यात्मा जीवोंके लिये सुखका साधन बन जाता है। देखो, अग्नि प्राणघातक है यह सब ही अनुभव करते हैं, परन्तु वह प्रज्वलित भयानक अग्नि भी सीता महासतीके लिये जलरूप परिणत हो गई थी। यह सब उस पुण्यका ही प्रभाव है। इसीलिये सुखकी अभिलाषा करनेवाले भव्य जीवोंके लिये पाप कार्योंको छोड़कर सदा पुण्य कार्योंमें प्रवृत्त होना चाहिये ।।३१।। जिसका मंत्री बृहस्पति था, शस्त्र वज्र था, सैनिक देव थे, दुर्ग (किला) स्वर्ग था, हाथी ऐरावण था, तथा जिसके ऊपर विष्णुका अनुग्रह (सहायता) था; इस प्रकार अद्भुत बलसे संयुक्त भी वह इन्द्र युद्धमें दैत्यों (अथवा रावण आदि) द्वारा पराजित हुआ है। इसीलिये यह स्पष्ट है कि निश्चयसे दैव (भाग्य) ही प्राणीका रक्षक है। पुरुषार्थ व्यर्थ है,

इत्याश्चर्यबलान्वितोऽपि बलभिद्भग्नः परैः सङ्गरे
तद्व्यक्तं ननु दैवमेव शरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम् ॥ ३२ ॥

सहायत्वं वरो वा। हरेर्विष्णोः। वारणः हस्ती। इत्याश्चर्यबलान्वितोऽपि एवंविधः सातिशयबलयुक्तोऽपि। बलभिदिन्द्रः। भग्नः पराजितः परैः। कैः। रावणादिशत्रुभिः। सङ्गरे संग्रामे। तद् व्यक्तं सर्वप्रसिद्धमेतत्। अथवा तत्तस्मात् व्यक्तं स्फुटम्। ननु अहो पौरुषवादिन्। तथापि दैवमेव शरणम्। धिक् धिक् अतिशयेन निन्द्यं पौरुषम्। अतो दैवरहितं वृथा विफलं पौरुषम् ॥ ३२ ॥ ननु हिंसादिविरतिप्रभवस्य अदृष्टस्य इदानीम्

उसके लिये वारंवार धिक्कार हो ॥ विशेषार्थ– इससे पूर्वके श्लोकमें पुण्यको प्रधान बतलाकर उसको उपर्जित करनेकी प्रेरणा की गई है। इसपर शंका उपस्थित हो सकती थी कि शत्रु आदिके द्वारा जो उपद्रव आरम्भ किया जाता है उसे पुरुषार्थके बलपर ही नष्ट किया जा सकता है, न कि दैवके ऊपर निर्भर रहते हुए अकर्मण्य बनकर। इसलिये अनुभव-सिद्ध पुरुषार्थको छोडकर अदृष्ट दैवके ऊपर निर्भर रहना बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती है। इस आशंकाको ध्यानमें रखकर यहां इन्द्रका उदाहरण देते हुए यह बतलाया है कि देखो जो इन्द्र बृहस्पति आदिरूप असाधारण साधन सामग्रीसे सम्पन्न था वह भी मनुष्य कहे जानेवाले रावण आदिके द्वारा पराजित किया गया है (प. च. पर्व १२)। यदि पुरुषार्थ ही कार्यसिद्धिका कारण होता तो वह देवोंका अधीश्वर कहा जानेवाला इन्द्र रावण आदि पुरुषोंके द्वारा कभी पराजित नहीं हो सकता था, क्योंकि, उसका पुरुषार्थ असाधारण था। परन्तु वह पराजित अवश्य हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि दैवके आगे पुरुषार्थ कुछ कार्यकारी नहीं है। यह उन लोगोंको लक्ष्य करके कथन किया गया है जो सर्वथा दैवकी उपेक्षा करके केवल पुरुषार्थके बलपर ही कार्यसिद्धि करना चाहते हैं। वास्तवमें यदि विचार किया जाय तो सर्वथा पुरुषार्थके द्वारा कार्यकी सम्भावना नहीं दिखती। कारण कि हम देखते हैं कि समानरूपसे पुरुषार्थ करनेवाले अनेक व्यक्तियोंमें कुछ यदि सफलताको प्राप्त करते हैं तो कुछ विफलताको भी। एक ही कक्षामें अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियोंमें कुछ तो गुरुके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वको शीघ्रतासे ही ग्रहण करते हैं, कुछ उसे धीरे धीरे

समझनेमें समर्थ होते हैं, और कुछ प्रयत्न करते हुए भी उसे ग्रहण करनेमें असमर्थ ही रहते हैं। इसी प्रकार उनके परीक्षामें बैठनेपर जिनके प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण होनेकी आशा की जाती थी वे अनुत्तीर्ण होते हुए देखे जाते हैं तथा जिनके उत्तीर्ण होनेकी सम्भावना नहीं थी वे उत्तम श्रेणिमें उत्तीर्ण होते हुए देखे जाते हैं। इससे निश्चित होता है कि अकेला पुरुषार्थ ही कार्यकरी नहीं है, अन्यथा किया गया पुरुषार्थ कभी निष्फल ही नहीं होना चाहिये था। इसी तरह जिस प्रकार केवल पुरुषार्थसे कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है उसी प्रकार केवल दैवसे भी कार्यकी सिद्धि सम्भव नहीं है। कारण यह कि यदि सर्वथा दैवको ही कार्यसाधक स्वीकार किया जाय तो यह शंका होती है कि वह दैव भी उत्पन्न कैसे हुआ? यदि वह दैव पूर्व पुरुषार्थके द्वारा निष्पन्न हुआ है तब तो सर्वथा दैवकी प्रधानता नहीं रहती है, और यदि वह भी अन्य पूर्व दैवके निमित्तसे आविर्भूत हुआ है तो फिर वैसी अवस्थामें दैवकी परम्पराके चलते रहनेसे कभी मोक्षकी भी सिद्धि नहीं हो सकेगी। इसलिये मोक्षके निमित्त किया जानेवाला प्रयत्न निष्फल ही सिद्ध होगा। अतएव जब उन दोनोंमें अन्यकी उपेक्षा करके किसी एक (दैव या पुरुषार्थ) के द्वारा कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है तब यहां ऐसा निश्चय करना चाहिये कि प्रत्येक कार्यकी सिद्धिमें वे दोनों ही कारण होते हैं। हां, यह अवश्य है कि उनमेंसे यदि कहीं दैवकी प्रधानता और पुरुषार्थकी गौणता होती है तो कहीं पुरुषार्थकी प्रधानता और दैवकी गौणता भी होती है। जैसे कि स्वामी समन्तभद्राचार्यने कहा भी है— अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः। बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात्॥ आ. मी. ९१. अभिप्राय इसका यह है कि पूर्वमें वैसा कुछ विचार न करनेपर भी जब कभी अकस्मात् ही इष्ट अथवा अनिष्ट घटना घटती है, तब उसमें दैवको प्रधान और पुरुषार्थको गौण समझना चाहिये। जैसे— अकस्मात् भूमिके खोदने आदिमें धनकी प्राप्ति अथवा यात्रा करते हुए किसी दुर्घटनामें मरणकी प्राप्ति। उसी प्रकार पूर्वापर विचार करनेके पश्चात् वैसा प्रयत्न

भर्तारः कुलपर्वता इव भुवो मोहं विहाय स्वयं
रत्नानां निधयः पयोधय इव व्यावृत्तवित्तस्पृहाः।
स्पृष्टाः कैरपि नो नभो विभुतया विश्वस्य विश्रान्तये
सन्त्यद्यापि चिरन्तनान्तिकचराः सन्तः कियन्तोऽप्यमी ॥ ३२॥

...कालमें ही असंख्याः पूर्वोक्ता तेषां वार्तामात्रेण ... इति वदन्तं प्रत्याह— भर्तार इत्यादि। भर्तारो अभ्युद्धर्तारः पोषका वा। कस्याः। भुवः पृथिव्याः। कुलपर्वताः इव। इव-शब्दो यथार्थः। यथा कुलपर्वताः षट् हिमवदादयः। किं कृत्वा। मोहं विहाय निर्मोहाः सन्तः। रत्नानां निधयः पयोधयः इव— यथा पयोधयः समुद्राः मुक्ताफलादिरत्नानां निधयः आश्रयाः तथैव ते सम्यग्दर्शनादिरत्नानाम्। कथंभूताः सन्तस्ते निधयः। व्यावृत्तवित्तस्पृहाः व्यावृत्ता विनष्टा वित्तस्य द्रव्यस्य स्पृहा काङ्क्षा येषाम्। तथा स्पृष्टाः कैरपि नो ... केनापि रागादिमलेन नो नैव ॥ नभोइव ॥ इव-शब्दोऽत्र ... नभो यथा निर्लेपं तथा तेऽपि निर्मलाः इत्यर्थः। तथा विभुतया प्रभुत्वेन। ... विश्वस्य जगतो विश्रान्तये क्लेशापनोदाय अवस्थानाय च। एवंविधगुणोपेताश्चिरन्तनानां महामुनीनाम् अन्तिकचराः शिष्याः सन्तः सन्मार्गानुष्ठायिनः। अद्यापि इदानीं तेन [इदानीन्तनेन] कालेन। कियन्तोऽपि प्रतिनियताः। अमी अपि दृश्यमानाः ॥ ३२ ॥ एतैरनुष्ठीयमानमार्गबाह्यः

करते हुए जो इष्ट अथवा अनिष्ट फल प्राप्त होता है उसमें पुरुषार्थकी प्रधानता और दैवकी गौणता समझनी चाहिये। जैसे— व्यापार आदि कार्य करके धनको प्राप्त करना अथवा विषभक्षण आदिके द्वारा मरणको प्राप्त करना ॥ ३२ ॥ जो स्वयं मोहको छोड़कर कुलपर्वतोंके समान पृथिवीका उद्धार करनेवाले हैं, जो समुद्रोंके समान स्वयं धनकी इच्छासे रहित होकर रत्नोंके स्वामी हैं, तथा जो आकाशके समान व्यापक होनेसे किन्हींके द्वारा स्पृष्ट न होकर विश्वकी विश्रान्तिके कारण हैं; ऐसे अपूर्व गुणोंके धारक पुरातन मुनियोंके निकटमें रहनेवाले वे कितने ही साधु आज भी विद्यमान हैं ॥ विशेषार्थ— यहां यह आशंका हो सकती थी कि दैवके ऊपर विश्वास रखकर यत्नोंका आचरण करनेवाले मनुष्य इस समय सम्भव नहीं है, उनकी केवल पुराणोंमें ही बात सुनी जाती

पिता पुत्रं पुत्रः पितरमभिसंधाय बहुधा
विमोहादीहेते सुखलवमवाप्तुं नृपपदम्।
अहो मुग्धो लोको मृतिजननदंष्ट्रान्तरगतो
न पश्यत्यश्रान्तं तनुमपहरन्तं यममुमम्॥ ८४॥

संसारस्थितेर्मोहफलत्वं लोकः किं करोतीत्याह— पिता पुत्रमित्यादि। अभिसंधाय वञ्चयित्वा ईहेते अभिलषतः। सुखलवं सुखस्य लवो लेशो यत्र। अश्रान्तम् अनवरतम्। तनुमपहरन्तं शरीरं विनाशयन्तम्। अमुं लोकप्रसिद्धं यमम्॥ ८४॥

सुनी जाती है। इस आशंकाका परिहार करते हुए यहाँ यह बतलाया है कि वैसे साधु पुरुष कुछ थोड़े-से आज भी यहाँ विद्यमान हैं, उनका सर्वथा अभाव अभी भी नहीं है। जिस प्रकार हिमालय आदि कुलपर्वत मोहसे रहित होकर पृथिवीको धारण करते हैं उसी प्रकार वे साधु जन भी निर्मोह होकर पृथिवीके प्राणियोंका उद्धार करते हैं, जिस प्रकार समुद्र मोती आदि बहुमूल्य रत्नोंका आश्रय (रत्नाकर) होकर भी स्वयं उनकी इच्छा नहीं करता है उसी प्रकार वे साधु पुरुष भी सम्यग्दर्शन आदिरूप गुण-रत्नोंके आश्रय होकर उनकी इच्छासे रहित होते हैं, तथा जिस प्रकार आकाश किन्हीं पदार्थोंसे लिप्त न होकर अपने व्यापकत्व गुणसे समस्त पदार्थोंको आश्रय देता है उसी प्रकार वे साधु जन भी रागादि दोषोंसे लिप्त न होकर अपने माहात्म्यसे समस्त प्राणियोंके संक्लेशको दूर करके उनको आश्रय देते हैं ॥ ८३ ॥ पिता पुत्रको तथा पुत्र पिताको धोखा देकर प्रायः ये दोनों ही मोहके वश होकर अल्प सुखवाले राजाके पद (सम्पत्ति) को प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करते हैं। परन्तु आश्चर्य है कि मरण और जन्मरूप दाढ़ोंके बीचमें प्राप्त हुआ यह मूर्ख प्राणी निरन्तर शरीरको नष्ट करनेवाले उस प्रसिद्ध यमको नहीं देखता है ॥ ८४ ॥ जिसकी नेत्र इन्द्रिय विषयोंके देखनेके लिये खुली हैं अर्थात् विषयोंमें मुग्ध रहनेसे जिसकी विवेकबुद्धि नष्ट हो चुकी है ऐसा यह प्राणी उस

अन्धादयं महानन्धो विषयान्धीकृतेक्षणः ।
चक्षुषान्धो न जानाति विषयान्धो न केनचित् ॥ ३५ ॥
आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम् ।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ॥ ३६ ॥

प्रवृत्तौ कारणमाह— अन्धादित्यादि । विषयान्धीकृतेक्षणः अनन्धानि अन्धानि कृतानि अन्धीकृतानि, विषयैः अन्धीकृतानि ईक्षणानि इन्द्रियाणि यस्य ॥ ३५ ॥ किंचित् [किं च] विषयवाञ्छया कृते प्रवृत्तिः, तद्वाञ्छा च प्रतिप्राणि विद्यते, अतः कस्य वाञ्छितसिद्धिः स्यात् इत्याह— आशेत्यादि । आशा एव गर्तः आशागर्तः । यस्मिन् आशागर्ते । विश्वं जगत् । अणूपमं परमाणुतुल्यम् । कस्येत्यादि । कस्य आशावतः । किं जगत् । कियत् कियत्परिमाणम् । विभागेन वंद्य[वट्य]मानम् । आयाति । अतः वृथा । वः युष्माकम् । विषयैषिता विषयाभिलाषित्वम् ॥ ३६ ॥ अतः एव विषयसुखं विहाय विशिष्टपुण्योपार्जनार्थम्

लोकप्रसिद्ध अन्धेसे भी अधिक अन्धा है, क्योंकि अन्धा प्राणी तो केवल चक्षुके ही द्वारा नहीं जान पाता है, परन्तु वह विषयान्ध मनुष्य इन्द्रियों और मन आदिमेंसे किसीके द्वारा भी वस्तुस्वरूपको नहीं जान पाता है ।। ३५ ।। आशारूप वह गड्ढा प्रत्येक प्राणीके भीतर स्थित है जिसमें कि विश्व परमाणुके बराबर प्रतीत होता है। फिर उसमें किसके लिये क्या और कितना आ सकता है ? अर्थात् प्रायः नहींके समान ही कुछ आ सकता है। अतएव हे भव्य जीवो ! तुम्हारी उन विषयोंकी अभिलाषा व्यर्थ है ।। विशेषार्थ— अभिप्राय इसका यह है कि प्रत्येक प्राणीकी तृष्णा इतनी अधिक बढ़ी हुई है कि समस्त विश्वकी सम्पत्ति भी यदि उसे प्राप्त हो जाय तो भी उसकी वह तृष्णा कभी शान्त नहीं हो सकती है। फिर भला जरा विचार तो कीजिये कि प्राणी तो अनन्त हैं और उनमेंसे प्रत्येककी विषयतृष्णा उसी प्रकारसे वृद्धिंगत है। ऐसी अवस्थामें यदि विश्वकी समस्त सम्पत्तिको भी उनमें विभाजित किया जाय तो उसमेंसे प्रत्येक प्राणीके लिये जो कुछ प्राप्त हो सकता है वह नगण्य ही होगा। अतएव यहां यह उपदेश दिया गया

आयुःश्रीवपुरादिकं यदि भवेत्पुण्यं पुरोपार्जितं
स्यात् सर्वं न भवेन्न तच्च नितरामायासितेऽप्यात्मनि।
इत्यार्याः सुविचार्य कार्यकुशलाः कार्येऽत्र मन्दोद्यमा
द्रागागामिभवार्थमेव सततं प्रीत्या यतन्ते तराम् ॥ ३७ ॥
कः स्वादो विषयेष्वसौ कटुविषप्रख्येष्वलं दुःखिना
यानन्वेष्टुमिव त्वयाऽशुचिकृतं येनाभिमानामृतम्।

एव मुनयः प्रवर्तन्ते, शरीरादेः तस्मिन् सति एव संभवात् इति दर्शयन् आह— आयुः- श्रीरित्यादि। न भवेत् पुण्यं न तत् च आयुरादिकम् अपि भवेत्। आयासिते अपि क्लेशिते अपि आत्मनि। इति एवम्। सुविचार्य। के ते। आर्याः गुणैः गुणवद्भिः वा अर्यन्ते इति आर्याः। कार्ये अत्र ऐहिके आयुरादिकार्ये। मन्दोद्यमाः आदररहिताः। द्राक् शीघ्रम्। आगामिभवार्थं परलोकसिद्धयर्थम्। सततम् अनवरतम्। कया। प्रीत्या प्रसत्त्या। यतन्ते तराम् उद्यमं कुर्वन्ति अत्यर्थम् ॥ ३७ ॥ ननु ऐहिकसुखसाधकेषु दैववशात्प्राप्तेषु विषयेषु कस्मान्मन्दोद्यमो विधीयते इत्याह— कः स्वाद इत्यादि। कटुविषप्रख्येषु कटुविषसदृशेषु यथा कटुविषम् आस्वादितं दाह-संताप-मूर्च्छामरणादिकं करोति तथा विषया अपि। दुःखिना

है कि जब प्राणीकी विषयतृष्णा कभी पूर्ण नहीं हो सकती, बल्कि वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है; तब उन विषयोंकी इच्छा करना ही व्यर्थ है ॥ ३६ ॥ यदि पूर्वमें प्राप्त किया हुआ पुण्य है तो आयु, लक्ष्मी और शरीर आदि भी यथेच्छित प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु यदि वह पुण्य नहीं है तो फिर अपनेको क्लेशित करनेपर भी वह सब (इष्ट आयु आदि) बिल्कुल भी नहीं प्राप्त हो सकता है। इसीलिये योग्यायोग्य कार्य-का विचार करनेवाले श्रेष्ठ जन भले प्रकार विचार करके इस लोक सम्बन्धी कार्यके विषयमें विशेष प्रयत्न नहीं करते हैं, किन्तु आगामी भवोंको सुन्दर बनानेके लिये ही वे निरन्तर प्रीतिपूर्वक अतिशय प्रयत्न करते हैं ॥३७॥ कडुए विषके सदृश संताप उत्पन्न करनेवाले उन विषयोंमें वह कौन-सा स्वाद (आनन्द) है कि जिसके निमित्तसे उक्त विषयोंको खोजनेके लिये दुखी होकर तूने अपने स्वाभिमान (आत्मगौरव) रूप अमृतको मलिन कर डाला है ? अरे, मुझे निश्चय हो चुका है कि तू

आस्वातं [illegible]
क[illegible]॥ ३८ ॥
अनिवृत्ते[illegible]मुखादवशिनष्टि यत् ।
तत्तस्याशक्तितो भोक्तुं वितनो भानुसोमवत् ॥ ३९ ॥

सता । यान् विषयान् अन्वेष्टुं वाञ्छितुम् अलम् अशुचि कृतम् पुनः आस्वादेन कृत्वा कारणेन वा । अभिमानितृतम् अभिमान एव अमृतम् । आ ज्ञात निश्चित मया । व्यत्यासितास्वादनः विपरीतकृतास्वादनः त्वम् । सुधीः अपि सन् इति कष्टं निद्यमेतत् । किंवत् । पित्तज्वराविष्टवत् पित्तज्वरगृहीतवत् । कैः व्यत्यासितास्वादनः । करणैः । किंविशिष्टैः । मनःप्रणिधिभिः मनः प्रणिधिः दूती यथा मनसी वा प्रणिधयः । तथा रागरसैः विषयेषु रागरसो येषाम् ॥ ३८ ॥ विषयासक्तस्य भवतः क्वचिदपि अनिवृत्तचेतसः भक्षितुमसामर्थ्यादेव किंचिदुद्ध्रियते इति आह— अनिवृत्तेरित्यादि । अनिवृत्तेः क्वचिदपि विषये हिंसादिनिवृत्तिरहितस्य तव । अवशिनष्टि उद्ध्रियते । तस्य अनिवृत्तिपरिणतस्य तव । वितनो. राहोः ॥ ३९ ॥ दैवात् सकरुणचेतसा मोक्षलक्ष्मीप्रार्थितया हिंसानिवृत्तिमिच्छता

विद्वान् होकर भी पित्तज्वरसे पीडित मनुष्यकी तरह मनकी दूतीके समान होकर विषयोंमें आनन्द माननेवाली इन्द्रियोंके द्वारा विपरीत स्वादवाला कर दिया गया है ॥ विशेषार्थ— जिस प्रकार विषके भक्षणसे प्राणीको संताप आदि उत्पन्न होता है उसी प्रकार उन विषयोंके उपभोगसे भी प्राणीको संताप आदि उत्पन्न होता है । अतएव वे विषय विषके ही समान हैं । फिर भी प्राणी उन्हें सुखके कारणभूत एवं स्थायी मानकर उनको प्राप्त करनेके लिये जो अयोग्य आचरण करता हुआ आत्मप्रतिष्ठाको भी नष्ट कर डालता है उसका कारण यह है कि जिस प्रकार पित्तज्वरसे युक्त पुरुषकी जीभका स्वाद विपरीत हो जाता है, जिससे कि उसे मधुर दूध भी कडुआ प्रतिभासित होने लगता है, ठीक उसी प्रकार मनसे प्रेरित होकर विषयोंमें अनुरक्त हुई इन्द्रियोंके दास बने हुए इस संसारी प्राणीको भी मोहवश विषतुल्य उन विषयोंके भोगनेमें आनन्दका अनुभव होता है तथा विषयनिवृत्तिरूप जो निराकुल सुख है वह उसे कडुआ प्रतीत होता है ॥ ३८ ॥ तृष्णाकी निवृत्तिसे रहित अर्थात् अधिक तृष्णासे युक्त होकर भी तेरे मुखसे जो सब जगत् अवशिष्ट बचा है वह तेरी भोगनेकी शक्ति न रहनेसे ही बचा रहा है । जिसे राहुके

साम्राज्यं कथमप्यवाप्य सुचिरात्संसारसारं पुनः
तत्त्यक्त्वैव यदि क्षितीश्वरवराः प्राप्ताः श्रियं शाश्वतीम्।
त्वं प्रागेव परिग्रहान् परिहर त्याज्यान् गृहीत्वापि ते
मा भूर्भौतिकमोदकव्यतिकरं संपाद्य हास्यास्पदम् ॥ ४० ॥

[illegible] भवता भूत्वापि परिग्रहाः[हे] त्याज्याः [illegible] साम्राज्यं चक्रवर्तित्वम्। कथमपि महता कष्टेन। सुचिरात् बहुतरकालेन। संसारसारं संसारे सारम् उत्कृष्टम्। शाश्वती [अविनश्वरी] मोक्षलक्ष्मीम्। प्रागेव अगृहीतेष्वेव [illegible] त्याज्यानपि इति सम्बन्धः। [illegible] इति षष्ठी। इत्थंभूतानपि परिग्रहान् गृहीत्वा [illegible] मा भूः हास्यास्पदम्। [illegible] तथा हास्यास्पदं माभूदिति सम्बन्धः। [illegible] संपाद्य [illegible]। किं तत् भौतिक-मोदकव्यतिकरं परिव्राजकमोदकप्रघट्टकम्। यथैवेह केनचित्परिव्राजकेन भिक्षायां मोदको लब्धः, स च [illegible] गूथोपरि पतितोऽपि तेन गृहीतोऽन्येन च केनचित् परिव्राजको भणितः विरूपकोऽयं मोदकः परित्यज्यतामिति। तेन चोक्तं[1] प्रक्षाल्य त्यक्ष्यामीति ॥ ४० ॥ शाश्वतश्रियो निर्ग्रन्थावस्थैव साधिका न गृहस्थावस्थेति दर्शयन्नाह—

मुखसे शेष रहे सूर्य और चन्द्र ॥ विशेषार्थ—जिस प्रकार यद्यपि राहु सूर्य और चन्द्रको पूर्णग्रास ही करना चाहता है, फिर भी जो उनका भाग शेष बचा रहता है वह उसकी अशक्तिके कारण ही बचा रहता है, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणीकी तृष्णा तो इतनी अधिक होती है कि वह समस्त जगत्को ही स्वाधीन करना चाहता है, फिर भी जो समस्त जगत् उसके स्वाधीन नहीं हो पाता है उसमें उसकी अशक्ति कारण है, न कि विषय-तृष्णाकी न्यूनता ॥ ३९ ॥ जिस किसी प्रकारसे संसारके सारभूत साम्राज्य (सार्वभौम राज्य) को चिर कालमें प्राप्त करके भी यदि चक्रवर्ती उसे छोड़नेके पश्चात् ही अविनश्वर मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त हुए हैं तो फिर तुम त्यागनेके योग्य उन परिग्रहों (विषयों) को ग्रहण करनेके पहिले ही छोड़ दो। इससे तुम परिव्राजकके लड्डूके समान विषयोंको सम्पादन करके हँसीके पात्र न बनो ॥ ४० ॥ विशेषार्थ—संसारमें सबसे श्रेष्ठ चक्रवर्तीका साम्राज्य समझा जाता है।

१ ज चौसा।

सर्वं धर्ममयं क्वचित्क्वचिदपि प्रायेण पापात्मकं
क्वाप्येतद्द्वयवत्करोति चरितं प्रज्ञाधनानामपि।

सर्वमित्यादि। गेहाश्रमः कर्ता। चरितं कर्म। करोति। कथंभूतं चरितम्। **सर्वं धर्ममयं क्वचित्** सामायिकाद्यवस्थायां सर्वं चरितं धर्ममयं धर्मः प्रकृतो यत्र। **क्वचिदपि** क्वापि कृष्यादौ। प्रायेण बाहुल्येन। पापात्मकं पापरूपम्। क्वापि प्रासादादिकरणे एतत् चरितं द्वयवत् पुण्यपापात्मकम्। प्रज्ञाधनानामपि विवेकिनामपि। तत् [यत्] एवं तस्मात् एष गृहाश्रमः पापः। तत्प्रसिद्धम् अन्धरज्जुवलनम्— यथा अन्धो रज्जुवलनं विदधानो न विशिष्टं निरुपद्रवं च विदधाति तथा गेहाश्रमः कर्मेति। स्नानं गजस्याथवा— यथा गजः स्नानं कृत्वा पुनरुद्धूलनं करोति तथा गेहाश्रमः पापशुद्धिं कृत्वा पुनः पापोपार्जनं करोति :

परन्तु उसको कष्टपूर्वक प्राप्त करके भी अन्तमें मोक्षसुखकी इच्छासे उन्हें भी वह छोड़ना ही पड़ा है। और तो क्या कहा जाय, किन्तु तीर्थंकर भी प्राप्त राज्य-लक्ष्मीको छोड़ देनेके पश्चात् ही जगत्का कल्याण करनेवाली आर्हन्त्य-लक्ष्मी और अन्तमें मोक्ष-लक्ष्मीको प्राप्त करते हैं। इस प्रकार जब समस्त विषयोंका छोड़ना अनिवार्य है तब सबसे उत्तम तो यही है कि ममत्वबुद्धिको छोड़कर उन्हें ग्रहण ही न किया जाय, अन्यथा यदि उन्हें ग्रहण करनेके पश्चात् छोड़ा तो फिर उस साधुके समान हंसीका पात्र बनना पड़ेगा जो भिक्षामें प्राप्त हुए लड्डूके विष्ठामें गिर जानेपर उसे धोनेके पश्चात् छोड़ता है। अभिप्राय यह है कि जो प्राणी तदनुकूल धर्मके आचरणके विना ही मोहवश विषयोंको प्राप्त करनेके लिये निष्फल प्रयत्न करते हैं वे लोगोंकी हंसीके पात्र बनते हैं। अतएव वास्तविक सुखका साधन जो धर्म है उसका ही परिपालन करना योग्य है। इससे ऐहिक एवं पारलौकिक सुखकी प्राप्ति स्वयमेव होगी॥ ४०॥

गृहस्थाश्रम विद्वज्जनोंके भी चरित्रको प्रायः किसी सामायिक आदि शुभ कार्यमें पूर्णतया धर्मरूप, किसी विषयभोगादिरूप कार्यमें पूर्णतया पापरूप, तथा किसी जिनगृहादिके निर्मापणादिरूप कार्यमें उभय

तस्मादेष तदन्धरज्जुवलनं स्नानं गजस्याथवा
मत्तोन्मत्तविचेष्टितं न हि हितो गेहाश्रमः सर्वथा ॥ ४१ ॥

अथवा मत्तोन्मत्तविचेष्टितम्– मत्तो मद्याभिभूतः उन्मत्तो धत्तूर-कोद्रवादिजनितमदो मदरहितो वा तयोश्चेष्टितम् अनुष्ठानं येषां सुन्दरमसुन्दरं च भवति। तथा गेहाश्रमकर्मापि। यत एवं ततः न हि हितः— हि स्फुटं न हितः शाश्वतलक्ष्मीसाधकत्वेनोपकारकः। गेहाश्रमो गृहस्थावस्था ॥ ४१ ॥ तथा गेहाश्रमे कृष्यादिव्यापाराणां सुखस्य असाधकत्वं दर्शयन्नाह—

(पुण्य-पाप) रूप करता है। इसलिये यह गृहस्थाश्रम अन्धेके रस्सी भांजनेके समान, अथवा हाथीके स्नानके समान, अथवा शराबी या पागलकी प्रवृत्तिके समान सर्वथा हितकारक नहीं है॥ विशेषार्थ— अन्धा मनुष्य आगे आगे रस्सीको भांजता है, परन्तु वह पीछेसे उकलती जाती है, अतएव जिस प्रकार उसका वह रस्सी भांजना व्यर्थ है; अथवा हाथी पहिले स्नान करता है और तत्पश्चात् वह पुनः अंगपर धूलि डाल लेता है, इसलिये जिस प्रकार उक्त हाथीका स्नान करना व्यर्थ है; अथवा शराबी या पागल मनुष्य कभी उत्तम और कभी निकृष्ट चेष्टा करता है, परन्तु वह विवेकशून्य होनेसे जिस प्रकार हितकारक नहीं है; उसी प्रकार यह गृहस्थाश्रम भी हितकारक नहीं है। कारण यह कि उक्त गृहस्थाश्रममें रहता हुआ मनुष्य जहां जिनपूजा, स्वाध्याय एवं दानादिरूप शुभ कार्योंको करता है वहां वह अर्थोपार्जनके लिये हिंसाजनक आरम्भ एवं विषयसेवनादिरूप पापाचरण भी करता ही है। अतएव अन्धेके रस्सी भांजने आदिके समान वह गृहस्थाश्रम कभी कल्याणकारी नहीं हो सकता है। जीवका सच्चा कल्याण उक्त गृहस्थाश्रमको छोड़ करके निर्ग्रन्थ अवस्थाकी प्राप्तिमें ही सम्भव है॥ ४१॥ तुम यहां सुखको प्राप्त करनेकी आशासे भूमिको जोतकर और बीज बो करके अर्थात् खेती करके, राजाओंकी सेवा करके अर्थात् दासकर्म करके, तथा बहुत वार वनमें और समुद्रमें परिभ्रमण करके अर्थात् व्यापार करके बहुत कालसे क्यों कष्ट सह

कृष्ट्वोप्त्वा नृपतीन्निषेव्य बहुशो भ्रान्त्वा वनेऽम्भोनिधौ
किं क्लिश्नास्यसुखार्थमत्र सुचिरं हा कष्टमज्ञानतः ।
तैलं त्वं सिकतास्वयं मृगयसे वाञ्छेद्विषाज्जीवितुं
नन्वाशाग्रहनिग्रहात्तव सुखं न ज्ञातमेतत्त्वया ॥ ४२ ॥

आशाहुताशनग्रस्तवस्तूच्चैर्वंशजां जनाः ।
हा किलैत्य सुखच्छायां दुःखघर्मापनोदिनः ॥ ४३ ॥

कृष्ट्वेत्यादि । कृष्ट्वा भूमिं विलिख्य । उप्त्वा बीजं प्रक्षिप्य कृषिं कृत्वेत्यर्थः । नृपतीन् निषेव्य राजसेवां कृत्वा । बहुशो अनेकधा । अम्भोनिधौ समुद्रे । किम् अज्ञानतः क्लिश्नासि क्लेशं करोषि । अत्र संसारे । हा विषादे कष्टमेतत् । त्वम् अयम् अज्ञानतः तैलं सिकतासु वालुकासु मृगयसे अन्वेषयसे । ननु अहो । आशाग्रहनिग्रहात् आशैव ग्रहः प्राणिनां पारतन्त्र्यहेतुत्वात् । तस्य निग्रहात् ॥ ४२ ॥ उपदिष्टेऽपि सुखोपाये तदनिग्रहं कुर्वाणाः प्राणिनः एतत्कुर्वन्ति इत्याह— आशेत्यादि । आशैव हुताशनोऽग्निः प्राणिनां संताप-कारित्वात् । तेन ग्रस्तानि च तानि वस्तूनि च तान्येव उच्चैर्वंशाः तेभ्यो जातां सुखच्छायां सुखाय छाया सुखस्य वा छाया लेशः । छाया हि प्रकाशावरणं लेशश्चोच्यते । किलैत्य आश्रये अरुचौ लोकोक्तौ वा । एतत्प्राप्य दुःखघर्मापनोदिनः दुःखमेव घर्मो दाहसंतापजनकत्वात् तस्य अपनोदिनः स्फेटकाः भवन्ति ॥ ४३ ॥ सुखलवमात्रमपि दैवात् कथमपि प्राप्तं स्थिरं न

रहे हो ? खेद है कि तुम अज्ञानतासे यह जो कष्ट सह रहे हो उससे ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि तुम बालुमें तेल की खोज कर रहे हो अथवा विषभक्षणसे जीनेकी इच्छा कर रहे हो । अभिप्राय यह कि जिस प्रकार बालुमें तेलकी प्राप्ति असम्भव है अथवा विषके भक्षणसे जीवित रहना असम्भव है उसी प्रकार उक्त कृषि आदिके द्वारा यथार्थ सुखका प्राप्त होना भी असम्भव है । हे भव्य ! क्या तुम्हें यह ज्ञात नहीं है कि तेरा वह अभीष्ट सुख निश्चयतः आशा (विषयाभिलाषा) रूप पिशाचीके नष्ट करनेसे ही प्राप्त हो सकता है ? ॥ ४२ ॥ खेद है कि अज्ञानी प्राणी आशारूप अग्निसे व्याप्त भोगोपभोग वस्तुओंरूप ऊंचे बांसोंसे उत्पन्न हुई सुखकी छाया (सुखाभास=दुख) को प्राप्त करके दुःखरूप सन्तापको दूर करना चाहते हैं । विशेषार्थ—जो अज्ञानी प्राणी विषयतृष्णाके वश होते हुए

खातेऽभ्यासजलाशयाजनि शिला प्रारब्धनिर्वाहिणा [illegible]
॥ १४४ ॥ [illegible]

भवति इति दृष्टान्तद्वारेण समर्थयते— खाते इत्यादि । खाते खनने । कया । अभ्यासजलाशया निकटे जलप्राप्तीच्छया । अजनि संजाता । कासौ । शिला । प्रारब्धनिर्वाहिणा खननम्

अभीष्ट भोगोपभोग वस्तुओंको प्राप्त करके यथार्थ सुख प्राप्त करना चाहते हैं, उनका यह प्रयत्न इस प्रकारका है जिस प्रकार कि सूर्यके तापसे पीड़ित होकर कोई मनुष्य उस संतापको दूर करनेके लिए अग्निसे जलते हुए ऊंचे बांसोंकी छायाको प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है। अभिप्राय यह है कि प्रथम तो ऊंचे बांसोंकी कुछ उपयुक्त छाया ही नहीं पड़ती है, दूसरे वे अग्निसे जल भी रहे हैं, अतएव ऐसे बांसोंकी छायाका आश्रय लेनेवाले प्राणीका वह संताप जिस प्रकार नष्ट न होकर और अधिक बढ़ता ही है उसी प्रकार विषयतृष्णाको शान्त करनेकी अभिलाषासे जो प्राणी इष्ट सामग्रीके संचयमें प्रवृत्त होता है इससे उसकी वह तृष्णा भी उत्तरोत्तर बढ़ती ही है, परन्तु कम नहीं होती। जैसा कि समन्तभद्र स्वामीने भी कहा है— तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासामिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव । स्थित्यैव कायपरितापहरं निमित्तमित्यात्मवान् विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत् ॥ बृ. स्व. ८२. अर्थात् विषयतृष्णारूप अग्निकी ज्वालायें प्राणीको सब ओरसे जलाती हैं । इनकी शान्ति इन्द्रियविषयोंकी वृद्धिसे नहीं होती, बल्कि उससे तो वे और भी अधिक बढ़ती हैं । यह उस तृष्णाका स्वभाव ही है । प्राप्त हुए इष्ट इन्द्रियविषय कुछ थोड़े-से समयके लिये केवल शरीरके संतापको दूर कर सकते हैं । इस प्रकार विचार करके हे जितेन्द्रिय कुन्थु जिनेन्द्र! आप चक्रवर्तीकी भी विभूतिको छोड़कर उस विषयजन्य सुखसे पराङ्मुख हुए हैं ॥ १४३ ॥ निकटमें जलप्राप्तिकी इच्छासे भूमिको खोदनेपर [illegible] प्राप्त हुई । अब प्रारम्भ किये हुए इस कार्यका निर्वाह करते हुए उसने

क्षारं वार्युदगात्तदप्युपहतं पूतिक्रमिश्रेणिभिः
शुष्कं तच्च पिपासतोऽस्य सहसा कष्टं विधेश्चेष्टितम् ॥ ४४ ॥

अपरित्यज्य[ज]ता। भूयोऽभेदि पुनः स्फोटिता शिला। रसातलावधि पातालपर्यन्तम्। ततः रसातलावधिशिलाभेदनात्। कृच्छ्रात् महता कष्टेन। सुतुच्छं स्वल्पम्। उदगात् निर्गतम्। किं तत्। वारि। तदपि क्षारमपि वारि। उपहतम् उपद्रुतम्। काभिः। पूतिक्रमिश्रेणिभिः पूतिः पूतिगन्धा क्रमिश्रेणयः क्रमिपङ्क्तयः ताभिः। पिपासि[स]तः पातुमिच्छतः। सहसा झटिति। कष्टमिति विषादे। तच्च वारि शुष्कम्। विधेश्चेष्टितं कर्मणो विलसितम् ॥ ४४ ॥

पाताल पर्यन्त खोदकर उस चट्टानको तोड़ दिया। तत्पश्चात् वहां बड़े कष्टसे कुछ थोड़ा-सा जो खारा जल प्रगट हुआ वह भी दुर्गन्धयुक्त और क्षुद्र कीड़ोंके समूहसे व्याप्त था। इसको भी जब वह पीने लगा तब वह भी शीघ्र सूख गया। खेद है कि दैवकी लीला विचित्र है ॥ विशेषार्थ— यहां एक उदाहरण द्वारा पुरुषार्थको गौण करके दैवकी प्रधानता निर्दिष्ट की गई है। कल्पना कीजिये कि कोई एक मनुष्य प्याससे अतिशय पीड़ित था। इसलिये जल प्राप्त करनेके लिये वह भूमिको खोदने लगता है। किन्तु कुछ थोड़ा-सा खोदनेपर वहां एक विशाल कठोर चट्टान आ जाती है। इतनेपर भी वह अपने प्रारब्ध कार्यको चालू रखते हुए उस चट्टानको तोड़ कर उसे बहुत अधिक गहरा खोद डालता है। तब कहीं उसे वहां कुछ थोडा सा जल दिखायी देता है, सो भी खारा, दुर्गन्धयुक्त और कीडोंसे परिपूर्ण। फिर भी जब वह उसे भी पीना प्रारम्भ करता है तो वह भी देखते ही देखते सूख जाता है। इसको ही दैवकी प्रतिकूलता समझनी चाहिये। तात्पर्य यह कि यदि पापका उदय है तो प्राणी इष्ट विषयसामग्रीको प्राप्त करनेके लिये कितना भी अधिक प्रयत्न क्यों न करे, परंतु वह उसे प्राप्त नहीं हो सकती है। यदि किसी प्रकार कुछ थोड़ी-सी प्राप्त भी हुई तो इससे उसकी तृष्णा अग्निमें डाले हुए घीके समान और भी अधिक बढ़ती जाती है जिससे कि उसे शांति मिलनेके बजाय अशांति ही अधिक प्राप्त होती है। अतएव सुखी रहनेका

शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न संपदः।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः ॥ ४५ ॥
स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्र नासुखम्।
तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागतिः ॥ ४६ ॥

ननु निरवद्यवृत्त्या अर्थोपार्जनं कृत्वा संपदां वृद्धिं विधाय सुखानुभवनं करिष्यामीति वदन्तं प्रत्याह— शुद्धैरित्यादि। शुद्धैः निरवद्यैः। स्वच्छाम्बुभिः निर्मलजलैः। सिन्धवः नद्यः ॥ ४५ ॥ अस्तु नाम यथाकथंचित्तासां वृद्धिस्तथापि धर्मसुखज्ञानसुगतिसाधनत्व-मस्तीति मन्यमानं प्राह— स धर्म इत्यादि। यत्र यस्मिन् सति। अनेन यथाख्यातचारित्र-स्यैव धर्मत्वम् अनन्तसुखस्यैवा[व] सुखत्वं केवलज्ञानस्यैव ज्ञानत्वं मोक्षगतेरेव गतित्वमुक्तं भवति ॥ ४६ ॥ इत्थंभूतं सुखादिकं कष्टसाध्यम् अर्थोपार्जनं तु सुखसाध्यमतस्तत्रैव प्रवृत्ति-

सरल उपाय यही है कि पूर्व पुण्यसे प्राप्त हुई सामग्रीमें संतोष रखकर भविष्यके लिये पवित्र आचरण करे। कारण यह कि सुखका हेतु एक धर्माचरण ही है, न कि केवल (दैवनिरपेक्ष) पुरुषार्थ ॥४४॥ शुद्ध धनके द्वारा सज्जनोंकी भी सम्पत्तियां विशेष नहीं बढ़ती हैं। ठीक है– नदियां शुद्ध जलसे कभी भी परिपूर्ण नहीं होती हैं ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार नदियां कभी आकाशसे बरसते हुए शुद्ध जलसे परिपूर्ण नहीं होती हैं, किन्तु वे इधर उधरकी गंदी नालियों आदिके बहते हुए जलसे ही परिपूर्ण होती हैं; उसी प्रकार सम्पत्तियां भी कभी किसीके न्यायोपार्जित धनके द्वारा नहीं बढ़ती हैं, किन्तु वे असत्यभाषण, मायाचार एवं चोरी आदिके द्वारा अन्य प्राणियोंको पीड़ित करनेपर ही वृद्धिको प्राप्त होती हुई देखी जाती हैं। इससे यहां यह सूचित किया गया है कि जो सज्जन मनुष्य यह सोचते हैं कि न्यायमार्गसे धन-सम्पत्तिको बढ़ाकर उससे सुखका अनुभव करेंगे उनका वह विचार योग्य नहीं है ॥ ४५ ॥ धर्म वह है जिसके होनेपर अधर्म न हो, सुख वह है जिसके होनेपर दुख न हो, ज्ञान वह है जिसके होनेपर अज्ञान न रहे, तथा गति वह है जिसके होनेपर आगमन न हो ॥ विशेषार्थ– जो प्राणी यह विचार करते हैं कि भले ही वह सम्पत्ति न्याय्य अथवा अन्याय्य मार्गसे क्यों न प्राप्त होवे, फिर भी उससे धर्म, सुख, ज्ञान और शुभ गतिकी तो सिद्धि होती

वार्तादिभिर्विषयलोलविचारशून्यः
क्लिश्नासि यन्मुहुरिहार्थपरिग्रहार्थम् ।
तच्चेष्टितं यदि सकृत्परलोकबुद्ध्या
न प्राप्यते ननु पुनर्जननादि दुःखम् ॥४७॥

विषयाशक्त्यमाह — वार्तेत्यादि । कृषि-पाशुपाल्य-वाणिज्यैः वार्ता । सा आदिर्येषां दानादीनां तैः । विषयलोल विषयलम्पट भो विचारशून्य इत्थम् अर्थोपार्जनं कृतं किं मम परिणामिकं भवेदिति विचाररहित त्वं यत् क्लिश्नासि आत्मानम् आयासयसि । मुहुः पुनः पुनः इह संसारे अर्थपरिग्रहार्थम् अर्थोपार्जनार्थम् । तच्चेष्टितम् आत्मनः क्लेशकारि दुर्धरानुष्ठानम् यदि सकृत् कदाचित् परलोकबुद्ध्या क्रियते ॥४७॥ परलोकके लिये

ही है, अतएव उसको उपार्जित करना योग्य ही है। ऐसा विचार करने-वालोंको लक्ष्यमें रखकर यहां यह बतलाया गया है कि वैसी सम्पत्ति धर्म, सुख, ज्ञान और सुगति इनमेंसे किसीको भी सिद्ध नहीं कर सकती है। कारण यह कि धर्मका स्वरूप यह है कि जो दुखको दूर करे। वह धर्म समस्त धन-धान्यादि परिग्रह एवं राग-द्वेषादिकोंको छोड़कर यथा-ख्यातचारित्रके प्राप्त होनेपर ही हो सकता है, अतः उसकी सिद्धि पापो-त्पादक सम्पत्तिके द्वारा कभी नहीं हो सकती है। इसी प्रकार सुख भी वास्तविक वही हो सकता है जिसमें दुखका लेश न हो। ऐसा सुख उस सम्पत्तिसे सम्भव नहीं है। सम्पत्तिके द्वारा प्राप्त होनेवाला सुख आकुलताको उत्पन्न करनेवाला है तथा वह स्थायी भी नहीं है। अतएव वह सम्पत्ति सुखकी भी साधक नहीं है। तथा जिसके प्रगट होनेपर समस्त विश्व हाथकी रेखाओंके समान स्पष्ट दिखने लगता है वही ज्ञान यथार्थ ज्ञान कहलानेके योग्य है। वह ज्ञान (केवलज्ञान) भी उक्त सम्पत्तिसे सिद्ध नहीं हो सकता। जिस गतिसे पुनः संसारमें आगमन नहीं होता है वह पंचम गति (मोक्ष) ही सुगति है। वह सम्यग्दर्शन आदिरूप अपूर्व रत्नत्रयके द्वारा सिद्ध होती है, न कि धन-धान्य आदिके द्वारा। अतएव वैसी विचार करना अविवेकतासे परिपूर्ण है॥४६॥

हे विभ्रमलम्पट! तू यहां विषयोंमें मुग्ध होकर विवेकसे रहित होता हुआ

विषयमुग्ध विवेकशून्यः

संकल्प्येदमनिष्टमिष्टमिदमित्यज्ञातयाथात्म्यको
बाह्ये वस्तुनि किं वृथैव गमयस्यासज्य कालं मुहुः ।
अन्तःशान्तिमुपैहि यावददयप्राप्तान्तकप्रस्फुर-
ज्ज्वालाभीषणजाठरानलमुखे भस्मीभवेन्नो भवान् ॥ ४८ ॥

संकल्प्य इदमनिष्टमिष्टमिदमिति [illegible] । अज्ञातयाथात्म्यकः यथावत्पदार्थपरिज्ञानरहितः । आसज्य आसक्तो भूत्वा संबंध्य(?) वा । कालं गमयसि नयसि । अन्तःशान्तिं रागादिपरिहारम् उपैहि गच्छ । [illegible] अदयो निर्दयः [illegible] प्राप्तः [illegible] प्रस्फुरत् [illegible] ज्वालाभीषणः [illegible] जाठरानलः तस्य मुखे ॥ ४८ ॥ [illegible]

जो खेती, पशुपालन एवं व्यापार आदिके द्वारा धन कमानेके लिये बार बार कष्ट सहता है वैसी कष्टमय प्रवृत्ति (तपश्चरणादि) परलोककी बुद्धिसे अर्थात् आगामी भवको सुखमय बनानेके लिये यदि एक बार भी करता तो फिर निश्चयसे बार बार जन्म-मरण आदिके दुःखको न प्राप्त करता ॥ ४७ ॥ हे भव्य ! तू पदार्थके यथार्थ स्वरूपको न जानकर "यह इष्ट है और यह अनिष्ट है" इस प्रकार मानता हुआ बाह्य वस्तुओं (स्त्री पुत्र एवं धन आदि) में आसक्त होकर व्यर्थमें ही क्यों बार बार समयको बिताता है ? जब तक तू प्राप्त हुए निर्दय काल (मरण) की प्रगट हुई ज्वालाओंसे भयानक औदर्य अग्निके मुखमें पड़कर भस्मसात् नहीं होता है तबतक राग-द्वेषादिके परिहारस्वरूप आन्तरिक शान्तिको प्राप्त कर ले ॥ विशेषार्थ— किसका कब मरण होगा, इसे कोई भी प्राणी नहीं जानता है । इसलिये यहां परलोकको सुखमय बनानेके लिये यह उपदेश दिया गया है कि हे जीव ! तू अविवेकी होकर बाह्य पर पदार्थोंमें राग और द्वेष करता हुआ अपने समयको यों ही न बिता । कारण कि, ऐसा करते हुए तुझे कभी निराकुलता प्राप्त न हो सकेगी । पहिली बात तो यह है कि ये बाह्य पदार्थ अपनी इच्छाके अनुसार प्रायः प्राप्त ही नहीं

आयातोऽस्यतिदूरमङ्ग परवानाशासरित्प्रेरितः
किं नावैषि ननु त्वमेव नितरामेनां तरीतुं क्षमः।

पात्यमानस्य भवतस्तरणोपाय इति दर्शयन्नाह— आयातोऽसीत्यादि। अङ्ग अहो। परवान् कर्माधीनः। एनाम् आशासरितम्। क्षमः समर्थः। स्वातंत्र्यम् औदासीन्यं निर्मोहताम्। दुरन्तेत्यादि। दुष्टः अन्तः सामीप्यं यस्य दुःखेन वा अन्तो अवसानो यस्य स चासौ

होते हैं, फिर यदि पुण्यके उदयसे कुछ प्राप्त भी हुए तो वे चिरस्थायी नहीं हैं– किसी न किसी प्रकार उनका वियोग अवश्य होनेवाला है। अतएव हे भव्य जीव! उन अस्थिर बाह्य पदार्थोंमें राग-द्वेष न करके तू अहिंसा आदि सद्व्रतोंका आचरण करता हुआ स्थिर व निराबाध आत्मीक सुखको प्राप्त करनेका प्रयत्न कर। यदि तूने ऐसा न किया और इस बीच मृत्युका ग्रास बन गया तो फिर यह जो आत्महितकी साधक सामग्री (मनुष्यभव आदि) तुझे सौभाग्यसे प्राप्त हो गई है वह दुर्लभ हो जावेगी॥ ४८॥ हे भव्य! तू पराधीन बनकर तृष्णारूपी नदीसे प्रेरित होता हुआ बहुत दूर आ गया है। क्या तू यह नहीं जानता है कि निश्चयसे इस तृष्णारूप नदीको पार करनेके लिये तू ही अतिशय समर्थ है? अतएव तू स्वतन्त्रताका अनुभव कर जिससे कि शीघ्र ही उस तृष्णा-नदीके किनारे जा पहुंचे। यदि तू ऐसा नहीं करता है तो फिर उस विषयतृष्णारूप नदीके प्रवाहमें बहकर दुर्दम यमरूप मगरके खुले हुए गम्भीर मुखसे भयानक ऐसे संसाररूप समुद्रके मध्यमें जा पहुंचेगा॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार कोई मनुष्य यदि नदीके प्रवाहमें पड़ जाता है तो वह दूर तक बहता हुआ चला जाता है। ऐसी अवस्थामें यदि वह अपने तैरनेके सामर्थ्यका अनुभव करके उसे पार करनेका प्रयत्न करे तो वह निश्चित ही उससे पार हो सकता है। परन्तु यदि वह व्याकुल होकर अपनी तैरनेकी कलाका स्मरण नहीं करता है तो फिर वह उसके साथ बहता हुआ उस भयानक अपार समुद्रके बीचमें जा पहुंचेगा जहां उसे खानेके

स्वातन्त्र्यं व्रज यासि तीरमचिरान्नो चेद् दुरन्तान्तक-
ग्राहव्यात्तगभीरवक्त्रविषमे मध्ये भवाब्धेर्भवेः ॥ ४९ ॥
आस्वाद्याद्य यदुज्झितं विषयिभिर्व्यावृत्तकौतूहलै-
स्तद्भूयोऽप्यविकुत्सयन्नभिलषस्यप्राप्तपूर्वं यथा ।

अन्तकश्च यमः स एव ग्राहो जलचरः तेन व्यात्तं प्रसारितं गम्भीरं महत् तच्च तद्वक्त्रं च तेन विषमे रौद्रे ॥ ४९ ॥ विषयाकांक्षया अभिभूतश्च भवान् [न]भोग्यमपि भुङ्क्ते इत्याह— आस्वाद्येत्यादि । आस्वाद्य भुक्त्वा । यत् स्त्र्यादि । उज्झितं त्यक्तम् । विषयिभिः । कथंभूतैः । व्यावृत्तकौतूहलैः विनष्टस्त्र्यादिरागरसैः । हे जन्तो । अद्य इदानीम् । तत् स्त्र्यादिकं पुनरपि अभिलषसि भोक्तुं वाञ्छसि । कथम् । अप्राप्तपूर्वं यथा भवत्येवं न प्राप्तं

लिये मुखको फाड़कर हिंस्र जलजन्तु (मगर व घड़याल आदि) तत्पर रहेंगे । ठीक इसी प्रकारसे अज्ञानी प्राणी नदीके समान भयावह विषयोंकी तृष्णामें फंसकर उसके कारण मोक्षमार्गसे बहुत दूर हो जाता है । वह यदि यह विचार करे कि मैं स्वयं ही इस विषयतृष्णामें फंसा हूं, अतः इससे छुटकारा पानेमें भी मैं पूर्णतया स्वतन्त्र हूं, मुझे दूसरा कोई परतन्त्र करनेवाला नहीं है; तो वह उक्त विषयतृष्णाको छोड़कर मोक्षमार्गमें प्रवृत्त हो सकता है । परन्तु यदि वह अपनी ही अज्ञानतासे ऐसा नहीं करता है तो यह निश्चित है कि इससे वह समुद्रके समान अथाह और अपरिमित उस संसार (निगोदादि पर्याय) के मध्यमें जा पहुंचेगा कि जहांसे उसका निकलना अशक्य होगा और जहां उसे अनन्त वार जन्म-मरणके दुखको सहना पड़ेगा ।। ४९ ।। जिन स्त्री आदि भोगोंको विषयी जनोंने भोग करके अनुरागके हट जानेसे छोड़ दिया है उनको (उच्छिष्टको) तू घृणासे रहित होकर फिरसे भी इस प्रकारसे भोगनेकी इच्छा करता है जैसे कि मानों वे कभी पूर्वमें प्राप्त हो न हुए हों । हे क्षुद्र प्राणी ! जब तक तू पापसमूहरूप वीर शत्रुकी सेनाकी फहराती हुई ध्वजाके समान इस दुष्ट विषयतृष्णाको नष्ट नहीं कर देता है तब तक क्या तुझे शान्ति

जन्तो किं तव शान्तिरस्ति न भवान् यावद् दुराशामिमा-
मंहःसंहतिवीरवैरिपृतनाश्रीवैजयन्तीं हरेत् ॥ ५० ॥
भङ्क्त्वा भाविभवांश्च भोगिविषमान् भोगान् बुभुक्षुर्भृशं
मृत्वापि स्वयमस्तभीतिकरुणः सर्वाञ्जिघांसुर्मुधा ।

पूर्वं कदाचिद्यत्तत् अप्राप्तपूर्वम् । किं कुर्वन् । अविकुत्सयन् धिक् विषयिणाम् उत्सृष्टमिदम् इत्येवं निन्दयन् । शान्तिः रागाद्युपशमः परमसुखं निर्वाणं वा । दुराशां दुष्टाम् आशाम् । इमां स्त्र्यादिविषयाम् । कथंभूतामित्याह—अंह इत्यादि । अंहांसि पापानि तेषां संहतिः संघातः सैव वीरवैरिपृतना सुभटशत्रुसेना तस्याः श्रीवैजयन्तीं पताकाम् । हरेत् स्फेटयेत् ॥५०॥ तामहरन् भवान् अपरमपि किं कर्तुमिच्छतीत्याह— भङ्क्त्वेत्यादि । भाविभवांश्च स्वर्गादि-परलोकानपि । च शब्दोऽप्यर्थे । कथंभूतान् । भोगिविषमान् भोगिनां व्यसनिनां विषमान्

प्राप्त हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती है ।। विशेषार्थ— जिस प्रकार युद्धभूमिमें जब तक शत्रुसेनाकी ध्वजा फहराती रहती है तब तक शूर-वीरोंको शान्ति नहीं मिलती है— तब तक वे उस ध्वजाको गिरानेके लिये भीषण रणमें ही उद्युक्त रहते हैं । इस प्रकार जब वे उस शत्रुकी ध्वजाको छिन्नभिन्न कर डालते हैं तब ही उन्हें अभूतपूर्व आनन्दका अनुभव होता है । ठीक उसी प्रकारसे यह प्राणी भी जब तक शत्रुसेनाकी ध्वजाके समान उस दुष्ट विषयवासनाको नष्ट नहीं कर देता है तब तक शान्ति (सन्तोष) को प्राप्त नहीं होता— वह उन विषयोंको प्राप्त करनेके लिये नाना प्रकारके कष्टोंको ही सहता है । किन्तु जैसे ही वह विवेकको प्राप्त होकर उक्त विषयतृष्णाको नष्ट कर देता है वैसे ही उसे अनुपम शान्तिका अनुभव होने लगता है । इससे यह निश्चत है कि सुखका कारण अभीष्ट विषयोंकी प्राप्ति नहीं है, किन्तु उनका परित्याग ही है ।। ५० ।। जो स्वर्गादिरूप आगामी भव भोगी जनोंके लिये विषम हैं, अर्थात् जो विषयी जनोंको कभी नहीं प्राप्त हो सकते हैं, उनको नष्ट करके जो अज्ञानी प्राणी सर्पके समान भयंकर उन भोगोंके भोगनेकी अतिशय इच्छा करता है वह भय और दयासे रहित होकर स्वयं मर

यद्यत्साधुविगर्हितं हतमतिस्तस्यैव धिक् कामुकः
कामक्रोधमहाग्रहाहितमनाः किं किं न कुर्याज्जनः ॥ ५१ ॥

अगोचरान्। भङ्क्त्वा विनाश्य। भोगान् बुभुक्षुर्भृशं भोगान् भोक्तुमिच्छुः। भृशम् अत्यर्थम्। किंविशिष्टान् भोगान्। भोगिविषमान् सर्पवद्रौद्रान् संतापमूर्च्छामरणविधायकत्वात्। मृत्वापि स्वयं मृत्वापि मरणम् अङ्गीकृत्वापि स्वयम्। अस्तभीतिः परित्यक्तभयः सन् भोगान् बुभुक्षुः। तथा स्वयम् अस्तकरुणः सर्वान् पितृपुत्रकलत्रादीन् जिघांसुः हन्तुमिच्छुः। अथवा मृत्वापि विषयासक्तिवशात् दुःकर्म उपार्जयित्वा जन्मनो वैफल्यं कृत्वापि। तथा मुधा एवमेव। सर्वान् जिघांसुः सर्वान् प्राणिनो विषयासक्तिं विधाय अनेन दुःकर्म उत्पादयित्वा तज्जन्मनो वैफल्यं विधाय दुर्गतिप्रापकत्वेन हन्तुमिच्छुः। यद्यदित्यादि। यद्यत् कर्म परलोकनाशकं स्वपरवधादिलक्षणं साधुविगर्हितं मुनिभिर्निन्दितम् तस्यैव कर्मणः। कामुको विषयाभिलाषीति धिक् निन्द्यमेतत्। अत्रैव अर्थान्तरन्यासमाह— कामेत्यादि। कामक्रोधावेव महाग्रहौ तौ आहितौ स्थापितौ मनसि येन, ताभ्यां वाहितम् अध्यासितं मनो यस्य, स किं किं न कुर्यात्। इह परत्र वा विरुद्धं सर्वमपि कुर्यादित्यर्थः ॥ ५१ ॥ भोगे बुभुक्षा च

करके भी व्यर्थमें दूसरोंको मारनेकी इच्छा करता है। जिस जिस निकृष्ट कार्यकी साधु जनोंने निन्दा की है, धिक्कार है कि वह दुर्बुद्धि उसी उसी कार्यको चाहता है। ठीक है— जिनका मन काम और क्रोध आदि-रूप महाग्रहोंसे पीड़ित है वे प्राणी कौन कौन-सा निन्द्य कार्य नहीं करते हैं? अर्थात् सब ही निन्द्य कार्यको वे करते हैं ॥ विशेषार्थ— ये इन्द्रियविषय सर्पके समान भयंकर हैं— जिस प्रकार सर्पके काटनेसे प्राणीको संताप एवं मरण आदिका दुख प्राप्त होता है उसी प्रकार उन विषयभोगोंके कारण विषयी जनोंको भी संताप एवं मरण आदिका दुख सहना पड़ता है। फिर भी जो अज्ञानी उन विषयोंके भोगनेकी इच्छा करते हैं उन्हें न तो अपने मरणका भय रहता है और न दूसरे प्राणियोंका घात करनेमें दया भी उत्पन्न होती है। वे उन विषयोंको प्राप्त करनेके लिये स्वयं मर करके भी दूसरोंके मारनेमें उद्यत होते हैं। अथवा वे उन विषयोंमें पड़कर स्वयं तो मरते ही हैं— अपना सर्वनाश करते ही हैं, साथ ही दूसरोंको भी उन विषयोंमें प्रवृत्त करके उनका भी घात करते हैं— सर्व-

श्वो यस्याजनि यः स एव दिवसो ह्यस्तस्य संपद्यते
स्थैर्यं नाम न कस्यचिज्जगदिदं कालानिलोन्मूलितम्।
भ्रातर्भ्रान्तिमपास्य पश्यसि तरां प्रत्यक्षमक्ष्णोर्न किं
येनात्रैव मुहुर्मुहुर्बहुतरं बद्धस्पृहो भ्राम्यसि ॥ ५२ ॥
संसारे नरकादिषु स्मृतिपथेऽप्युद्वेगकारिण्यलं
दुःखानि प्रतिसेवितानि भवता तान्येवमेवासताम्।

जगतः स्थितिमपश्यतो जनस्य स्यादित्याह— श्व इत्यादि। यस्य वस्तुनः श्वो भावी दिवसोऽजनि अभूत् स एव दिवसो ह्यः अतीतः तस्य वस्तुनः संपद्यते। यतः एवम् अतः। स्थैर्यमित्यादि। कालानिलोन्मूलितं काल एव अनिलो वायुः तेन उन्मूलितं स्थितेः प्रच्यावितं किं न पश्यसि। भ्रान्तिम् अपास्य निराकृत्य सर्वथा नित्यत्वाभिनिवेशं परित्यज्य। प्रत्यक्षम् अक्ष्णोर्यथाभवत्येवम्। येन अदर्शनेन कारणेन वा। अत्रैव जगति बद्धस्पृहः कृताभिलाषः ॥ ५२ ॥ एवंविधं जगत्स्वरूपम् अपरिभावयता चतुर्गतिसंसारे दुःखान्यनेकधानुभूतानीत्याह— संसार इत्यादि। संसारे नरकादिषु गतिषु। यानि दुःखानि प्रतिसेवितानि अनुभूतानि तान्येवमेवासताम् एवम् एव तिष्ठन्तु। कथंभूते संसारे। स्मृतिपथेऽ-

नाश करते हैं। कामी जनकी बुद्धि ऐसी भ्रष्ट हो जाती है कि जिससे वे उस असदाचरणमें प्रवृत्त होते हैं जिसकी कि साधु जन सदा निन्दा किया करते हैं। ये काम और क्रोध आदि दुष्ट पिशाचके समान हैं। उनसे पीडित होकर प्राणी हेयादेयका विचार न करके जिस किसी भी कार्यको करता है ॥ ५१ ॥ जो दिन जिस वस्तुके लिये कल (आगामी दिन) था वह उसके लिये कल (बीता हुआ दिन) हो जाता है। यहां कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है, यह सब संसार कालरूप वायुसे परिवर्तित किया जानेवाला है। हे भ्रात ! क्या तुम भ्रमको छोडकर आखोंसे प्रत्यक्ष नहीं देखते हो, जिससे कि इन नश्वर बाह्य वस्तुओंके विषयमें ही वार वार इच्छा करके बहुत कालसे परिभ्रमण करते हो ? ॥ ५२ ॥ जो संसार स्मरण मात्रसे भी अतिशय संतापको उत्पन्न करनेवाला है उसके भीतर नरकादि दुर्गतियोंमें पड़कर तूने जिन दुःखोंको सहन किया है वे तो यों ही रहें, अर्थात् उन परोक्ष दुःखोंकी चर्चा करना तो व्यर्थ है। किन्तु

तत्तावत्स्मर सस्मरस्मितशितापाङ्गैरनङ्गायुधै-
र्वामानां हिमदग्धमुग्धतरुवद्यत्प्राप्तवान्निर्धनः ॥ ५३ ॥
उत्पन्नोऽस्यसि दोषधातुमलवद्देहोऽसि कोपादिवान्
साधिव्याधिरसि प्रहीणचरितोऽस्यस्यात्मनो वञ्चकः ।

प्युद्वेगकारिणि, न केवलम् अनुभूयमाने किं तु स्मृतिपथे स्मृतिविषयमात्रे अपि उद्वेगकारिणि अरतिसंतापत्रासजनके । दुःखानि वा कथंभूतानि । उद्वेगकारीणि । अलम् अत्यर्थेन । तद् दुःखं स्मर यत् प्राप्तवान् निर्धनः सन् । कैः कृत्वेत्याह सस्मरेत्यादि । सस्मरस्मितं सकामहसितं सह तेन वर्तन्ते ये ते च ते शितापाङ्गाश्च कटाक्षाः तैः । कथंभूतैः । अनङ्गायुधैः कामबाणैः । वामानां स्त्रीणाम् । किंवत् । हिमदग्धमुग्धतरुवत् हिमेन दग्धश्चासौ मुग्धतरुश्च कोमलतरुस्तद्वत् ॥ ५३ ॥ संसारे परिभ्रमन्नेवंविधं धर्मम् आत्मनः पश्यन् किमिति वैराग्यं भवान्न व्रजतितीत्याह— उत्पन्नोऽसीत्यादि । दोषा वातपित्तश्लेष्माणः ।

हे भव्य ! धनसे रहित तूने कामके शस्त्रों (बाणों) के समान स्त्रियोंके कामोत्पादक मन्द हास्ययुक्त तीक्ष्ण कटाक्षोंसे विद्ध होकर बर्फसे जले हुए कोमल वृक्षके समान जो दुःख प्राप्त किया है उसका तो भला स्मरण कर ।। विशेषार्थ– अभिप्राय इसका यह है कि जो प्राणी सदा विषयभोगोंमें ही लिप्त रहते हैं उन्हें दोनों ही लोकोंमें दुख भोगना पड़ता है । इस लोकमें तो उन्हें इसलिये दुख भोगना पड़ता है कि जिन सुन्दर स्त्रियोंके मन्द हास्य एवं कटाक्षपात आदिके द्वारा वे कामसे पीड़ित होनेपर उन्हें प्राप्त करके अपनी वासनाको पूर्ण करना चाहते हैं वे उपयुक्त धन आदिके न रहनेसे उन्हें प्राप्त होती नहीं हैं । फिर भी वे यों ही संतप्त होकर उसके लिये कष्टकारक निष्फल प्रयत्न करते रहते हैं । इसके अतिरिक्त उस विषयतृष्णासे जो पापका बन्ध होता है उसका उदय होनेपर नरकादि दुर्गतियोंमें जाकर परलोकमें भी वे दुःसह दुःखोंको सहते हैं ।। ५३ ।। हे बार बार जन्मको धारण करनेवाले प्राणी ! तू उत्पन्न हुआ है ; वात-पित्तादि दोषों, रस-रुधिरादि सात धातुओं एवं मल-मूत्रादिसे सहित शरीरका धारक है ; क्रोधादि कषायोंसे सहित है;

मृत्युव्यात्तमुखान्तरोऽसि जरसा ग्रास्योऽसि जन्मिन् वृथा
किं मत्तोऽस्यसि किं हितारिरहिते किं वासि बद्धस्पृहः ॥ ५४ ॥

धातवः रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि । मलाः मूत्रपुरीषादयः । आधिर्मनःपीडा । सह आधिव्याधिभ्यां वर्तते इति साधिव्याधिः । असि भवसि । मृत्युव्यात्तमुखान्तरः मृत्युना व्यात्तं प्रसारितं तच्च तन्मुखं च तस्य आन्तरं मध्यं तदस्ति इति 'अन्तस आदेरः' इति । जरसा ग्रास्यो वृद्धत्वेन कवलीकर्तव्यः । बद्धस्पृहः कृतानुबन्धः ॥ ५४ ॥ अहिते कृतानुबन्धोऽपि

आधि (मानसिक पीड़ा) और व्याधि (शारीरिक पीड़ा) से पीड़ित है, दुश्चरित्र है, अपने आपको धोखा देनेवाला है, मृत्युके द्वारा फैलाये गये मुखके मध्यमें स्थित अर्थात् मरणोन्मुख है, तथा जरा (बुढ़ापा) का ग्रास बननेवाला है । फिर हे अज्ञानी प्राणी ! यह समझमें नहीं आता कि तू उन्मत्त होकर अपने ही हितका शत्रु (घातक) होता हुआ उन अहितकारक विषयोंकी अभिलाषा क्यों करता है ? ॥ विशेषार्थ – जिस प्रकार पागल या शराबी मनुष्य हिताहितके विवेकसे रहित होकर स्वच्छंद प्रवृत्ति करता है तथा उसको अपने मरणका भी भय नहीं रहता है उसी प्रकार यह विषयोन्मत्त प्राणी भी अपने भले बुरेका ध्यान न रखकर जो हिंसादि कार्य आत्माका अहित करनेवाले हैं उनमें तो प्रवृत्त होता है तथा जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, स्वदारसन्तोष (या पूर्णतया ब्रह्मचर्य) एवं अपरिग्रह आदि कार्य आत्माका हित करनेवाले हैं उनसे विमुख रहता है । ऐसा करते हुए उसे यह भी ध्यान नहीं रहता कि अब मैं बूढ़ा हो गया हूं, मुझे किसी भी समय मृत्यु अपना ग्रास बना सकती है, उसके पहिले क्यों न मैं कुछ आत्महित कर लूं । यही कारण है जो वह उस विषयतृष्णाके साथ मरणको प्राप्त होकर पुनः उस शरीरको धारण करता है जो स्वभावतः अपवित्र, रोगादिसे ग्रसित एवं राग-द्वेषादिका कारण है । इस प्रकारसे वह दूसरोंके साथ स्वयं अपने आपको भी धोखा देकर इस दुखमय संसारमें बार बार परिभ्रमण करता रहता है ॥ ५४ ॥

उग्रग्रीष्मकठोरघर्मकिरणस्फूर्जद्गभस्तिप्रभैः
संतप्तः सकलेन्द्रियैरयमहो संवृद्धतृष्णो[1] जनः ।
अप्राप्याभिमतं विवेकविमुखः पापप्रयासाकुल-
स्तोयोपान्तदुरन्तकर्दमगतक्षीणोक्षवत् क्लिश्यते ॥ ५५ ॥

भवान् अभिलषितविषयाप्राप्तौ केवलं क्लेशमेव अनुभवतीत्याह— उग्रेत्यादिना । उग्रग्रीष्मो ज्येष्ठाषाढीयोष्णकालः । तत्र कठोरस्तीव्रः स चासौ घर्मकिरणश्चादित्यः तस्य स्फूर्जन्तो दीप्ताः ते च ते गभस्तयश्च किरणाः तेषां प्रभा सादृश्यं संतापकारित्वलक्षणं येषां तैः । पापप्रयासाकुलः अशुभव्यापारव्यग्रः । तोयोपान्तेत्यादि । तोयोपान्ते जलसमीपे दुरन्तोऽगाधः स चासौ कर्दमश्च तत्र गतः पतितः स चासौ क्षीणो दुर्बलः उक्षा च बलीवर्दः स एव [इव]

तीक्ष्ण ग्रीष्म कालके कठोर सूर्यकी दैदीप्यमान किरणोंकी प्रभाके समान संतापको उत्पन्न करनेवाली समस्त इद्रियोंसे संतप्त होकर यह प्राणी वृद्धिंगत विषयतृष्णासे युक्त होता हुआ विवेकको नष्ट कर देता है और फिर इसीलिये अभीष्ट विषयोंको प्राप्त करनेके लिए वह पापाचारमें प्रवृत्त होकर व्याकुल होता है । परन्तु जब उसे वे अभीष्ट विषय नहीं प्राप्त होते हैं तब वह इस प्रकारसे क्लेशको प्राप्त होता है जिस प्रकार कि प्याससे पीड़ित होकर पानीके निकट अगाध कीचड़में फंसा हुआ निर्बल बैल क्लेशको प्राप्त होता है ।। विशेषार्थ— जिस प्रकार कोई दुर्बल बैल ग्रीष्म कालीन सूर्यके संतापसे पीड़ित होकर तृष्णा (प्यास) से युक्त होता हुआ किसी जलाशयके पास जाता है और वहां पानीके समीपमें स्थित भारी कीचड़में फंसकर दुःसह दुखको सहता है उसी प्रकार यह अज्ञानी प्राणी भी ग्रीष्मकालीन सूर्यके समान संताप-जनक इन्द्रियोंसे पीड़ित होकर तृष्णा (विषयवांछा) से युक्त होता हुआ उन विषयोंको प्राप्त करनेके लिये कठोर परिश्रम करता है और इसके लिये वह धर्म-अधर्मका भी विचार नहीं करता । परन्तु वैसा पुण्य शेष न रहनेसे जब वे विषयभोग उसे नहीं प्राप्त होते हैं तब उसकी गति भी उक्त बैलके ही समान होती है— वह इच्छित भोगोंको न पाकर उस बढ़ी हुई तृष्णासे निरन्तर संक्लिष्ट रहता है ।। ५५ ।। अग्नि

१ मु (जै., नि.) प्रतिपाठोऽयम्, अ स संवद्धतृष्णो ।

लब्धेन्धनो ज्वलत्यग्निः प्रशाम्यति निरिन्धनः।
ज्वलत्युभयथाप्युच्चैरहो मोहाग्निरुत्कटः॥ ५६॥
किं मर्माण्यभिनन्न भीकरतरो दुःकर्मगर्मुद्गणः
किं दुःखज्वलनावलीविलसितैर्नालेढि देहश्चिरम्।

तद्वत्॥ ५५॥ तर्हि अभिमतविषयप्राप्तौ तृष्णाग्नेरुपशमात् क्लेशोपशमो भविष्यतीति वदन्तं प्रत्याह— लब्धेन्धन इत्यादि। निर[रि]न्धनः इन्धनरहितः। उभयथापि वाञ्छितार्थे-धनं[न्धनं] प्राप्याप्राप्तेर्द्विप्रकारोत्कटः (?) इतराग्नेरतिशयवान्॥ ५६॥ विषयसुखसाधकार्थेषु प्रवृत्तिश्च प्राणिनां मोहजनिताधिकम[मा]हात्म्यात्तच्च व्याजेन निराकुर्वन्नाह— किं मर्माणीत्यादि। किं न अभिनत् विदारितवान्। भीकरतरः अतिशयेन भयंकरः। दुःकर्म-

इन्धनको पाकर जलती है और उससे रहित होकर बुझ जाती है। परन्तु आश्चर्य है कि तीव्र मोहरूपी अग्नि दोनों भी प्रकारसे ऊंची (अतिशय) जलती है॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार अग्नि प्राणीको संतप्त करती है उसी प्रकार मोह भी राग-द्वेष उत्पन्न करके प्राणीको संतप्त करता है। इसीलिये मोहको अग्निकी उपमा दी जाती है। परन्तु विचार करनेपर वह मोहरूप अग्नि उस स्वाभाविक आग्निकी अपेक्षा भी अतिशय भयानक सिद्ध होती है। कारण यह है कि अग्नि तो जब तक इन्धन मिलता है तभी तक प्रदीप्त होकर प्राणीको संतप्त करती है— इन्धनके न रहनेपर वह स्वयमेव शान्त हो जाती है, किन्तु वह मोहरूप अग्नि इन्धन (विषयभोग) के रहनेपर भी संतप्त करती है और उसके न रहनेपर भी संतप्त करती है। अभिप्राय यह है कि जैसे जैसे अभीष्ट विषय प्राप्त होते जाते हैं वैसे वैसे ही कामी जनोंकी वह विषयतृष्णा उत्तरोत्तर और भी बढती जाती है जिससे कि उन्हें कभी आनन्दजनक सन्तोष नहीं प्राप्त हो पाता। इसके विपरीत इच्छित विषयसामग्रीके न मिलनेपर भी वह दुखदायक तृष्णा शान्त नहीं होती। इस प्रकार यह विषय-तृष्णा उक्त दोनों ही अवस्थाओंमें प्राणीको संतप्त किया करती है॥ ५६॥

हे भव्य जीव! क्या अत्यन्त भयानक पाप कर्मरूपी मधुमक्खियोंके समूहने इस प्राणीके मर्मको नहीं विदीर्ण किया है? अवश्य किया है। क्या

किं गर्जद्यमतूरभैरवरवान्नाकर्णयन्निर्णयं
येनायं न जहाति मोहविहितां निद्राममद्रां जनः ॥ ५७ ॥

गर्मुद्रणः दुःकर्माणि एव गर्भुतां मधुमक्षिकाणां गणः। दुःखेत्यादि। दुःखाग्न्येन ज्वलनावली अग्निपङ्क्तिः तस्या विलसितैः दाघसंतापकारित्वादिचेष्टितैः। न आलेढि न ग्रस्तः। यमतूरभैरवरवं मृतकतूरभयानकशब्दम्। गर्जन्[त्] वाद्यमानं नाकर्णयन्[त्]। निर्णयं निश्चयं यथा भवति। न जहाति न त्यजति। निद्राम् अज्ञानताम्। अभद्रां निन्द्याम् ॥ ५७ ॥

दुखरूप अग्निकी ज्वालाओंसे इसका शरीर चिर कालसे नहीं व्याप्त किया गया है? अवश्य किया गया है। क्या इसने गरजते हुए यम (मृत्यु) के बाजोंके भयानक शब्दोंको नहीं सुना है? अवश्य सुना है। फिर क्या कारण है जो यह प्राणी निश्चयसे दुखोत्पादक उस मोहनिर्मित निद्रा (अज्ञान) को नहीं छोड़ रहा है॥ विशेषार्थ– लोकमें देखा जाता है कि प्राणी प्रगाढ़ निद्रामें भी यदि सो रहा है तो भी वह मधुमक्खियोंके काट लेनेसे, निकटवर्ती अग्निकी ज्वालाओंसे, अथवा मृतकके आगे बजनेवाले गम्भीर बाजोंके शब्दोंसे अवश्य जाग उठता है। परन्तु खेद है कि यह अज्ञानी प्राणी उन मधुमक्खियोंके समान कष्टदायक पाप कर्मोंसे ग्रसित, अग्निके समान सन्ताप देनेवाले अनेक प्रकारके दुःखोंसे व्याप्त, तथा बाजोंके साथ ले जाते हुए मृतकको देखकर शरीरकी अनित्यताको जानता हुआ भी दुखदायक अज्ञानरूप निद्राको नहीं छोड़ता है। इससे यह निश्चित प्रतीत होताहै कि वह मोहनिद्रा उस प्राकृत निद्रासे भी प्रबल है। यही कारण है जो स्वाभाविक निद्रा तो प्राणीकी थकावटको दूर करके उसे कुछ शान्ति ही प्रदान करती है, परन्तु वह मोहनिद्रा उसे विषय-तृष्णावश उत्तरोत्तर किये जानेवाले परिश्रमसे पीड़ित ही करती है॥ ५७॥ हे जन्म लेनेवाले प्राणी! इस जन्म-मरणरूप संसारमें तेरा शरीरके साथ तादात्म्य है अर्थात् तू उत्तरोत्तर धारण किये जानेवाले शरीरोंके भीतर स्थित होकर सदा उनके अधीन रहता है, तू निरन्तर पाप कर्मके फल-

तादात्म्यं तनुभिः सदानुभवनं पाकस्य दुःकर्मणो
व्यापारः समयं प्रति प्रकृतिभिर्गाढं स्वयं बन्धनम्।
निद्रा विश्रमणं मृतेः प्रतिभयं शश्वन्मृतिश्च ध्रुवं
जन्मिन् जन्मनि ते तथापि रमसे तत्रैव चित्रं महत् ॥ ५८॥

मोहजनितनिद्रावशाच्चैवंविधस्वरूपसंपादके संसारे जनस्य रतिरित्याह— तादात्म्यमित्यादि। हे जन्मिन्। जन्मनि संसारे। तव तादात्म्यम् अभेदः। तनुभिः शरीरैः सह। पाकस्य दुःकर्मणः फलस्य व्यापारः दुःकर्मणो निमित्तो मनोवाक्कायपरिस्पन्दः। समयं प्रति प्रतिसमयम्। तथा समयं प्रति प्रकृतिभिः ज्ञानावरणादिभिः। गाढं निव[बि]डम् अत्यर्थं च। स्वयम् आत्मना बन्धनं संबन्धः। निद्रा विश्रमणं व्यापारप्रभवदोषस्य निद्रा विश्रामहेतुः। मृतेः प्रतिभयं मृतेः मरणात् प्रतिभयम् आशङ्का। शश्वत् सर्वदा। मृतिश्च ध्रुवं मृतिः पुनः अवश्यंभावेन। तत्रैव जन्मनि ॥ ५८॥ येन च शरीरेण सह तादात्म्यं तव संपन्नं तत्कीदृशमित्याह—

स्वरूप दुखका अनुभव करता है, प्रत्येक समयमें जो तेरा ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियोंसे स्वयं बन्धन (सम्बन्ध) होता है वही तेरा व्यापार है, निद्रा जो है वही तेरा विश्राम है; तथा मरणसे तुझे सदा भय रहता है, परन्तु वह निश्चयसे आना अवश्य है। फिर आश्चर्य यही है कि ऐसी दुखमय अवस्थाके होनेपर भी तू उसी संसारके भीतर रमण करता है ॥ विशेषार्थ– यह संसारी प्राणी बाह्य पर पदार्थोंमें राग-द्वेष करता हुआ मरणको प्राप्त होकर निरन्तर नवीन नवीन शरीरको धारण करता रहता है। इस प्रकारसे वह निरन्तर जन्म-मरणके दुखको सहता है। इसके अतिरिक्त पूर्वोपार्जित कर्मके अनुसार और भी अनेक कष्टोंका वह अनुभव किया करता है। उसका कार्य निरन्तर अपने राग-द्वेषादि परिणामोंके अनुसार कर्मप्रकृतियोंके बांधनेका रहता है। जब उसे कुछ निद्रा आती है तभी विश्राम मिलता है। वह मृत्युसे यद्यपि सदा भयभीत रहता है, परन्तु उससे उसे छुटकारा नहीं मिलता। इस विषयमें स्वामी समन्तभद्राचार्यने यह बिलकुल ठीक कहा है– बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो नित्यं शिवं वाञ्छति नास्य लाभः। तथापि बालो भय-कामवश्यो वृथा स्वयं

अस्थिस्थूलतुलाकलापघटितं नद्धं शिरास्नायुभि-
श्चर्माच्छादितमस्रसान्द्रपिशितैर्लिप्तं सुगुप्तं खलैः।
कर्मारातिभिरायुरुद्घनिगलालग्नं शरीरालयं
कारागारमवैहि ते हतमते प्रीतिं वृथा मा कृथाः ॥ ५९ ॥

अस्थीत्यादि। अस्थीनि एव स्थूलतुलाः तासां कलापः संघातः तेन घटितम्। नद्धं बद्धम्। सिरास्नायुभिः सिराः प्रसिद्धाः, स्नायुः नहारुः। चर्माच्छादितं चर्मणा आच्छादितं झंपितम्। अस्रसान्द्रपिशितैः अस्रेण रक्तेन सान्द्राणि तानि च तानि पिशितानि च मांसानि तैः लिप्तम्। सुगुप्तं सुष्ठु रक्षितम्। आयुरुद्घनिगलालग्नं आयुरेव उद्घो महान् निगलः आलग्नो यत्र। इत्थंभूतं शरीरालयं शरीरगृहम्। कारागारं ते बन्दिगृहं तव ॥ ५९ ॥ शरीराद्-

तप्यत इत्यवादीः ॥ अर्थात् हे सुपार्श्व जिन ! यह प्राणी मृत्युसे निरन्तर डरता है, पर उससे उसे छुटकारा नहीं मिलता। वह सदा कल्याणकी इच्छा करता है, परन्तु उसका उसे लाभ नहीं होता। फिर भी वह अज्ञानी प्राणी मृत्युके भय और काम (सुखकी इच्छा) के वशीभूत होकर स्वयं ही व्यर्थमें संतप्त हो रहा है ॥ बृ.स्व. ३४. इस प्रकारसे वह प्राणी शरीरको धारण करके उसके सम्बन्धसे संसारमें उपर्युक्त दुःखोंको सहता है, तो भी वह उसी संसारमें रमण करता है, यह महान् आश्चर्यकी बात है ५८ ॥ हे नष्टबुद्धि प्राणी ! हड्डियोंरूप स्थूल लकड़ियोंके समूहसे रचित, सिराओं और नसोंसे सम्बद्ध, चमड़ासे ढका हुआ, रुधिर एवं सघन मांससे लिप्त, दुष्ट कर्मोंरूप शत्रुओंसे रक्षित, तथा आयुरूप भारी सांकलसे संलग्न; ऐसे इस शरीररूप गृहको तू अपना कारागार (बन्दीगृह) समझकर उसके विषयमें व्यर्थ अनुराग मत कर ॥ विशेषार्थ– यहां शरीरमें गृहका आरोप करते हुए उसे बन्दीगृहके समान बतला कर उसमें अनुराग न रखनेकी प्रेरणा की गई है। बन्दीगृहसे समानता बतलानेका कारण यह है कि जिस प्रकार बन्दीगृह लकड़ीके खम्भों आदिसे निर्मित होता है उसी प्रकार यह शरीर भी हड्डियोंसे निर्मित है, बन्दीगृह यदि रस्सियोंसे बंधा होता है तो यह शरीर भी नसोंसे सम्बद्ध है, बन्दीगृह जहां छत अथवा कबेलू आदिसे आच्छादित होता है वहां यह शरीर चमड़ेसे आच्छादित है, बन्दीगृह जिस प्रकार गोबर एवं मिट्टी आदिसे

शरणमशरणं वो बन्धवो बन्धमूलं
चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम् ।
विपरिमृशत पुत्राः शत्रवः सर्वमेतत्
त्यजत भजत धर्मं निर्मलं शर्मकामाः ॥ ६० ॥

व्यतिरिक्तमन्यदपि वस्तु कीदृशं तवेत्याह— शरणमित्यादि । शरणं गृहं राजादिर्वा । अशरणम् अरक्षणम् । प्रतिकूलकर्मणोदय(?)प्रासेरा[र]वश्यं स्वकार्यकरणात्[1] । द्वारं प्रवेशस्थानम् । विपरिमृशत पर्यालोचयत । सर्वमेतद् गृहबन्धुपुत्रकलत्रादिकं त्यजत, धर्मं भजत अनुतिष्ठत । निर्मलं निरतिचारम् ॥ ६० ॥ यद्यपि गृहादयोऽस्माकं नोपकारकास्तथाप्यर्थो

लिप्त (लीपा गया) होता है उसी प्रकार यह शरीर रुधिर और मांससे लिप्त है, बन्दीगृहकी रक्षा यदि दुष्ट पहरेदार करते हैं तो शरीरकी रक्षा दुष्ट कर्मरूप शत्रु करते हैं, तथा बन्दीगृह जहां बड़ी बड़ी सांकलोंसे संयुक्त होता है वहां यह शरीर आयुरूप सांकलसे संयुक्त है, इसीलिये जैसे सांकलोंके लगे रहनेसे उसमेंसे बन्दी (कैदी) बाहिर नहीं निकल सकते हैं उसी प्रकार विवक्षित (मनुष्यादि) आयु कर्मका उदय रहने तक प्राणी भी उस शरीरसे नहीं निकल सकता है। इस प्रकार जब बन्दीगृह और शरीरमें कुछ भेद नहीं है तब यहां यह उपदेश दिया गया है कि जिस प्रकार कोई भी विचारशील मनुष्य दुखदायक बन्दीगृहमें नहीं रहना चाहता है उसी प्रकार हे भव्य जीव यदि तू भी उस बन्दीगृहके समान कष्टदायक इस शरीरमें नहीं रहना चाहता है तो उससे अनुराग न कर ॥ ५९ हे भव्य जीवो ! जिसे तुम शरण (गृह) मानते हो वह तुम्हारा शरण (रक्षक) नहीं है, जो बन्धुजन हैं वे राग-द्वेषके निमित्त होनेसे बन्धके कारण हैं, दीर्घ कालसे परिचयमें आई हुई स्त्री आपत्तियोंरूप गृहोंके द्वारके समान है, तथा जो पुत्र हैं वे अतिशय राग-द्वेषके कारण होनेसे शत्रुके समान हैं; ऐसा विचार कर यदि आप लोगोंको सुखकी अभिलाषा है तो इन सबको छोड़कर निर्मल धर्मकी आराधना करें ॥ ६० ॥ हे शरीरधारी प्राणी ! इन्धनके समान तृष्णारूप

[1] स कारणात् ।

तत्कृत्यं किमिहेन्धनैरिव धनैराशाग्निसंधुक्षणैः
संबन्धेन किमङ्ग शश्वदशुभैः संबन्धिभिर्बन्धुभिः।

ऽप्युपकारको भविष्यतीत्याशङ्क्य आह— तत्कृत्यमित्यादि। तत्प्रसिद्धं सुखाद्युपकारलक्षणं कृत्यं कार्यं किम्। न किमपि। कैः। धनैः। किंविशिष्टैः। आशाग्निसंधुक्षणैः आशैव अग्निः तस्य संधुक्षणैः उद्दीपकैः। तथा सत्यं (?) संबन्धेन पितृपुत्रभार्यादिना। अङ्ग अहो। किं कृत्यम्। कैः सह संबन्धेन। संबन्धिभिः वैवाहिकादिभिः बन्धुभिः। कथंभूतैः। शश्वदशुभैः दुर्गतिहेतुतया सदाऽप्रशस्तैः। मोहाहीत्यादि। मोह एव अहिः सर्पः तस्य

अग्निको प्रज्वलित करनेवाले धनसे यहां तुझे क्या प्रजोजन है? अर्थात् कुछ भी नहीं। पापके कारणभूत सम्बन्धियों (नातेदारों) एवं अन्य बन्धुओं (भ्राता आदि) के साथ सम्बन्ध रखनेसे तुझे क्या प्रयोजन है? कुछ भी नहीं। मोहरूप सर्पके दीर्घ बिल (बांबी) के समान शरीर अथवा गृहसे भी तुझे क्या प्रयोजन है? कुछ भी नहीं। ऐसा विचार कर हे भव्य जीव! तू सुखके निमित्त उस तृष्णाकी शान्तिको प्राप्त हो, इसमें व्यर्थ प्रमाद न कर॥ विशेषार्थ— सुख वास्तवमें वही हो सकता है जिसमें आकुलता न हो। वह सुख धनके द्वारा नहीं प्राप्त हो सकता है। कारण यह कि जितना जितना धन बढता है उतनी ही अधिक उत्तरोत्तर तृष्णा भी बढ़ती जाती है, जैसे कि घीके डालनेसे उत्तरोत्तर अग्नि अधिक बढ़ती है। इस प्रकार जहां तृष्णा है— आकुलता है— वहां भला सुख कहांसे मिल सकता है? इसके अतिरिक्त जितना कष्ट धनके उपार्जनमें होता है उससे भी अधिक कष्ट उसकी रक्षामें होता है। यदि रक्षण करते हुए भी वह दुर्भाग्यसे कदाचित् नष्ट हो गया तो फिर प्राणीके दुखका पारावार भी नहीं रहता है। इसीलिये तो उसे भी प्राण कहा जाता है। इतना ही नहीं, बहुत-से धनान्ध मनुष्य तो उस धनरूप प्राणकी रक्षा करनेमें वास्तविक प्राण भी दे देते हैं। इससे निश्चित होता है कि धन वास्तवमें सुखका कारण नहीं है। इसी प्रकारसे माता, पिता, पुत्र एवं अन्य सम्बन्धी जनोंका संयोग

किं मोहाहिमहाबिलेन सदृशा देहेन गेहेन वा
देहिन् याहि सुखाय ते सममुं मा गाः प्रमादं मुधा ॥ ६१ ॥

महाबिलेन देहेन। कथंभूतेन। सदृशा गेहेन गृहसमानेन। एतत् सर्वम् इत्थंभूतं ज्ञात्वा। हे देहिन्। शमं याहि। अमुम् अर्थाभिलाषोपशमलक्षणम्। किमर्थम्। सुखाय सुखनिमित्तम्। ते शब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। तत्कृत्यं ते किमित्यादि। मा गाः प्रमादम् अतात्पर्यं मा कार्षीः ॥ ६१ ॥ अस्यैवोपशमस्य दार्ढ्यविधानार्थमादावेवेत्याह— आदावेव

भी उस सुखका कारण नहीं हो सकता है। इसका कारण यह है कि उनका संयोग होनेपर यदि उनकी प्रवृत्ति अनुकूल हुई तब तो उनमें अनुरागबुद्धि उत्पन्न होती है, जिससे कि उनके भरण-पोषण एवं रक्षण आदिकी चिन्ता उदित होती है। और यदि उनकी प्रवृत्ति प्रतिकूल हुई तो इससे उद्वेग उत्पन्न होता है। ये दोनों (राग-द्वेष) ही कर्मबन्धके कारण हैं। उक्त बन्धुवर्गमें भी मुख्यता स्त्रीकी होती है। कारण कि उसके ही निमित्तसे कुटुम्बकी वृद्धि और तदर्थ धनार्जनकी चिन्ता होती है। इसीलिये तो यह कहनेकी आवश्यकता हुई कि "स्त्रीतः चित्त निवृत्तं चेन्ननु वित्तं किमीहसे। मृतमण्डनकल्पो हि स्त्रीनिरीहे धनग्रहः ॥" अर्थात् हे मन! यदि तू स्त्रीकी ओरसे हट गया है– तुझे स्त्रीकी चिन्ता नहीं रही है– तो फिर तू धनकी इच्छा क्यों करता है? अर्थात् फिर धनकी इच्छा नहीं रहना चाहिये, क्योंकि, स्त्रीकी इच्छा न रहनेपर फिर धनका उपार्जन करना इस प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकारसे कि मृत शरीरका आभूषणों आदिसे शृंगार करना। सा. ध. ६-३६. इसी प्रकार जिस शरीरको अपना समझकर अभीष्ट आहार आदिके द्वारा पुष्ट किया जाता है वह भी सुखका कारण न होकर दुखका ही कारण होता है। कारण यह कि वह अनेक रोगोंका स्थान है और उसके रोगाक्रान्त होनेपर जो वेदना उत्पन्न होती है उसके निवारणके लिये प्राणी विकल होकर प्रयत्न करता है। फिर भी कभी न कभी वह छूटता ही है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त

आदावेव महाबलैरविचलं पट्टेन बद्धा स्वयं
रक्षाध्यक्षभुजासिपञ्जरवृता सामन्तसंरक्षिता ।
लक्ष्मीर्दीपशिखोपमा क्षितिमतां हा पश्यतां नश्यति
प्रायः पातितचामरानिलहतेवान्यत्र काशा नृणाम् ॥ ६२ ॥

प्रथमत एव । महाबलैः सातिशयसामर्थ्योपेतैः मन्त्रिभिः महामण्डलीकादिभिः । अविचलं यथा भवत्येवम् । स्वयं पट्टेन बद्धा । पश्चात् । रक्षेत्यादि । रक्षाध्यक्षा अङ्गरक्षाः तेषां भुजेषु असिपञ्जरः खड्गसंघातः तेन वृता । ततो बहिः सामन्तसंरक्षिता । इत्थंभूतापि लक्ष्मीः । क्षितिमतां राज्ञाम् । हा कष्टम् । पश्यतां नश्यति । किंविशिष्टा । दीपशिखोपमा प्रदीपशिखातुल्या चञ्चलेत्यर्थः । कथंभूतेवेत्याह प्राय इत्यादि । प्रायोऽनवरतं संपातितानि चामराणि च तेषाम् अनिलेन हतेव । अन्यत्र प्राणिमात्रलक्ष्मीः [लक्ष्म्यां] पुत्रकलत्रादौ वा । काशा कः समाश्वासः ॥ ६२ ॥ यत्र शरीरे लक्ष्म्या पट्टबन्धस्तव कृतः तत्कीदृशं किं च

स्त्री एवं पुत्र आदि कौटुम्बिक सम्बन्ध भी इस शरीरके ही आश्रित हैं — उनका सम्बन्ध कुछ अमूर्तिक आत्माके साथ नहीं है । इस प्रकार उपर्युक्त सब ही दुःखोंका मूल कारण वह शरीर ही ठहरता है । अब जब निरन्तर साथमें रहनेवाला वह शरीर भी सुखका कारण नहीं है तब भला गृह आदि अन्य पदार्थ तो सुखके कारण हो ही कैसे सकते हैं ? इस प्रकार विचार करनेपर सुखका कारण उस तृष्णाका अभाव (सन्तोष) ही सिद्ध होता है । वह यदि प्राप्त है तो धनके अधिक न होनेपर भी प्राणी निराकुल रहकर सुखका अनुभव करता है, किन्तु उसके विना अटूट सम्पत्तिके होनेपर भी प्राणी निरन्तर विकल रहता है । ॥ ६१ ॥ जो राजाओंकी लक्ष्मी सर्वप्रथम महाबलवान् मंत्री और सेनापति आदिके द्वारा स्वयं पट्टबन्धके रूपमें निश्चलतासे बांधी जाती है, जो रक्षाधिकारी (पहरेदार) पुरुषोंके हाथोंमें स्थित खड्गसमूहसे वेष्टित की जाती है, तथा जो सैनिक पुरुषोंके द्वारा रक्षित रहती है, वह दीपककी लौके समान अस्थिर राजलक्ष्मी भी ढुराये जानेवाले चामरोंके पवनसे ताड़ित हुईके समान जब देखते ही देखते नष्ट हो जाती है तब भला अन्य साधारण मनुष्योंकी

दीप्तोभयाग्रवातारिदारूदरगकीटवत् ।
जन्ममृत्युसमाश्लिष्टे शरीरे बत सीदसि ॥ ६३ ॥
नेत्रादीश्वरचोदितः सकलुषो रूपादिविश्वाय किं
प्रेष्यः सीदसि कुत्सितव्यतिकरैरंहांस्यलं बृंहयन् ।

तत्र त्वं रतिं करोषीत्याह— दीप्तेत्यादि । दीप्ते प्रज्वलिते उभयाग्रे यस्य तच्च तत् वातारिदारु च एरण्डकाष्ठं तस्य उदरगो मध्यगतः स चासौ कीटश्च स इव तद्वत् । समाश्लिष्टे व्याप्ते । बत कष्टम् । सीदसि दुःखमनुभवसि ॥ ६३ ॥ एवंविधशरीराश्रितानामिन्द्रियाणां वशो भूत्वा किमित्यनेकधा क्लेशमनुभवसि इति शिक्षा प्रयच्छन्नाह— नेत्रादीत्यादि । नेत्रादीन्येव ईश्वरः प्रभुः तेषां वा ईश्वरं मनः तेन चोदितः स्वविषये प्रेरितः । सकलुषः आर्तरौद्रयुक्तः ।

लक्ष्मीकी स्थिरताके विषयमें क्या आशा की जा सकती है ? अर्थात् नहीं की जा सकती है ॥ विशेषार्थ— अभिप्राय यह है कि जिस राजलक्ष्मीकी रक्षा करनेमें अतिशय बलवान् सुभट एवं अन्य बुद्धिमान् मंत्री आदि भी सदा उद्यत रहते हैं वह भी जब पवनसे प्रेरित दीपककी शिखाके समान क्षणभरमें नष्ट हो जाती है तब साधारण मनुष्योंकी अल्प सम्पत्ति, जिसका कि कोई रक्षण करनेवाला नहीं है, कैसे स्थिर रह सकती है ? अर्थात् नहीं रह सकती है । अतएव अविनश्वर सुखकी प्राप्तिके लिये विनश्वर धन-सम्पत्तिकी अभिलाषाको छोड़कर सन्तोषका ही आश्रय लेना हितकर है ॥ ६२ ॥ हे भव्य ! जिसके दोनों अग्रभाग अग्निसे जल रहे हैं ऐसी एरण्ड (अण्डा) की लकड़ीके भीतर स्थित कीड़ेके समान जन्म और मृत्युसे व्याप्त शरीरमें स्थित होकर तू दुख पा रहा है, यह खेदकी बात है ॥ विशेषार्थ— जिस प्रकार दोनों ओरसे जलती हुई पोली लकड़ीके भीतर स्थित कीड़ेका मरण अवश्य होनेवाला है उसी प्रकार जन्म और मरणसे संयुक्त इस शरीरमें स्थित रहनेपर प्राणीका भी अहित अवश्य होनेवाला है । इसीलिये कल्याणके अभिलाषी भव्य जीव शरीरसे निर्ममत्व होकर रत्नत्रयकी प्राप्तिपूर्वक उसे छोड़नेका ही प्रयत्न करते हैं ॥ ६३ ॥ हे भव्य प्राणी ! तू नेत्रादि इन्द्रियोंरूप स्वामीसे अथवा नेत्रादि इन्द्रियोंके स्वामीस्वरूप मनसे प्रेरित दासके समान होकर संक्लेशयुक्त होता हुआ रूपादिरूप समस्त विषयोंको प्राप्त करनेके लिये हीनाचरणोंके द्वारा क्यों अतिशय पापोंको

नीत्वा तानि भुजिष्यतामकलुषो विश्वं विसृज्यात्मवा-
नात्मानं धिनु सत्सुखी धुतरजाः सद्वृत्तिभिर्निर्वृतः ॥ ६४ ॥
अर्थिनो धनमप्राप्य धनिनोऽप्यवितृप्तितः ।
कष्टं सर्वेऽपि सीदन्ति परमेकः सुखी सुखी[1] ॥ ६५ ॥

प्रेष्यः नेत्रादीनामाधीनः कर्मकरः । किं सीदसि । किमर्थम् । रूपादिप्रपञ्चनिमित्तम् । रूपादि-विश्वायेति पाठे रूपाद्यनुभवायेत्यर्थः । किं कुर्वन् सीदसि । अलं बृंहयन् अत्यर्थं वृद्धिं नयन् । कानि । अंहांसि पापानि । कैः । कुत्सितव्यतिकरैः निकृष्टव्यापारैः । तानि नेत्रादीनि भुजिष्यतां प्रेष्यतां दासत्वं नीत्वा । अकलुषो रागादिरहितः । विश्वं परिग्रहप्रपञ्चम् । विसृज्य परित्यज्य । आत्मवान् जितेन्द्रियः । आत्मानं धिनु प्रीणय । सत्सुखी सुखीयसि सन् (?) । धुतरजाः निराकृतकर्ममलः । निर्वृतः सुखीभूतः अथवा निर्वृतो मुक्तः । सत्सुखी सन् [त्] शोभनं सुखमस्यास्तीति ॥ ६४ ॥ ननु यतीनां निर्धनत्वात् कथं सुखप्राप्तिरिति वदन्तं प्रति सधननिर्धनाभ्यां यतेः सुखातिशयं दर्शयन्नाह— अर्थिन इत्यादि । किं च धनाद्यार्थी[दी]नां सुखं परायत्तं तस्माच्च परायत्तात् सुखात् यत्स्वायत्तं कायक्लेशादिदुःखं

बढाता है और खेदखिन्न होता है ? तू उन इन्द्रियोंको ही अपना दास बनाकर संक्लेशसे रहित होता हुआ उन रूपादि समस्त विषयोंको छोड़ दे और जितेन्द्रिय होकर अपनी आत्माको प्रसन्न कर । इससे तू सदाचरणोंके द्वारा पापसे रहित होकर मुक्तिको प्राप्त करता हुआ समीचीन सुखका अनुभव कर सकता है ।। विशेषार्थ– यह प्राणी जब तक इन्द्रियोंका दास बनकर उनको सन्तुष्ट करनेके लिये अनेक प्रकारसे अयोग्य आचरण करता है तब तक उसके अशुभ कर्मोंका बन्ध होता रहता है जिससे कि उसे कभी शान्ति प्राप्त नहीं होती । परन्तु जब वह जितेन्द्रिय होकर उन इन्द्रियोंको स्वयं दास बना लेता है तब उसकी वह दुराचारमय प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है– बढ़ती हुई विषयाकांक्षा नष्ट हो जाती है । इससे वह शुभ ध्यान (धर्म व शुक्ल) में प्रवृत्त होकर रत्नत्रयको पूर्ण करता हुआ मोक्षको प्राप्त कर लेता है और वहां निरन्तर अव्याबाध सुखका अनुभव करता है ।। ६४ ।। धनाभिलाषी निर्धन मनुष्य तो धनको न पाकर दुखी होते हैं और धनवान् मनुष्य सन्तोषके न रहनेसे दुखी होते हैं । इस

१ मु (नि.) परमेको मुनिः सुखी ।

परायत्तात् सुखाद् दुःखं स्वायत्तं केवलं वरम्।
अन्यथा सुखिनामानः कथमासंस्तपस्विनः॥ ६६॥

तद्वरम् उत्तमं सुखम्। कथंभूतम्। केवलम् इन्द्रियसुखास्पृष्टम्। अन्यथा यदि तदुत्तमं सुखं न स्यात् तदा कथम् आसन् संजाताः। के ते। तपस्विनः। किंविशिष्टाः सुखिनामानः सुखीति नाम येषाम्॥६५-६६॥ तेषामेव श्लोकद्वयेन गुणप्रशंसां कुर्वन्नाह— यदेतदित्यादि।

प्रकार खेद है कि सब ही (धनी और निर्धन भी) प्राणी दुखका अनुभव करते हैं। यदि कोई सुखी है तो केवल एक सन्तोषी (तृष्णासे रहित) मुनि ही सुखी है। धनवानोंका सुख पराधीन है। उस पराधीन सुखकी अपेक्षा तो आत्माधीन दुख अर्थात् अपनी इच्छानुसार किये गये अनशन आदिके द्वारा होनेवाला दुख ही अच्छा है। कारण कि यदि ऐसा न होता तो फिर तपश्चरण करनेवाले साधुजन 'सुखी' इस नामसे युक्त कैसे हो सकते थे? अर्थात् नहीं हो सकते थे॥ विशेषार्थ— यदि विचारकर देखा जाय तो संसारमें कोई भी प्राणी सुखी नहीं है— प्रायः सब ही दुखी हैं। उनमें निर्धन जन तो इसलिये दुखी हैं कि विना धनके वे अपनी आवश्यकताओंको पूर्ण नहीं कर पाते हैं। इसलिये वे उनकी पूर्तिके योग्य धनको प्राप्त करनेके लिये निरन्तर चिन्तातुर रहते हैं, परन्तु वह उन्हें प्राप्त होता नहीं है। इसके अतिरिक्त वे जब अपने सामने धनवानोंके टाट-बाट (रहन-सहन) को देखते हैं तो इससे उन्हें ईर्ष्या होती है, इस कारण भी वे सदा संतप्त रहते हैं। इससे यदि कोई यह सोचे कि धनवान् मनुष्य सुखी रहते होंगे, सो भी बात नहीं है— वे भी दुखी ही रहते हैं। उनके दुखका कारण असन्तोष— उत्तरोत्तर बढ़नेवाली तृष्णा— है। उन्हें इच्छानुसार कितनी भी अधिक धन-सम्पत्ति क्यों न प्राप्त हो जावे फिर भी उन्हें उतनेसे सन्तोष नहीं प्राप्त होता— उससे भी अधिककी चाह उन्हें निरन्तर बनी रहती है। इससे ज्ञात होता है कि जिस प्रकार धन सुखका कारण नहीं है उसी

यदेतत्स्वच्छन्दं विहरणमकार्पण्यमशनं
सहार्यैः संवासः श्रुतमुपशमैकश्रमफलम् ।

एतत् प्रतीयमानम् । यत् स्वच्छन्दम् आत्मायत्तम् । विहरणं प्रवृत्तिः । अकार्पण्यं दीनत्व-रहितम् । अशनम् आहारः । आर्यैः संसारभीरुभिः गुणवद्भिर्वा । सह संवासः सहावस्थानम् । श्रुतं शास्त्रपरिज्ञानम् । उपशमैकश्रमफलं उपशमो रागाद्यनुदयः स एव धनलाभपूजादि एकम्

प्रकार निर्धनता दुखकी भी कारण नहीं है । सुखका कारण वास्तवमें सन्तोष और दुखका कारण असन्तोष (तृष्णा) है । यही कारण है जो साधु जन सब प्रकारके धनसे रहित होकर भी एक मात्र उसी सन्तोष-धनसे अतिशय सुखी, तथा चिन्ताकुल धनवान् भी मनुष्य अतिशय दुखी देखे जाते हैं । इसके अतिरिक्त वह जो विषयजनित सुख है वह पराधीन है– वह उसके योग्य पुण्य एवं धन आदिकी अपेक्षा रखता है । जब ऐसे पुण्य आदिका संयोग होगा तब ही वह सुख प्राणीको प्राप्त हो सकता है । इसके अतिरिक्त पराधीन होनेसे वह चिरस्थायी भी नहीं है– थोड़े ही समय तक रहनेवाला है । अतएव जहां पराधीनता नहीं है उसे ही वास्तविक सुख समझना चाहिये । उस पराधीन सुखको अपेक्षा तो स्वतन्त्रतासे आचरित अनशनादि तपोंसे उत्पन्न होनेवाला दुख भी कहीं अच्छा है, क्योंकि, उससे भविष्यमें स्वाधीन सुख प्राप्त होनेवाला है । परन्तु वह पराधीन क्षणिक सुख उत्तरोत्तर दुखका कारण होनेसे वास्तवमें दुख ही है ।। ६५–६६ ।। साधु जनोंका जो यह स्वतन्त्रतापूर्वक विहार (गमनागमन प्रवृत्ति), दीनता (याचना) से रहित भोजन, गुणी जनोंकी संगति, शास्त्रस्वाध्यायजनित परिश्रमके फलस्वरूप रागादिकी उपशान्ति, तथा बाह्य पर पदार्थोंमें मन्द प्रवृत्तिवाला मन है; वह सब कौन-से महान् तपका परिणाम है, इसे मैं बहुत कालसे अतिशय विचार करनेपर भी नहीं जानता हूं ।। विशेषार्थ— यहां गृहस्थोंकी अपेक्षा साधु जनोंको किस प्रकारका सुख प्राप्त होता है, इसका विचार करते हुए सबसे पहिले

मनो मन्दस्पन्दं बहिरपि चिरायाति विमृशन्
न जाने कस्येयं परिणतिरुदारस्य तपसः ॥ ६७ ॥

असहायं श्रमस्य प्रयासस्य फलं यत्र। मनो बहिः बाह्यार्थे। मन्दस्पन्दं मन्दप्रवृत्तिकम्। चिराय चिरकालम्। अतिविमृशन्नपि अतिपरिभावयन्नपि। न जाने। परिणतिः विपाकः। उदारस्य महतः ॥ ६७ ॥ तथा— विरतिरित्यादि। विरतिर्विषयव्यावृत्तिः। अतुला अनुपमा।

यह बतलाया है कि उनका गमनागमन व्यवहार स्वतन्त्रतासे होता है– वे अज्ञानी प्राणियोंको सम्बोधित करनेके लिये जहां भी जाना चाहते हैं निर्भयतापूर्वक जाते हैं। परन्तु गृहस्थोंका जाना-आना व्यापारादिकी परतन्त्रताके कारणसे ही होता है। इसलिये उन्हें उससे सुख नहीं प्राप्त होता। इसके अतिरिक्त उनके पास कुछ न कुछ परिग्रह भी रहता है, इसलिये वे उन निर्ग्रन्थ साधुओंके समान यत्र तत्र स्वतन्त्रतासे जा-आ भी नहीं सकते हैं – उन्हें चोर एवं हिंस्र जन्तुओं आदिका भय भी पीड़ित करता है। इसके अलावा मुनियोंका भोजन जिस प्रकार याचनासे रहित होता है उस प्रकारका भोजन गृहस्थोंका नहीं होता। कारण यह कि उन गृहस्थोंमें जो दरिद्र हैं वे तो प्रत्यक्षमें याचना करके ही उदरपूर्ति करते हैं। किन्तु जो धनवान् हैं वे भी जिह्वालम्पटताके कारण घरमें तैयार किये गये अनेक प्रकारके पदार्थोंमें इच्छानुसार स्वादिष्ट पदार्थोंकी याचना किया ही करते हैं। फिर भी उन्हें जिह्वा इन्द्रियपर विजय प्राप्त कर लेनेवाले उन मुनियोंके समान सुख नहीं प्राप्त होता जो कि केवल शरीरको स्थिर रखनेके लिये विधिपूर्वक अयाचकवृत्तिसे ही आहार ग्रहण करते हैं, न कि स्वादपरतासे। तथा जिस प्रकार मुनियोंका सहवास गुणवान् अन्य मुनिजनोंके साथ और योग्य सद्गृहस्थोंके साथ ही होता है उस प्रकार गृहस्थोंका नहीं होता– वे स्वार्थवश योग्यायोग्यका विचार न करके जिस किसीके भी साथ सहवास करते हैं। मुनि जहां अपने समयको राग-द्वेषादिको दूर करनेवाले शास्त्रस्वाध्यादि कार्योंमें विताते हैं वहां गृहस्थका सब समय प्रायः विषयोंके

विरतिरतुला शास्त्रे चिन्ता तथा करुणा परा
मतिरपि सदैकान्तध्वान्तप्रपञ्चविभेदिनी ।
अनशनतपश्चर्या चान्ते यथोक्तविधानतो
भवति महतां नाल्पस्येदं फलं तपसो विधेः ॥ ६८ ॥
उपायकोटिदूरक्षे स्वतस्तत इतोऽन्यतः ।
सर्वतः पतनप्राये काये कोऽयं तवाग्रहः ॥ ६९ ॥

एकान्तेत्यादि । एकान्तमेव ध्वान्तं तमस्तस्य प्रपञ्चो विस्तारस्तस्य विभेदिनी विध्वंसिका । अनशनस्तपश्चर्या[1] संन्यासानुष्ठानम् । यथोक्तविधानतः आगमोक्तविधिविधानेन । अनतिक्रमेण ॥ ६८ ॥ ननु तपोविधाने कायपीडा सा च अयुक्ता 'शरीरं धर्मसंयुक्तं रक्षणीयं प्रयत्नतः' इत्यभिधानादित्याशङ्क्याह— उपायेत्यादि । दूरक्षे रक्षितुमशक्ये । स्वतः स्वयमेव । ततः विवक्षितात् कार्यकरणात् । इतः परिदृश्यमानाद्धेतोः । अन्यतः यतः कुतश्चित् । एवं सर्वतः पतनप्राये उक्तप्रकारेण सर्वस्माद्धेतोः पतनं प्रायेण यस्य । आग्रहः

संग्रहमें ही वीतता है, जिससे कि वह सदा राग-द्वेषसे कलुषित और व्याकुल रहता है। मुनियोंका मन जहां कदाचित् ही बाह्य पदार्थोंकी ओर जाता है वहां गृहस्थोंका मन प्रायः निरन्तर बाह्य पदार्थोंमें ही प्रवृत्त रहता है। इस प्रकार वह साधुओंकी प्रवृत्ति अवश्य ही किसी महान् तपके फलस्वरूप है जो कि सर्वसाधारणको दुर्लभ ही है। इससे निश्चित है कि जो सुख स्वतन्त्रतामें है वह पराधीनतामें कभी नहीं प्राप्त हो सकता है ॥ ६७ ॥ इसके अतिरिक्त विषयोंका अनुपम त्याग, श्रुतका अभ्यास, उत्कृष्ट दया, निरन्तर एकान्तरूप अन्धकारके विस्तारको नष्ट करनेवाली बुद्धि, तथा अन्तमें आगमोक्त विधिसे अनशन तपका आचरण अर्थात् आहारके परित्यागपूर्वक समाधिमरण; यह सब महात्माओंकी प्रवृत्ति किसी थोड़े-से तपके अनुष्ठानका फल नहीं है, किन्तु महान् तपका ही वह फल है ॥ ६८ ॥ करोड़ों उपायोंको करके भी जिस शरीरका रक्षण न स्वयं किया जा सकता है और न अन्य किसीके द्वारा कराया जा सकता है, किन्तु जो सब प्रकारसे नष्ट ही होनेवाला है, उस शरीरकी रक्षाके विषयमें यह तेरा कौन-सा आग्रह है? अर्थात् जब किसी भी प्रकारसे उक्त शरीरकी रक्षा

१ [अनशनतपश्चर्या]

अवश्यं नश्वरैरेभिरायुःकायादिभिर्यदि।
शाश्वतं पदमायाति मुधायातमवैहि ते ॥ ७० ॥
गन्तुमुच्छ्वासनिःश्वासैरभ्यस्यत्येष संततम्।
लोकः पृथग[गि]तो वाञ्छत्यात्मानमजरामरम् ॥ ७१ ॥
गलत्यायुः प्रायः प्रकटितघटीयन्त्रसलिलं
खलः कायोऽप्यायुर्गतिमनुपतत्येष सततम्।

आबन्धः ॥ ६९ ॥ तस्मात् आह— अवश्यमित्यादि। शाश्वतं पदं मोक्षस्थानम् ॥ ७० ॥ तत्र आयुषो नश्वरत्वं दर्शयन् 'गन्तुमित्यादि' श्लोकद्वयमाह— संततं एष जीवोऽभ्यस्यति। किं कर्तुम्। गन्तुं शरीरं त्यक्तुम्। कैरभ्यस्यति। उच्छ्वासनिःश्वासैः। लोकः पृथक् पृथक् लोकः अविवेकिजनः। इतः एभ्यः उच्छ्वासनिःश्वासेभ्यः। आयुषः अपकर्षोपायेभ्यः। आत्मानम् अजरामरं मृत्योरगोचरं वाञ्छति। अथवा पूरककुम्भकरेचकरूपेभ्यः उच्छ्वासनिःश्वासेभ्यः। आत्मानम् अजरामरं वृद्धत्वमृत्युरहितं वाञ्छति। पूरको हि उच्छ्वासो रेचको निःश्वास इति ॥७१॥ गलतीत्यादि। गलति गच्छति आयुः। प्रायः अत्यर्थम्। प्रकटितम् अनुक्तं घटीयन्त्र-

---

नहीं की जा सकती है तब हठपूर्वक सब प्रकारसे उसकी रक्षाका प्रयत्न करना निरर्थक है ॥ ६९ ॥ इसलिये यदि अवश्य नष्ट होनेवाले इन आयु और शरीर आदिकोंके द्वारा तुझे अविनश्वर पद (मोक्ष) प्राप्त होता है तो तू उसे अनायास ही आया समझ ॥ ७० ॥ यह जीव निरन्तर उच्छ्वास और निःश्वासोंके द्वारा जानेका अभ्यास करता है। परन्तु अज्ञानी जन उन उच्छ्वास और निःश्वासोंके द्वारा आत्माको अजर-अमर अर्थात् जरा और मरणसे रहित मानता है ॥ विशेषार्थ— अभिप्राय यह है कि जिस क्रमसे प्राणीके उच्छ्वास और निःश्वास निकलते हैं उसी क्रमसे उसकी पूर्वबद्ध आयु (जीवित) कम होती जाती है। फिर भी बहुतसे प्राणी अज्ञानतावश यह समझते हैं कि उन उच्छ्वास-निःश्वासोंको जितना अधिक रोका जा सकेगा उतनी ही अधिक आयु बढ़ेगी तथा इस प्रकारसे प्राणी वृद्धत्वसे भी रहित होगा। यह उनका मानना अज्ञानतासे परिपूर्ण है, यही यहां सूचित किया गया है ॥ ७१ ॥ यह आयु प्रायः अरहटकी

किमस्यान्यैरन्यैर्द्वयमयमिदं जीवितमिह
स्थितो भ्रान्त्या नावि स्वमिव मनुते स्थास्नुमपधीः ॥ ७२ ॥

सलिलं येन । एष कायः खलः अपकारकः । आयुर्गतिम् अस्थास्नुताम् । अनुपतति अनुकरोति । सततम् अनवरतम् । अस्य जीवस्य । अन्यैः पुत्रकलत्रादिभिः । अन्यैः भिन्नैः । किम् । न किमपि कार्यम् । कुतो यतो जीवितं द्वयमयं आयुर्देहाभ्यां निवृत्तम्[1] । तच्च द्वयं अस्थास्नु । अतोऽयमात्मा अपधीः अपगतविवेकः सन् । इह जीविते लोके वा । स्वम् आत्मानम् । स्थास्नुं भ्रान्त्या मनुते । नावीव स्थितः ॥ ७२ ॥ जीवितत्वेन प्रसिद्धस्य चोच्छ्वासस्य दुःखरूपत्वात्

घटिकाओंमें स्थित जलके समान प्रतिसमय क्षीण हो रही है तथा यह दुष्ट शरीर भी निरन्तर उस आयुकी गति (नश्वरता) का अनुकरण कर रहा है। फिर भला इस प्राणीका अपनेसे भिन्न अन्य स्त्री एवं पुत्र-मित्रादिसे क्या प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है? अर्थात् कुछ भी नहीं। कारण यह कि यहां इन दोनों (आयु और शरीर) स्वरूप ही तो यह जीवित है। फिर भी अविवेकी प्राणी नावमें स्थित मनुष्यके समान भ्रमसे अपनेको स्थिरशील मानता है ।। विशेषार्थ— जिस प्रकार अरहटकी घटिकाओंका जल प्रतिसमय नष्ट होता रहता है उसी प्रकार प्राणीकी आयु भी निरन्तर क्षीण होती रहती है। तथा जिस क्रमसे आयु क्षीण होती है उसी क्रमसे उसका शरीर भी कृश होता जाता है। जिस आयु और शरीर स्वरूप यह जीवन है उन दोनों ही की जब यह दशा है तब पुत्र और स्त्री आदि जो प्रगटमें भिन्न हैं, वे भला कैसे स्थिर हो सकते हैं तथा उनसेप्राणीका कौन-सा प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? कुछ भी नहीं। फिर भी जिस प्रकार नावके ऊपर बैठा हुआ मनुष्य अपने आधारभूत उस नावके चलते रहनेपर भी भ्रान्तिवश अपनेको स्थिर मानता है उसी प्रकार आयुके साथ प्रतिक्षण क्षीण होनेवाले शरीरके आश्रित होकर भी यह प्राणी अज्ञानतासे अपनेको स्थिर मानता है। यदि वह यह समझनेका प्रयत्न करे कि जिस प्रकार यह शरीर क्षीण होता जा रहा है उसी प्रकार आयु भी घटती जा रही है और मृत्यु निकट आ रही है, तो फिर वह उसको स्थिर रखनेका

१ [निर्वृतम्]।

उच्छ्वासः खेदजन्यत्वाद् दुःखमेषोऽत्र जीवितम् ।
तद्विरामो[1] भवेन्मृत्युर्नृणां भण कुतः सुखम् ॥ ७३ ॥
जन्मतालद्रुमाज्जन्तुफलानि प्रच्युतान्यधः ।
अप्राप्य मृत्युभूभागमन्तरे स्युः कियच्चिरम् ॥ ७४ ॥

क्व प्राणिनां सुखं स्यादित्याह— उच्छ्वास इत्यादि । एष उच्छ्वासः । तद्विरामः उच्छ्वास-विनाशः ॥ ७३ ॥ उत्पत्तिविनाशान्तराले वर्तमानानां च प्राणिनां जीविते कियत्कालं समाश्वासः स्यात् इत्याह— जन्मेत्यादि । प्रच्युतानि पतितानि ॥ ७४ ॥ जन्तुरक्षार्थं च

प्रयत्न न करके जिस शरीरके संयोगसे यह परिभ्रमण हो रहा है उसे ही छोड़ देनेका प्रयत्न कर सकता है और तब ऐसा करनेसे उस अविनश्वर सुख भी अवश्य प्राप्त हो सकता है ।। ७२ ।। उच्छ्वास कष्टसे उत्पन्न होनेके कारण दुखरूप है और यह उच्छ्वास ही यहां जीवन तथा उसका विनाश ही मरण है । फिर बतलाइये कि मनुष्योंको सुख कहांसे हो सकता है ? नहीं हो सकता है ।। विशेषार्थ– अभिप्राय यह है कि श्वासोच्छ्वासका चालू रहना, यही तो जीवन है । सो वह श्वासोच्छ्वास चूंकि कष्टसे उत्पन्न होता है अतएव इससे समस्त जीवन ही दुखमय हो जाता है । और उस श्वासोच्छ्वासके नष्ट हो जानेपर जब मरण अनिवार्य है तब उसके पश्चात् सुख भोगनेवाला रहेगा कौन ? इस प्रकार संसारमें सर्वदा दुख ही है ।। ७३ ।। जन्मरूप ताड़के वृक्षसे नीचे गिरे हुए प्राणीरूप फल मृत्युरूप पृथिवीतलको न प्राप्त होकर अन्तरालमें कितने काल रह सकते हैं ? ।। विशेषार्थ – जिस प्रकार ऊंचे भी ताड़वृक्षसे नीचे गिरे हुए फल क्षण मात्र अन्तरालमें रहकर निश्चित ही पृथ्वीतलका आश्रय ले लेते हैं उसी प्रकार ताड़वृक्षके समान जन्मसे उत्पन्न होनेवाले प्राणी अल्प काल ही बीचमें रहकर निश्चयसे इस पृथ्वीतलके समान मृत्युको प्राप्त करते ही हैं । तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वृक्षसे गिरा हुआ फल पृथ्वीके ऊपर अवश्य गिरता है उसी प्रकार जो प्राणी जन्म लेते है वे मरते भी अवश्य हैं– स्थिर रहनेवाला कोई भी नहीं है ।। ७४ ।। विधि (ब्रह्मा या कर्म) रूप

१ स मु (जै. नि.) तद्विरामे ।

क्षितिजलधिभिः संख्यातीतैर्बहिः पवनैस्त्रिभिः
परिवृतमतः खेनाधस्तात्खलासुरनारकान् ।
उपरि दिविजान् मध्ये कृत्वा नरान् विधिमन्त्रिणा
पतिरपि नृणां त्राता नैको ह्यलङ्घ्यतमोऽन्तकः ॥ ७५ ॥

विधिनापि प्रयत्ने कृते तद्रक्षा कर्तुं न शक्येति दर्शयन्नाह— क्षितीत्यादि। परिवृतं वेष्टितं जगत्। कैः। क्षितिजलधिभिः द्वीपसमुद्रैः। कथंभूतैः। संख्यातीतैः असंख्यातैः। ततो बहिः पवनैः घनवाताम्बुवाततनुवातनामभिस्त्रिभिः परिवृतम्। अतः पवनत्रयात् परतः। खेन आकाशेन परिवृतम्। अधस्तात् अधोभागे। खलासुरनारकान् कृत्वा। उपरि ऊर्ध्वभागे। दिविजान् देवान्। मध्ये मध्यभागे। नरान् कृत्वा। इत्थं नररक्षार्थं जगत् परिवृतम्। केन। विधिमन्त्रिणा। सोऽपि न त्राता। न केवलं विधिमन्त्री, नान्योऽपि त्राता। अथवा यद्विधिमन्त्रिणा परिवृतं यत्नं (?) कृतं तन्न त्रातृ। न केवलं तन्न त्रातृ, अपि तु पतिरपि

मंत्रीने इस लोकमें नीचे दुष्ट असुरकुमार देवों और नारकियोंको तथा ऊपर वैमानिक देवोंको करके मध्यमें मनुष्योंको स्थापित किया और उनके निवासभूत उस मनुष्यलोकको असंख्यात पृथिवीस्वरूप द्वीपों और समुद्रोंसे वेष्टित किया। उनके भी बाहिर तीन (घनवातवलय, अम्बुवातवलय, और तनुवातवलय) वातवलयोंसे तथा उनके भी आगे उसे आकाशसे वेष्टित किया। इतनेपर भी न तो वह विधिरूप मंत्री ही उन मनुष्योंकी रक्षा कर पाता है और न चक्रवर्ती आदि भी। कारण यह कि लोकमें अतिशय दुर्गम एक वह यम (मृत्यु) ही है॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार किसी राजाका सुयोग्य मंत्री राजा और उसके राज्यकी रक्षाके लिये कोट एवं गहरी खाईसे वेष्टित नगरका निर्माण कराकर उसके बीचमें दुर्गम दुर्ग (किला) का निर्माण कराता है उसी प्रकार मंत्रीके समान विधिने मनुष्योंकी सुरक्षाके लिये उनके निवासस्थान (मनुष्यलोक) को कोट और खाईके समान एक दो नहीं किन्तु असंख्यात द्वीप-समुद्रोंसे, इसके पश्चात् तीन वायुमण्डलों और तत्पश्चात् भी आकाशसे वेष्टित किया; तथा उनके

१ मु (जै. नि.) कष्टमपरं

अविज्ञातस्थानो व्यपगततनुः पापमलिनः
खलो राहुर्भास्वद्दशशतकराक्रान्तभुवनम्।
स्फुरन्तं भास्वन्तं किल गिलति हा कष्टमपरः[1]
परिप्राप्ते काले विलसति विधौ को हि बलवान् ॥ ७६ ॥

चक्रवर्तीन्द्रादिर्न त्राता। कुतः। हि यस्मात्। एकः अलङ्घ्यतमः अतिशयेन अलङ्घ्यो दुर्निवारः॥ ७५ ॥ प्राप्तावधौ च प्राणिनामन्तके उद्यमं कुर्वाणे कस्तन्निवारणे समर्थ इत्याह— अविज्ञात इत्यादि। व्यपगततनुः शरीररहितः। पापमलिनः कृष्णः। भास्वदित्यादि। भास्वन्तश्च ते दशशतकराश्च सहस्रकिरणाः तैः आक्रान्तं व्याप्तं भुवनं येन। स्फुरन्तं सप्रतापं प्रकाशमानं वा। इत्थंभूतं भास्वन्तम् आदित्यम्। परिप्राप्ते काले लब्धावसरे। विलसति विजृम्भमाणे सति विधौ॥ ७६ ॥ स च अन्तकः किं कृत्वा क प्राणिनं

नीचे व्यन्तरों, भवनवासियों एवं नारकियोंको और ऊपर वैमानिक देवोंको स्थापित किया। इतना करनेपर भी वह उन मनुष्योंको मरनेसे नहीं बचा सका– आयुके पूर्ण होनेपर समयानुसार उन सबका मरण होता ही है। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त जो लोककी रचना है वह स्वाभाविक ही है। उसके उपर यहां यह उत्प्रेक्षा की गई है कि यह लोककी रचना क्या है, मानो ब्रह्माने मनुष्योंकी रक्षाके लिये ही यह सब किया है, फिर भी खेद है कि वे मृत्युसे सुरक्षित नहीं रह सके। तात्पर्य यह कि मनुष्य ही नहीं, किन्तु जितने भी शरीरधारी प्राणी हैं वे सब समयानुसार मरणको अवश्य प्राप्त होनेवाले हैं– उन्हें मृत्युसे बचानेवाला कोई भी नहीं है॥ ७५॥ जिसका स्थान अज्ञात है, जो शरीरसे रहित है, तथा जो पापसे मलिन अर्थात् काला है वह दुष्ट राहु निश्चयसे प्रकाशमान एक हजार किरणोंरूप हाथोंसे लोकको व्याप्त करनेवाले प्रतापी सूर्यको कवलित करता है; यह बड़े खेदकी बात है। ठीक है– समयानुसार कर्मका उदय आनेपर दूसरा कौन बलवान् है? आयुके पूर्ण होनेपर ऐसा कोई भी बलिष्ठ प्राणी

१ मु (जै. नि.) कष्टमपरं।

उत्पाद्य मोहमदविह्वलमेव[1] विश्वं
वेधाः स्वयं गतघृणष्ठकवद्यथेष्टम् ।

इन्तीत्याह— उत्पाद्येत्यादि । वेधाः विधिः कर्ता । विश्वं जगत् । मोहजनितमदेन विह्वलं कृत्वा । कृत्याकृत्यविवेकशून्यमेव उत्पाद्य पूर्वम्, पश्चात् स्वयमेव गतघृणो निर्दयः सन् हन्ता यथेष्टं ठकवत् । क्वेत्याह संसारे इत्यादि । ठगो हि गहनान्तराले हन्ता भवति । वेधाः

नहीं है जो मृत्युसे बच सके ॥ विशेषार्थ– लोकमें सूर्य अतिशय प्रतापी माना जाता है । उसके एक हजार किरण (कर) क्या हैं मानो आक्रामक हाथ ही हैं । ऐसे अपूर्व बलशाली तेजस्वी सूर्यको भी ग्रहणके समय वह काला राहु ग्रसित करता है जिसके न तो स्थानका पता है और न जिसके शरीर भी है । जिस प्रकार वह प्रतापशाली भी सूर्य राहुके आक्रमणसे आत्मरक्षा नहीं कर सकता है उसी प्रकार कितना भी बलवान् प्राणी क्यों न हो, किन्तु वह भी कालसे (मृत्युसे) अपनी रक्षा नहीं कर सकता है– समयानुसार मरणको प्राप्त होता ही है । कारण यह कि राहुके समान वह काल भी ऐसा है कि न तो उसके स्थानका ही पता है और न उसके शरीर भी है जिससे कि उसका कुछ प्रतिकार किया जा सके ।। ७६ ।। कर्मरूप ब्रह्मा समस्त विश्वको ही मोहरूप शराबसे मूर्छित करके तत्पश्चात् स्वयं ही ठग (चोर-डाकू) के समान निर्दय बनकर इच्छानुसार संसाररूप भयानक महावनके मध्यमें उसका घात करता है । उससे रक्षा करनेके लिये भला यहां दूसरा कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं है ।। विशेषार्थ– जिस प्रकार कोई चोर या डाकू बीहड़ जंगलमें किसी मनुष्यको पाकर प्रथमतः उसे शराब आदि मादक वस्तु पिलाकर मूर्छित करता है और तत्पश्चात् उसके पास जो कुछ भी रुपया-पैसा आदि होता है उसे लूट कर मार डालता है । उसी प्रकार यह कर्म भी प्राणीको

१ मु (जै. नि.) मदविभ्रममेव ।

संसारभीकरमहागहनान्तराले
हन्ता निवारयितुमत्र हि कः समर्थः ॥७७॥
कदा कथं कुतः कस्मिन्नित्यतर्क्यः खलोऽन्तकः ।
प्राप्नोत्येव किमित्याध्वं यतध्वं श्रेयसे बुधाः ॥ ७८॥

पुनः क । संसार एव भीकरं महागहनान्तरालं तत्र । अत्र वेधसि ॥ ७७ ॥ न च अन्तकस्य देशकालाकारनैयत्यमस्ति यत्परिहारेणासौ परिहियते इत्याह— कदेत्यादि । कदा कस्मिन् काले । कथं केन प्रकारेण । कुतः कस्मात् स्थानात् । कस्मिन् क्षेत्रे आगच्छति इत्येवम् अतर्क्यः अपर्यालोच्यः । किमिति आध्वं किमिति निश्चिन्तास्तिष्ठत । यतध्वं श्रेयसे प्रयत्नं कुरुत चारित्रानुष्ठानाय हे बुधाः ॥ ७८ ॥ देशादीनां च मध्ये मृत्योरगोचरं किंचिदवलोक्य

पहिले तो मोहरूप शराब पिलाकर मूर्छित करता है– हेयापादेयके ज्ञानसे रहित करता है, और तत्पश्चात् उसके रत्नत्रय स्वरूप धनको लूटकर मार डालता है – दुर्गतिमें प्राप्त कराकर दुखी करता है। इस प्रकार जैसे उस बीहड़ जंगलमें चोरके हाथोंमें पड़े हुए उस मनुष्यकी कोई रक्षा करनेवाला नहीं है उसी प्रकार इस भयानक संसारमें कर्मोदयसे मोहको प्राप्त हुए प्राणीकी भी रक्षा करनेवाला कोई नहीं है। हां, यदि वह स्वयं ही मोहसे रहित होकर हिताहितके विवेकको प्राप्त कर लेता है तो अवश्य ही वह संसारके सन्तापसे बच सकता है। प्रकारान्तरसे यहां यह भी सूचित किया गया है कि जो ब्रह्मा स्वयं ही विश्वको उत्पन्न करता है वही यदि उसका संहारक हो जाय तो फिर दूसरा कौन उसकी रक्षा कर सकता है? कोई नहीं ॥ ७७ ॥ जिस कालके विषयमें कब वह आता है, कैसे आता है, कहांसे आता है, और कहांपर आता है; इस प्रकारका विचार नहीं किया जा सकता है वह दुष्ट काल प्राप्त तो होता ही है। फिर हे विद्वानो! आप निश्चिन्त क्यों बैठे हैं? अपने कल्याणके लिये प्रयत्न कीजिये। अभिप्राय यह है कि प्राणीके मरणका न तो कोई समय ही नियत है और न स्थान भी। अतएव विवेकी जनको सदा सावधान रहकर आत्महितमें प्रवृत्त रहना चाहिये ॥ ७८ ॥ मृत्युसे

असामवायिकं मृत्योरेकमालोक्य कंचन ।
देशं कालं विधिं हेतुं निश्चिन्ताः सन्तु जन्तवः ॥ ७९ ॥
अपिहितमहाघोरद्वारं न किं नरकापदा-
मुपकृतवतो भूयः किं तेन चेदमपाकरोत् ।

निश्चिन्तैः स्थातव्यमित्याह— असामवायिकमित्यादि । असामवायिकं प्रतिकूलम् अगोचरं वा । विधिं प्रकारम् ॥ ७९ ॥ एवम् आयुषो नश्वरत्वं प्रतिपाद्य इदानीं स्त्रीनिन्दां कुर्वाणस्तत्कायस्य अपकारहेतुत्वं प्रदर्शयन् 'अपिहितं' इत्याद्याह— अपिहितम् अझम्पितम् ।

सम्बन्ध न रखनेवाले किसी एक देशको, कालको, विधानको और कारणको देखकर प्राणी निश्चिन्त हो जावें ॥ विशेषार्थ— पूर्व श्लोकमें यह बतलाया गया है कि प्राणीका मरण कब, कहां और किस प्रकारसे होगा; इस प्रकार जब कोई नहीं जान सकता है तब विवेकी जीवोंको यों ही निश्चिन्त होकर नहीं बैठना चाहिये, किन्तु उससे आत्मरक्षाका कुछ प्रयत्न करना चाहिये। इसपर शंका हो सकती थी कि जब उसके काल और स्थान आदिका पता ही नहीं है, तब भला उसका प्रतीकार करके आत्मरक्षा की ही कैसे जा सकती है? इसके उत्तरस्वरूप यहां यह बतलाया है कि यदि उस काल (मरण) के स्थान आदिका पता नहीं है तो न रहे, किन्तु हे प्राणी! तू ऐसे किसी सुरक्षित स्थानको प्राप्त कर ले जहा कि वह पहुंच ही न सकता हो। ऐसा करनेसे उसका प्रतीकार करनेके विना ही तेरी रक्षा अपने आप हो जावेगी। ऐसे सुरक्षित स्थानका विचार करनेपर वह केवल मोक्षपद ही ऐसा दिखता है जहां कि मृत्युका वश नहीं चलता। अतएव बाह्य वस्तुओंमें इष्टा-निष्टकी कल्पनाको छोड़कर मोक्षमार्गमें ही प्रवृत्त होना चाहिये, इसीमें जीवका आत्मकल्याण है ॥ ७९ ॥ जिस स्त्रीके शरीरको अज्ञानी जन दुर्लभ मानते हैं उस स्त्रीके शरीरमें हे भव्य! तू किसलिये अनुरक्त हो रहा है? वह स्त्रीका शरीर पुण्य (सुख) को भस्मीभूत करनेके लिये अग्निकी ज्वालाओंके समूहके समान होकर नरकके दुःखोंको प्राप्त करनेके

कुशलविलयज्वालाजाले कलत्रकलेवरे
कथमिव भवानत्र प्रीतः पृथग्जनदुर्लभे ॥ ८० ॥
व्यापत्पर्वमयं विरामविरसं मूलेऽप्यभोग्योचितं
विष्वक्क्षुत्क्षतपातकुष्ठकुथिताद्युग्रामयैश्छिद्रितम् ।

उपकृतवतः वस्त्राभरणादिभिः उपचारं कृतवतः । न च नैव । इदं कलत्रकलेवरम् । अपाकरोत् प्रतिकूलाचरणप्राणविपत्याद्यपकारकं कृतवत् । कुशलेत्यादि । कुशलस्य पुण्यस्य विलयाय विनाशाय ज्वालाजाले ज्वालासंघाते । प्रीतः प्रीतिं गतः ॥ ८० ॥ तत्र च प्रीतिं परित्यज्य सर्वथा निःसारं मानुष्यं विशिष्टधर्मोपार्जनेन सफलं कुर्विति शिक्षां प्रयच्छन्नाह— व्यापदित्यादि । विविधा आपदो व्यापदः ता एव पर्वाणि ग्रन्थयः तैर्निर्वृत्तं व्यापत्पर्वमयम् । विरामविरसं विरामे वृद्धत्वे अग्रभागे च विगतरसम् । मूले मूर्ध्नि बालत्वे च अभोग्योचितम्

लिये खुले हुए महा भयानक द्वारके समान है। तथा जिस स्त्रीशरीरको तूने वस्त्राभरणादिसे अलंकृत कर बारबार उपकृत किया है उसने क्या तेरा प्रतिकूल आचरण करके अपकार नहीं किया है? अर्थात् अवश्य किया है। अतएव ऐसे कृतघ्न स्त्रीके शरीरमें अनुराग करना उचित नहीं है ॥ ८० ॥ आपत्तियोंरूप पोरोंसे निर्मित, अन्तमें नीरस, मूलमें भी उपभोगके अयोग्य तथा सब ओरसे भूख, क्षतपात (घाव), कोढ़ और दुर्गन्ध आदि तीव्र रोगोंसे छेद युक्त की गई ऐसी यह मनुष्य पर्याय घुनों (लकड़ीके कीड़ों) से खाये हुए गन्नेके समान केवल नामसे ही रमणीय है। हे भव्य! तू इस निःसार मनुष्य पर्यायको शीघ्र यहां परभवका बीज (साधन) करके सारयुक्त कर ले ॥ विशेषार्थ — यहां मनुष्य पर्यायको काने गन्नेके समान निःस्सार बतलाकर उसके द्वारा योग्य संयम एवं तप आदिका आचरण करके परभवको सुधारनेकी प्रेरणा की गई है। उन दोनोंमें समानता इस प्रकारसे है — जैसे गन्ना पोरोंसे संयुक्त होता है वैसे वह मनुष्य पर्याय अनेक प्रकारके दुःखोंरूप पोरोंसे संयुक्त है, जिस प्रकार गन्ना अन्त (अन्तिम भाग) में नीरस या फीका होता है उसी प्रकार मनुष्य शरीर भी अन्तमें (वृद्धावस्थामें) नीरस (आनन्दसे रहित)

मानुष्यं घुणभक्षितेक्षुसदृशं नाम्नैकरम्यं पुनः
निःसारं परलोकबीजमचिरात्कृत्वेह सारीकुरु ॥ ८१ ॥
प्रसुप्तो मरणाशङ्कां प्रबुद्धो जीवितोत्सवम् ।
प्रत्यहं जनयन्नेष तिष्ठेत् काये कियच्चिरम् ॥ ८२ ॥

अनुभवनायोग्यम् । विष्वगित्यादि । विष्वक् समन्तात् क्षुच्च बुभुक्षा च, क्षतपातश्च[1], कुष्ठं च कुत्सितं च तानि आदिर्येषां जलोदरभगन्दराद्युग्रामयाः तैः छिद्रितं जर्जरीकृतम् इक्षुदण्डकम् । नाम्नैकरम्यं नाम्ना मानुष्यमिति शब्देनैकेन केवलेन रम्यम्, न परैर्धर्मैः । निःसारं अन्तस्तुच्छम् । परलोकबीजं धर्मसाधनत्वेन परलोकोपायम् । इह लोके सारीकुरु सफलं कुरु॥८१॥ प्रसुप्तेत्यादि । प्रसुप्तो गाढनिद्राक्रान्तः । मरणाशङ्काम् । प्रबुद्धो जागरितः । जीवितोत्सवं जीविते सति उत्सवः परिजनपरितोषादि । प्रत्यहं प्रतिदिनम् । एषः आत्मा । कियच्चिरं कियद्बहुकालम् ॥ ८२ ॥ एवं कायस्यात्मोपकारकत्वाभावं प्रतिपाद्य बन्धूनां प्रतिपाद-

होता है, गन्ना यदि मूल (जड़) में उपभोग्यके (चूसनेके) योग्य नहीं होता है तो वह मनुष्यशरीर भी मूल (बाल्यावस्था) में उपभोगके अयोग्य होता है, गन्ना जहां वनस्पतिमें होनेवाले रोगोंसे ग्रसित होकर यत्र तत्र छेदयुक्त हो जाता है वहां मनुष्य शरीर भी क्षुधा एवं घाव आदि रोगोंसे छेदयुक्त (दुर्बल) हो जाता है, तथा जिस प्रकार गन्ना भीतर सारभागसे रहित होता है उसी प्रकार मनुष्य शरीर भी सार (श्रेष्ठ वस्तु) से रहित होता है । इस प्रकार दोनोंमें समानता होनेपर जिस प्रकार किसान उस गन्नेकी गांठोंको बीजके रूपमें सुरक्षित रखकर उनसे पुनः उसकी सुन्दर फसलको उत्पन्न करता है उसी प्रकार विवेकी जनका भी कर्तव्य है कि वे उस निःसार मनुष्यशरीरको आगामी भवका (देवादि पर्याय अथवा सिद्ध पर्याय) का बीज (साधन) बनाकर उसे सफलीभूत करें ॥ ८१ ॥ जब प्राणी सोता है तब वह मृतवत् होकर मरनेकी आशंका उत्पन्न करता है और जब जागृत रहता है तब जीनेके उत्सवको करता है । इस प्रकार प्रतिदिन आचरण करनेवाला यह प्राणी कितने काल तक उस शरीरमें रह सकेगा? अर्थात् बहुत ही थोड़े समय तक रह सकता है, पश्चात् उस शरीरको छोड़ना ही पड़ेगा ॥ ८२ ॥ हे प्राणी ! यदि तूने

1 ज क्षसपातश्च ।

सत्यं वदात्र यदि जन्मनि बन्धुकृत्य-
माप्तं त्वया किमपि बन्धुजनाद्धितार्थम् ।
एतावदेव परमस्ति मृतस्य पश्चात्
संभूय कायमहितं तव भस्मयन्ति ॥८३॥
जन्मसंतानसंपादिविवाहादिविधायिनः ।
स्वाः परेऽस्य सकृत्प्राणहारिणो न परे परे ॥ ८४ ॥

यन्नाह— सत्यमित्यादि । अत्र संसारे बन्धुकृत्यं बन्धुकार्यम् । हितार्थम् उपकारकम् । आप्तं प्राप्तम् । संभूय मिलित्वा ॥ ८३ ॥ ननु विवाहादिकार्यस्य बन्धुजनान् [त्]प्रतीतेः कथं न ततः तत्कार्यमित्याशङ्क्याह— जन्मेत्यादि । जन्मनः संसारे प्रादुर्भावस्य संतानः प्रवाहः तस्य संपादि संप्रापकं तच्च तद्विवाहादि तस्य विधायिनः कारकाः स्वजनाः । तस्य आत्मनः परे शत्रवः । अपरे स्वजनेभ्योऽन्ये ये ते सकृत्प्राणहारिणः एकदा प्राणविपत्तिकारिणः । न ते परे शत्रवः ॥ ८४ ॥ अथोच्यते विवाहादिविधानेन धनधान्यकलत्रादि-

संसारमें भाई-बन्धु आदि कुटुम्बी जनोंसे कुछ भी हितकर बन्धुत्वका कार्य प्राप्त किया है तो उसे सत्य बतला । उनका केवल इतना ही कार्य है कि मर जानेके पश्चात् वे एकत्रित होकर तेरे अहितकारक शरीरको जला देते हैं ।। विशेषार्थ– बन्धुका अर्थ हितैषी होता है । परन्तु जिन कुटुम्बी जनोंको बन्धु समझा जाता है वे वास्तवमें प्राणीका कुछ भी हित नहीं करते हैं । बल्कि, इसके विपरीत वे राग-द्वेषके कारण बनकर उसका अहित ही करते हैं । इसीलिये विवेकी जनको बन्धुजनमें अनुरक्त न होकर अपने आत्महितमें ही लगना चाहिये ।। ८३ ॥ जो कुटुम्बी जन जन्म-परम्परा (संसार) को बढ़ाने वाले विवाहादि कार्यको करते हैं वे इस जीवके शत्रु हैं, दूसरे जो एक ही वार प्राणोंका अपहरण करनेवाले हैं वे यथार्थमें शत्रु नहीं हैं ।। विशेषार्थ– जो अपना अहित करे वही वास्तवमें शत्रु है– किन्तु जिसे प्राणी शत्रु मानता है वह सचमुचमें शत्रु नहीं है । कारण यह कि यदि वह अधिकसे अधिक अहित करेगा तो केवल एक वार प्राणोंका वियोग कर सकता है, इससे अधिक वह और कुछ भी

धनरन्धनसंभारं[1] प्रक्षिप्याशाहुताशने।
ज्वलन्तं मन्यते भ्रान्तः शान्तं संधुक्षणक्षणे॥ ८५॥
पलितच्छलेन देहान्निर्गच्छति शुद्धिरेव तव बुद्धेः।
कथमिव परलोकार्थं जरी वराकस्तदा स्मरति॥ ८६॥

संपादकत्वेन वाञ्छितार्थप्रापकत्वात् कथं तेषां शत्रुत्वमिति तदयुक्तमित्याह— धनेत्यादि। रन्ध्यते अनेनेति रन्धनम् इन्धनम्, धनमेव रन्धनं तस्य संभारं संघातम्। प्रक्षिप्य। क्व। आशाहुताशने आशैव हुताशनोऽग्निः तस्मिन्। ज्वलन्तम् आशाहुताशनम्। शान्तम् उपशान्तं मन्यते। भ्रान्तः सन् अविवेकी। संधुक्षणक्षणे आशाग्नेः धनेन्धनैः प्रज्वालनसमये॥ ८५॥ एवं मन्यमानस्य भवतः किं किं भवतीत्यह—पलितेत्यादि। पलितच्छलेन पलितव्याजेन। शुद्धिः निर्मलता। परलोकार्थं परत्रार्थम्। अथवा पर उत्कृष्टो लोको मोक्षः परलोकः तस्य अर्थः

नहीं कर सकता है। किन्तु जो कुटुम्बीजन विवाहादिको करके प्राणीको संसारवृद्धिके कारणोंमें प्रवृत्त करते हैं वास्तविक शत्रु तो वे ही हैं, क्योंकि उनके द्वारा अनेक भवोंका घात होनेवाला है— राग-द्वेषादिकी वृद्धिके कारण होनेसे वे अनेक भवोंको दुखमय बनानेवाले हैं॥ ८४॥ आशा (विषयतृष्णा) रूप अग्निमें धनरूप इन्धनके समूहको डालकर भ्रान्तिको प्राप्त हुआ प्राणी उस जलती हुई आशारूप अग्निको जलनेके समयमें शान्त मानता है॥ विशेषार्थ— जिस प्रकार अग्निमें इन्धनके डालनेसे वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही है— कम नहीं होती— उसी प्रकार अधिक अधिक धनके संचयसे यह विषयतृष्णा भी उत्तरोत्तर बढ़ती ही है— कम नहीं होती। अग्नि जब इन्धनको पाकर अधिक भड़क उठती है तब मूर्खसे मूर्ख प्राणी भी उसे शान्त नहीं मानता। परन्तु आश्चर्य है कि विषयसामग्रीरूप इन्धनको पाकर उस तृष्णारूप अग्निके भड़क उठनेपर भी यह प्राणी उसे (विषयतृष्णाग्निको) और उसमें जलते हुए अपनेको भी शान्त मानता है। यह उसकी बड़ी अज्ञानता है॥ ८५॥ हे भव्य! बालोंकी धवलताके मिषसे तेरी बुद्धिकी निर्मलता ही शरीरसे निकलती जा रही है। ऐसी अवस्थामें बिचारा वृद्ध उस समय परभवमें

१ मु (जै., नि.) रे धनेन्धनसंभारं।

इष्टार्थोद्यदनाशितं भवसुखक्षाराम्भसि[1] प्रस्फुरन्-
नानामानसदुःखवाडवशिखासंदीपिताभ्यन्तरे ।

प्रयोजनम् अनन्तज्ञानादि सम्यग्दर्शनज्ञानादिकारणकलापो वा, अर्थ्यते याच्यते मोक्षो येनासावर्थ इति व्युत्पत्तेः। जरी जरा अस्यास्तीति जरी, व्रीह्यादेरिन् [जै. म. ४।१।४२] तदा शुद्धिनिर्गमकाले ॥८६॥ ये तु बुद्धिशुद्धियुक्ता मोहानभिभूतचेतसः परलोकार्थं स्मरन्ति ते विरला इत्याह— इष्टार्थेत्यादि। इष्टार्थः स्रग्वनिताचन्दनादिः तस्मादुद्यत्प्रादुर्भवत् तच्च तत् अनाशितं

हित करनेवाले कार्योंका कैसे स्मरण कर सकता है? अर्थात् नहीं कर सकता है ।। विशेषार्थ— वृद्धावस्थाके प्राप्त होनेपर बाल सफेद होने लगते हैं। इसके ऊपर यहां यह उत्प्रेक्षा की गई है कि वह बालोंकी सफेदी क्या है मानों निर्मल बुद्धि ही शरीरसे निकलकर बाहिर आ रही है। अभिप्राय उसका यह है कि वृद्धावस्थामें जैसे जैसे शरीर शिथिल होता जाता है वैसे ही वैसे प्राणीकी बुद्धी भी भ्रष्ट होती जाती है। उस समय उसकी विचारशक्ति नष्ट हो जाती है तथा करने योग्य कार्यका स्मरण भी नहीं रहता है। ऐसी दशामें यदि कोई मनुष्य यह विचार करे कि अभी मैं युवा हूं, इसलिये इस समय इच्छानुसार धन कमाकर विषय-सुखका अनुभव करूंगा और तत्पश्चात् वृद्धावस्थाके प्राप्त होनेपर आत्म-कल्याणके मार्गमें लगूंगा। ऐसा विचार करनेवाले प्राणियोंको ध्यानमें रखकर यहां यह बतलाया है कि वृद्धावस्थामें इन्द्रियां शिथिल और बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है तथा व्रत एवं जप-तप आदि करनेका शरीरमें सामर्थ्य भी नहीं रहता है। इसके अतिरिक्त मृत्युका भी कोई नियम नहीं है— वह वृद्धावस्थाके पूर्वमें भी आ सकती है। अतएव वृद्धावस्थाके ऊपर निर्भर न रहकर उसके पहिले ही, जब कि शरीर स्वस्थ रहता है, आत्म-कल्याणके मार्गमें– व्रतादिके आचरणमें– प्रवृत्त हो जाना अच्छा है ।।८६।। जो संसाररूप भयानक समुद्र मनोहर पदार्थोंके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले असन्तोषजनक सुखरूप खारे जलसे परिपूर्ण है, जिसका भीतरी भाग अनेक प्रकारके मानसिक दुखोंरूप वडवानलकी ज्वालाओंसे जल रहा

१ मु (जै.नि.) इष्टार्थाद्यदवाप्तद्भवसुखेक्षा°।

मृत्यूत्पत्तिजरातरङ्गचपले संसारघोरार्णवे
मोहग्राहविदारितास्यविवराद्दूरे चरा दुर्लभाः॥ ८७॥

भवम् अतृप्तिजनकं तच्च तत् सुखं च तदेव क्षारम् अम्भो यत्र। प्रस्फुरदित्यादि। प्रस्फुरन्त्यो दीप्ताः ताश्च ताः नानामानसदुःखानि एव वाडवशिखाश्च ताभिः संदीपितं प्रज्वालितम् अभ्यन्तरं यत्र। मृत्यूत्पत्तिजरा एव तरङ्गा ऊर्मयः तरलाश्चपला यत्र। इत्थंभूते संसारलक्षणे घोरार्णवे रौद्रसमुद्रे। मोह इत्यादि। मोह एव ग्राहो जलचरस्तेन विदारितं तच्च तत् आस्यं च मुखं तदेव विवरं तस्मात्। दूरे चराः दूरे प्रवर्तमानाः॥ ८७॥ ततो दूरे चरतो दुर्धरानु-

है; तथा जो मरण, जन्म एवं वृद्धत्वरूप लहरोंसे चंचल है; उस भयानक संसार-समुद्रमें जो विवेकी प्राणी मोहरूप हिंस्र जलजन्तुओं (मगर आदि) के फाड़े हुए मुखरूप बिलसे दूर रहते हैं वे दुर्लभ हैं॥ विशेषार्थ— यह संसार भयानक समुद्रके समान है– समुद्रमें जहां तृष्णा (प्यास) को न शान्त कर सकनेवाला खारा जल रहता है वहां संसारमें तृष्णा (विषयाभिलाषा) को न शान्त कर सकनेवाला इष्ट विषयभोगजनित सुख रहता है, समुद्रमें यदि वड्वानलकी ज्वालाओंसे उसका जल जलता रहता है तो संसारमें भी प्राणी अनेक प्रकारके मानसिक दुःखोंसे जलते (सतप्त) रहते हैं; समुद्रमें जहा उसको क्षुब्ध करनेवाली बड़ी बड़ी लहरोंकी परम्परा चलती है वहा संसारमें भी प्राणीको पीड़ित करनेवाली लहरोंके समान जन्म, जरा और मरणकी परम्परा चलती रहती है; तथा समुद्रमें यदि मगर एवं घड़ियाल आदि हिंसक जन्तु रहते हैं तो संसारमें भी घातक मोह रहता है। इस प्रकार संसार और समुद्र इन दोनोंके समान होनेपर जिस प्रकार गम्भीर एवं अपार समुद्रमें गिरे हुए प्राणियोंका उसमें स्थित मगर-मत्स्यादिके मुखसे बचना अशक्य है– विरला ही कोई भाग्यवान् बचता है, उसी प्रकार संसारमें स्थित प्राणियोंका मोहसे बचना अशक्य है– विरले ही विवेकी जीव उसके प्रभावसे बचते हैं॥ ८७॥ निरन्तर प्राप्त

अभ्युच्छिन्नैः सुखपरिकरैर्लालिता लोलरम्यैः
श्यामाङ्गीनां नयनकमलैरर्चिता यौवनान्तम् ।
धन्योऽसि त्वं यदि तनुरियं लब्धबोधेर्मृगीभि-
र्दग्धारण्ये स्थलकमलिनीशङ्कयालोक्यते ते ॥ ८८ ॥

ध्यानमनुतिष्ठतो भवतः सुलालितापि तनुर्यदीदृशं वने मृगीभिः दृश्यते तदा धन्योऽसीत्याह— अभ्युच्छिन्नैरित्यादि । अभ्युच्छिन्नैः निरन्तरैः । सुखपरिकरैः स्रग्वनितादिभिः । लालिता उपचयं नीता । तथा अर्चिता अनवरतमवलोकिता । कैः । नयनकमलैः । कथंभूतैः । लोलरम्यैः चञ्चलरमणीयैः । कासाम् । श्यामाङ्गीना उत्तमनायिकानाम् । कथमर्चिताः । यौवनान्तं यौवनमध्यं यथा भवत्येवम् । लब्धबोधेः प्राप्तरत्नत्रयस्य । दग्धेत्यादि–दग्धा चासौ अरण्ये अटव्या स्थलकमलिनी च तस्या. शङ्कया संदेहेन ॥ ८८ ॥ इत्थमेव त्वदीयं जन्म सफलं

होनेवाली सुख-सामग्रीसे पालित और यौवनके मध्यमें सुन्दर स्त्रियोंके चंचल एवं रमणीय नेत्रोंरूप कमलोंसे पूजित अर्थात् देखा गया ऐसा वह तेरा शरीर विवेकज्ञानके प्राप्त होनेपर यदि जले हुए वनमें हिरणियोंके द्वारा स्थलकमलिनीकी आशंकासे देखा जाता है तो तू धन्य है— प्रशंसाके योग्य है ।। विशेषार्थ— जिसने निरन्तर सुखसामग्रीको प्राप्त करके विषयसुखका अनुभव किया है तथा यौवनके समयमें जिसको अनेक सुन्दर स्त्रिया चाहती रही हैं वह यदि विवेकज्ञानको प्राप्त करके वनमें स्थित होता हुआ दुर्द्धर तपका आचरण करता है तो तपसे कृश उसके सुकुमार शरीरको देखकर हिरणियोंको जंगलमें आगसे जली हुई स्थल-कमलिनीका भ्रम होने लगता है । ऐसे वे भव्य जीव ही वास्तवमें पुण्यशाली हैं जिन्हे समस्त सुखसामग्रीके सुलभ रहनेपर भी आत्मकल्याणके लिये उसे छोड़नेमें किसी प्रकार क्लेशका अनुभव नहीं हुआ । वे स्तुतिके योग्य हैं । आश्चर्य तो उन जीवोंके ऊपर होता है जो कि यथेष्ट सुखसामग्रीके न मिलनेसे निरन्तर दुखी रहकर भी तद्विषयक मोहको नहीं छोड़ना चाहते हैं ।। ८८ ।। प्राणी बाल्यावस्थामें शरीरके पुष्ट न होनेसे कुछ भी

बाल्ये वेत्सि न किंचिदप्यपरिपूर्णाङ्गो हितं वाहितं
कामान्धः खलु कामिनीद्रुमघने भ्राम्यन् वने यौवने ।

स्याज्ज्ञान्यथेति दर्शयन्नाह— बाल्येत्यादि । बाल्ये बालत्वे । अपरिपूर्णाङ्गः अपुष्टाङ्गः सन् । कामान्धः कामेन अन्धः विवेकपराङ्मुखः । कामिनीद्रुमघने कामिनीलक्षणद्रुमैः घने, ते वा घना यत्र वने यौवनलक्षणे वने । भ्राम्यन् न किंचिद्धितमहितं वा वेत्सि । मध्ये मध्यमावस्थायाम् । वृद्धतृषा वृद्धा महती सा चासौ तृट् वृद्धतृट् तया । वसु द्रव्यम् । अर्जितुम् ।

हित-अहितको नहीं जानता है। यौवन अवस्थामें कामसे अन्धा होकर स्त्रियोंरूप वृक्षोंसे सघन उस यौवनरूप वनमें विचरता है, इसलिये यहां भी वह हिताहितको नहीं जानता है। मध्यम (अधेड़) अवस्थामें पशुके समान अज्ञानी होकर बढ़ी हुई तृष्णाको शान्त करनेके लिये खेती व वाणिज्य आदिके द्वारा धनके कमानेमें तत्पर रहकर खिन्न होता है, अतः इस समय भी हिताहितको नहीं जानता है। तथा वृद्धावस्थाके प्राप्त होनेपर वह अधमरेके समान होकर शरीरसे शिथिल हो जाता है, इसलिये यहां भी हिताहितका विवेक नहीं रहता है। ऐसी दशामें हे भव्य जीव! कौन-सी अवस्थामें धर्मका आचरण करके तू अपने जन्मको सफल कर सकता है? ॥ विशेषार्थ— बाल्यावस्थामें शरीरके परिपुष्ट न होनेसे प्राणी अपने हिताहितको ही नहीं समझ सकता है। यौवन अवस्थामें प्रायः वह कामसे पीड़ित होकर विषयसामग्रीकी खोजमें रहता है। इसके पश्चात् अधेड़ अवस्थामें वह धनके कमानेमें आसक्त होकर उसके द्वारा वृद्धिंगत धनकी तृष्णाको समाप्त करना चाहता है, परन्तु इससे उसका शान्त होना तो दूर ही रहा, वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही अधिक है। अब रही वृद्धावस्था, सो यहां समस्त इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं, शरीर रोगाक्रान्त हो जाता है, तथा स्मृति भी जाती रहती है। इस प्रकारसे वे सब अवस्थायें यों ही वीत जाती हैं और वह अज्ञानी प्राणी कुछ भी आत्महित नहीं कर पाता। किन्तु हां, जो विवेकी प्राणी हैं वे यौवन अवस्थामें विषय-

मध्ये वृद्धतृषार्जितुं वसु पशुः[1] क्लिश्नासि कृष्यादिभि-
र्वार्द्धिक्येऽर्धमृतः[2] क्व जन्म फलि ते[3] धर्मो भवेन्निर्मलः ॥ ८९ ॥
बाल्येऽस्मिन् यदनेन ते विरचितं स्मर्तुं च तन्नोचितं
मध्ये चापि धनार्जनव्यतिकरैस्तन्नास्ति यन्नापितः[4]।

पशुः अज्ञः सन्। क्लिश्नासि। कैः। कृष्यादिभिः। अतस्तत्रापि न किंचिद्धितम् अहितं वा वेत्सि। वार्द्धिके[क्ये] वृद्धत्वे अर्धमृतः क्वचिदपि व्यापारे अक्षमः। क्व। अवस्थाविशेषे। जन्म। ते तव। फलि सफलं स्यात्। तथा धर्मो भवेन्निश्चलः ॥ ८९ ॥ अवस्थात्रयेऽपि अपकारकस्य कर्मणो वशेनेदानीं भवतो वर्तितुम् अनुचितमिति शिक्षां प्रयच्छन्नाह— बाल्येत्यादि।

सुखको भोग करके तत्पश्चात् उसे उच्छिष्टके समान छोड़ देते हैं और आत्मकल्याणके मार्गमें प्रवृत्त हो जाते हैं। कुछ ऐसे भी महापुरुष होते हैं जो उन कष्टदायक विषयोंमें अनुरक्त न होकर प्रारम्भमें ही संयम एवं तप आदिके साधनेमें प्रवृत्त हो जाते हैं। परन्तु ऐसे महापुरुष विरले ही हैं, अधिक प्राणी तो वे ही अज्ञानी जीव हैं जो पूर्वोक्त अवस्थाओंमेंसे किसी भी अवस्थामें आत्महितको नहीं करते हैं ॥ ८९ ॥

हे दुर्बुद्धि प्राणी! इस विधि (कर्म) ने बाल्यकालमें जो तेरा अहित किया है उसका स्मरण करना भी योग्य नहीं है। मध्यम अवस्थामें भी ऐसा कोई दुख नहीं है जिसे कि उसने धनोपार्जन आदि कष्टप्रद कार्योंके द्वारा तुझे न प्राप्त कराया हो। वृद्धावस्थामें भी उसने तुझे तिरस्कृत करके निर्दयतापूर्वक दांत तोड़ देने आदिका प्रयत्न किया है। फिर देख तो सही कि तेरा इतना अहित करनेपर भी आज भी तू उक्त कर्मके ही वशीभूत होकर प्रवृत्ति करनेकी इच्छा करता है॥ विशेषार्थ— यह अज्ञानी प्राणी दूसरोंके विषयमें हित और अहितकी कल्पना करके तदनुसार उन्हें मित्र और शत्रु समझने लगता है। परन्तु वास्तवमें जो उसका अहितकारी शत्रु कर्म है उसकी ओर इसका ध्यान ही नहीं जाता

१ मु (जै.) पशो। २ मु (जै., नि.) °र्वृद्धो वार्द्धमृतः। ३ मु (जै.) फलितं। ४ मु (जै., नि.) °स्तन्नार्पितं यत्त्वयि।

वार्द्धक्ये[1]ऽप्यभिभूय दन्तदलनाद्याचेष्टितं निष्ठुरं
पश्याद्यापि विधेर्वशेन चलितुं वाञ्छस्यहो दुर्मते ॥ ९० ॥

अनेन विधिना विरचितं कृतम्। व्यतिकरैः प्रपञ्चैः। नापितः न प्रापितः। अभिभूय पराभवं कृत्वा। आचेष्टितम् आचरितम्। निष्ठुरम् अमनोज्ञम्। चलितुं प्रवर्तितुम् ॥ ९० ॥

है। जीव बाल्यावस्थामें जो गर्भ एवं जन्म आदिके असह्य दुखको भोगता है उसका कारण वह कर्म ही है। तत्पश्चात् यौवन अवस्थामें भी उक्त कर्मके ही उदयसे प्राणी कुटुम्बके भरण-पोषणकी चिन्तासे व्याकुल होकर धनके कमाने आदिमें लगता है और निरन्तर दुःषह दुखको सहता है। इसी कर्मके निमित्तसे वृद्धावस्थामे इन्द्रिया शिथिल पड़ जाती हैं, शरीर विकृत हो जाता है, और दात टूट जाते हैं। इस प्रकार जो कर्म सब ही अवस्थाओंमें उसका अनिष्ट कर रहा है उसे अहितकर न मानकर यह अज्ञानी प्राणी आगे भी उसीके वशमें रहना चाहता है। लोकमें देखा जाता है कि जो मनुष्य किसीका एक वार भी अनिष्ट करता है उससे वह भविष्यमें किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखता। इसी प्रकार यदि कोई दात तोड़ना तो दूर रहा, किन्तु यदि दात तोड़नेके लिये कहता ही है तो मनुष्य उसे अपना अपमान करनेवाला मानकर यथाशक्ति उसके प्रतीकारके लिये प्रयत्न करता है। फिर देखो कि जो कर्म एक वार ही नहीं, किन्तु वार वार प्राणीका अनिष्ट करता है तथा दात तोड़नेके लिये कहताही नहीं, बल्कि वृद्धावस्थामें उन्हें तोड़ ही डालता है; उस अहितकर कर्मके ऊपर इस प्राणीको क्रोध नहीं आता। इसीलिये उसका प्रतीकार करना तो दूर रहा, किन्तु वह भविष्यमें भी उसी कर्मके अधीन रहना चाहता है ॥ ९० ॥ हे वृद्ध! तेरे कान दूसरोंके निन्दावाक्योंको नहीं सुननेकी इच्छासे ही मानो तिरस्कृत अर्थात् नष्ट हो गये– बहरे हो गये। नेत्र मानो तेरी घृणित अवस्थाको देखनेमें असमर्थ होकर ही अन्धेपनको प्राप्त हो गये हैं। यह

१ मु (जै., नि.) वार्द्धक्ये।

अश्रोत्रीव तिरस्कृतापरतिरस्कारश्रुतीनां श्रुति
चक्षुर्वीक्षितुमक्षमं तव दशा दूष्यामिवान्ध्यं गतम्।
भीत्येवाभिमुखान्तकादतितरां कायोऽप्ययं कम्पते
निष्कम्पस्त्वमहो प्रदीप्तभवनेऽप्यासे[स्से] जराजर्जरे ॥ ९१ ॥

वृद्धावस्थायामिन्द्रियादीनामेवंविधा प्रवृत्ति पश्यतस्तव [1]निश्चिन्तमवस्थानमयुक्तमित्याह— अश्रोत्रीवेत्यादि। श्रुति श्रोत्रम्। तिरस्कृता ते नष्टा [नष्टा]। कथभूतेव। अश्रोत्रीव श्रोतुमनिच्छतीव। कासाम्। परतिरस्कारश्रुतीना परनिन्दावचनानाम्। तव दशा तव वृद्धावस्थाम्। दूष्या निन्द्याम्। वीक्षित द्रष्टुम्। अक्षममिव अशक्तमिव। चक्षु आन्ध्य गतम्। भीत्येव भयेनेव। नि कम्प परलोकव्यापारचिन्तारहित । त्वम्। अहो आश्चर्यम्। प्रदीप्तभवनेऽपि प्रदीप्त भवनमिव प्रदीप्तभवनम जराव्यध्याद्युपहृत शरीरम्। तत्रापि आसे[स्से] तिष्ठसि ॥ ९१ ॥ तत्र तिष्ठतो जीवस्य शिक्षा प्रयच्छन्नतिपरिचितेष्वित्याद्याह—

शरीर भी तेरा सन्मुख आनेवाले यम (मृत्यु) से मानो भयभीत हो करके ही अतिशय काप रहा है। फिर भी आश्चर्य है कि तू जलते हुए घरके समान उस वृद्धत्वसे शिथिल हुए शरीरमे निश्चल रह रहा है ॥ विशेषार्थ— वृद्धावस्थामें कान बहरे हो जाते है आखे अन्धी हो जाती है, और शरीर कापने लगता है। यह शरीरकी अवस्था बुढापेमें स्वभावत हो जाया करती है। इसपर यहां यह उत्प्रेक्षा की गई है कि बुढापेमें प्राय घर व बाहिरके सब ही जन तिरस्कार करने लगते हैं उन निन्दावाक्योंको न सुननेकी ही इच्छासे मानो वृद्धके कान बहरे हो जाते हैं। इसी प्रकार उस अवस्थामें मुहसे लार बहने लगती है, कपड़ोंमे मल मूत्रादि हो जाता है, तथा निरन्तर खासी व कफ आदि बना रहता है इस प्रकारकी घृणाजनक अवस्थाको न देख सकनेके ही कारण मानो वृद्धकी आखे अन्धी हो जाती हैं। वह बुढापा क्या है मरणकी निकटताकी सूचना ही है, उसीके भयसे मानो वृद्धका शरीर कापने लगता है। वह वृद्धावस्थाका शरीर आगसे जलते हुए महलके समान नष्ट हो जानेवाला है। फिर भी आश्चर्य

१ ज निश्चिन्त्य°।

अतिपरिचितेष्ववज्ञा नवे भवेत् प्रीतिरिति हि जनवादः ।
तं किमिति मृषा कुरुषे दोषासक्तो गुणेष्वरतः ॥ ९२ ॥

जनवादः लोकवादः । तं जनवादम् । किमिति इति एवं वक्ष्यमाणन्यायेन किं मृषा कुरुषे । दोषा हि रागद्वेषमोहादयः अतिपरिचिताः, सर्वत्र सर्वदा सर्वैः प्राणिभिः अनादिसंसारे अनुभूतत्वात् । गुणास्तु सम्यग्दर्शनादयः नवाः, कदाचिदपि अननुभूतत्वात् । ततो दोषेषु आसक्तेन गुणेषु च अनुरागरहितेन भवता जनवादोऽसत्यः कृतः इति ॥ ९२ ॥ दोषासक्तेन

है कि जब घरमें आग लग जाती है तब उसके भीतर स्थित प्राणी व्याकुल होकर बाहिर निकलनेका प्रयत्न करते हैं; परन्तु वह बेसुध हुआ वृद्ध उस नष्टप्राय शरीरसे मोहको नहीं छोड़ता और इसीलिये वह परभवको सुखमय बनानेके लिये कुछ प्रयत्न भी नहीं करता है ।। ९१ ।। अत्यन्त परिचित वस्तुमें अनादरबुद्धि और नवीनमें प्रेम होता है, यह जो किंवदन्ती (प्रसिद्धि) है उसे तू दोषोंमें आसक्त तथा गुणोंमें अनुराग रहित होकर क्यों असत्य करता है ? ।। विशेषार्थ— लोकमें प्रसिद्धि है कि जो वस्तुएं अनेक वार परिचयमें (उपभोगमें) आ चुकी हैं उनमें अनुराग नहीं रहता है, इसके विपरीत जो वस्तु पूर्वमें कभी परिचयमें नहीं आयी है उसके विषयमें प्राणीका विशेष अनुराग हुआ करता है। परन्तु पूर्वोक्त जीवकी दशा इसके सर्वथा विपरीत है– जो दोष (राग-द्वेषादि) जीवके साथ चिर कालसे सम्बद्ध हैं उनसे वह अनुराग करता है तथा जो सम्यग्दर्शनादि गुण उसे पूर्वमें कभी भी नहीं प्राप्त हुए हैं उनमें वह अनुराग नहीं करता है। इस प्रकारसे वह उपर्युक्त लोकोक्तिको भी असत्य करना चाहता है ॥ ९२ ॥ कमलको हंस नहीं खाते हैं, वह जलमें उत्पन्न होकर भी उससे चूंकि संगत नहीं होता है अतएव कठोर है, तथा वह दिनमें विकसित होकर रात्रिमें मुकुलित हो जाता है। यह सब विचार भ्रमर नहीं करता है। इसीलिये वह उसकी गन्धमें आसक्त होता हुआ रात्रिमें उसके संकुचित हो जानेपर उसीके भीतर मरणको प्राप्त होता है। ठीक है– व्यसनी जनको अपने हिताहितका विचार नहीं

हंसैर्न भुक्तमतिकर्कशमम्भसापि नो संगतं दिनविकासि सरोजमित्थम् ।
नालोकितं मधुकरेण मृतं वृथैव प्रायः कुतो व्यसनिनां स्वहिते विवेकः ॥९३॥
प्रज्ञैव दुर्लभा सुष्ठु दुर्लभा सान्यजन्मने ।
तां प्राप्य ये प्रमाद्यन्ते ते शोच्याः खलु धीमताम् ॥ ९४ ॥

च व्यसनिना हिताहितमपरिभावयता संसारे मरणादिदुःखमनुभूतमिति सदृष्टान्तं दर्शयन्नाह— हंसैरित्यादि । हंसैः पक्षिविशेषैः पुरुषविशेषैश्च गणधरदेवादिभिः । न भुक्तं न भक्षितं न सेवितं वा । यतः अतिकर्कशम् अकोमलं संसारदुःखदायि च । अम्भसा जलेन स्वच्छस्वभावेन च । नो संगतं नैकतां गतम् । दिनविकासि दिवसे असंकुचितम् । सरोजं पद्मं शरीरं च । सर इव शरीरं शुक्रशोणितसमुदायः, तत्र जातं इति कृत्वा । इत्थम् अनेन प्रकारेण । नालोकितं मधुकरेण भ्रमरेण विटेन च ॥ ९३ ॥ तदवलोकने च सम्यग्ज्ञानभावः कारणम्, संसारे परिभ्रमतः प्राणिनः तत्प्राप्तेरतिदुर्लभत्वादित्याह— प्रज्ञैवेत्यादि । प्रज्ञैव, न भोगोपभोगादिकम् । अन्यजन्मने परत्र निमित्तम् । प्रमाद्यन्ति अकृतादरा भवन्ति ॥ ९४ ॥

रहता है ।। विशेषार्थ — यहां भ्रमरका उदाहरण देकर यह बतलाया है कि जिस प्रकार भ्रमर कमलके विषयमें यह नहीं सोचता है कि इसका भक्षण हंस नहीं करते हैं, वह (कृतघ्न) जिस जलमें उत्पन्न हुआ है उसीसे अलिप्त रहता है, तथा वह रात्रिमें मुकुलित होकर प्राणोंका घातक बनेगा; इसीलिए वह उसमें आसक्त रहकर वहीं मरणको प्राप्त होता है । ठीक इसी प्रकारसे विषयी जन भी यह विचार नहीं करते हैं कि इन विषयोंका उपभोग हंसोंके समान महात्मा पुरुषोंने नहीं किया है, ये सर्वदा रहनेवाले नहीं हैं– देखते देखते नष्ट होनेवाले हैं, तथा आत्मस्वभावके प्रतिकूल होकर प्राणीको नरकादि दुर्गतियोंमें ले जानेवाले हैं; इसीलिए वे उनमें आसक्त होकर उसी भ्रमरके समान जन्म-मरणादिके अनेक दुखोंको सहते हैं । सो यह कुछ आश्चर्यजनक बात नहीं है, कारण कि व्यसनी जनोंका ऐसा स्वभाव ही होता है– उन्हें कभी अपने हितका विवेक नहीं रहता है ।। ९३ ।। प्रथम तो हिताहितका विचार करनेरूप बुद्धिही दुर्लभ है, फिर वह परभवके हितका विवेक तो और भी दुर्लभ है । उस विवेकको प्राप्त करके भी जो जीव प्रमाद करते हैं वे बुद्धिमानोंके लिये सोचनीय होते हैं ।। विशेषार्थ— संसारमें एकेन्द्रियको आदि लेकर चौइन्द्रिय तक सब ही प्राणी मनसे रहित होते हैं, इसीलिये उन्हें

लोकाधिपाः क्षितिभुजो भुवि येन जाताः
तस्मिन् विधौ सति हि सर्वजनप्रसिद्धे।
शोच्यं तदेव यदमी स्पृहणीयवीर्या-
स्तेषां बुधाश्च बत किंकरतां प्रयान्ति ॥ ९५ ॥

परिप्राप्तप्रज्ञानामपि उद्भूतवीर्याणा लक्ष्मीविलासाभिलाषेण राज्ञां सेवा कुर्वतामनुशयं कुर्वन्नाह— लोकेत्यादि। क्षितिभुजो राजान । भुवि। लोकाधिपा. लोकस्वामिनः, लोकाधिका वा पाठः। येन धर्मलक्षणेन विद्धि[धि]ना। स्पृहणीयवीर्याः श्लाघ्यसामर्थ्याः। तेषा क्षितिभुजाम्। बुधाश्च विबुधा अपि। किंकरता भृत्यताम् ॥ ९५ ॥ पादोपनतोत्तमाङ्गस्य कृष्णराजस्य

विचारात्मक बोध ही नहीं प्राप्त होता है। पचेन्द्रियोंमें भी सभी जीवोंके मन नहीं होता– कुछके ही होता है। जिनके वह होता है उनको भी प्राय आत्महितका विवेक नहीं रहता। फिर जो आत्महितका विवेक होनेपर भी तदनुरूप आचरण करनेमें असावधान रहते हैं उनके ऊपर बुद्धिमानोंको खेद होना है। कारण यह कि वे उपयुक्त सामग्रीको प्राप्त करके भी हितके मार्गमें प्रवृत्त नहीं होते और इस प्रकारसे उक्त सामग्रीके विनष्ट हो जानेपर फिर उसका पुन प्राप्त होना कठिन ही है ॥ ९४ ॥ जिस विधि (पुण्य) से पृथिवीके ऊपर लोकके अधिपति राजा हुए हैं उस विधिके सर्व जनोंमें प्रसिद्ध होनेपर भी यही खेदकी बात है कि जो विशिष्ट पराक्रमी और विद्वान् हैं वे भी उक्त राजा लोगोंकी दासताको प्राप्त होते हैं– सेवा करते है ॥ विशेषार्थ— यह सब ही जानते हैं कि राजा, महाराजा, चक्रवर्ती एव तीर्थंकर आदि जितने भी महापुरुष होते हैं वे सब पूर्वोपार्जित पुण्यके प्रभावसे ही होते हैं। फिर खेदकी बात तो यही है कि अनेक पराक्रमी एव विद्वान् भी ऐसे हैं जो कि उक्त पुण्यके ऊपर विश्वास न करके लक्ष्मीकी इच्छासे उन राजा आदिकी ही सेवा करते हैं। वे यदि पुण्यके ऊपर विश्वास रखकर उसका उपार्जन करते तो उन्हें राजा आदिकी सेवा न करनेपर भी वह लक्ष्मी स्वयमेव प्राप्त हो जाती। इसके विपरीत पुण्योपार्जनके विना कितनी भी वे राजा आदिकी सेवा क्यों न करें, किन्तु उन्हे वह यथेष्ट लक्ष्मी कभी भी प्राप्त नहीं हो सकती है ॥ ९५ ॥ जो पर्वत बड़े बड़े वासोंको धारण करते हैं, जिनका अन्त

यस्मिन्नस्ति स भूभृतो धृतमहावंशाः प्रदेशः परः।
प्रज्ञापारमिता धृतोन्नतिधनाः मूर्ध्ना ध्रियन्ते श्रियै।

धृतनिधानस्थानप्रतिपादनव्याजेन धर्मलक्षणविधेः स्वरूपं मार्गं च दर्शयन्नाह— यस्मिन्नित्यादि। सः प्रदेशः परः उत्कृष्टः अस्ति। यस्मिन् प्रदेशे। ध्रियन्ते तिष्ठन्ति। के ते। भूभृतः पर्वताः। कथंभूताः। धृतमहावंशाः धृताः धारिताः पोषिता वा महान्तो वंशा यैः। पुनरपि कथंभूताः प्रज्ञापारमिताः प्रज्ञयैव पारं पर्यन्तम् इतं परिच्छिन्नं येषाम्। पुनरपि किंविशिष्टाः। धृतोन्नतिधनाः धृतम् उन्नतिरेव धनं यैः ते धृतोन्नतिधनाः। केन। मूर्ध्ना शिरसा। किमर्थम्। श्रियै शोभानिमित्तम्। भूयान् महान्। तस्य प्रदेशस्य मार्गः। कथंभूतः। भुजङ्गदुर्गमतमः भुजङ्गैः सर्पैः अतिशयेन दुर्गमः। तथा निराशः आशाभ्यो दिग्भ्यो निःक्रान्तः। यतः एवं ततः व्यक्तं सकललोकविदितं यथा भवत्येवम्। वक्तुम् अयुक्तं महताम्। हे आर्य तद्विषये व्युत्पन्नमते। सर्वार्थसाक्षात्कृतः सर्वार्थेण सर्वार्थैकनाम्ना द्वितीयमन्त्रिणा साक्षात्कृतो दृष्टः। अन्यत्र द्वितीयपक्षे— प्रदिश्यते परस्मै प्रतिपाद्यते इति प्रदेशो धर्मः। परः उत्तमः।

बुद्धिसे ही जाना सकता है, तथा जो उंचाईरूप धनको धारण करनेवाले हैं; ऐसे वे पर्वत जिस प्रदेश (निधानस्थान) में शोभाके निमित्त स्थित हैं वह उत्कृष्ट प्रदेश है। उसका लंबा मार्ग सर्पोंसे अत्यन्त दुर्गम और दिशाओंसे रहित अर्थात् दिग्भ्रमको उत्पन्न करनेवाला है। इसीलिये हे आर्य! उसके विषयमें महापुरूषोंके लिए स्पष्ट बतलाना अयोग्य है। वह सर्वार्थ नामके द्वितीय मंत्रीके द्वारा प्रत्यक्षमें देखा गया है। प्रकृत श्लोकका यह एक अर्थ उदाहरण स्वरूप है। दूसरा मुख्य अर्थ उसका इस प्रकार है– प्रदेश शब्दका अर्थ यहां धर्म है, क्योंकि ' प्रदिश्यते परस्मै प्रतिपाद्यते इति प्रदेशः ' अर्थात् दूसरोंके लिये जिसका उपदेश किया जाता है वह प्रदेश (धर्म) है, ऐसी उसकी निरुक्ति है। जिस धर्मके होनेपर इक्ष्वाकु आदि उत्तम वंशको धारण करनेवाले (कुलीन), बुद्धिके पारगामी (अतिशय विद्वान) तथा गुणोंसे उन्नत होकर धनके धारक ऐसे राजा लोग अन्य जनोंके द्वारा लक्ष्मी प्राप्तिके निमित्त शिरसे धारण किये जाते हैं वह धर्म उत्कृष्ट है। उस धर्मका मार्ग (उपाय) दान-संयमादिके भेदसे अनेक प्रकारका है जो आशा (विषयवांछा) से रहित होता हुआ

भूयांस्तस्य भुजङ्गदुर्गमतमो मार्गो निराशस्ततो
व्यक्तं वक्तुमयुक्तमार्यमहतां सर्वार्यसाक्षात्कृतः ॥ ९६ ॥

सः अस्ति यस्मिन् सति । भूभृतो राजानो मूर्ध्ना मस्तकेन भ्रियन्ते लोकैः । किमर्थम् । श्रियै लक्ष्मीनिमित्तम् । कथंभूता भूभृतः । धृतमहावंशाः धृतेक्ष्वाकादिवंशाः । तथा प्रज्ञायाः पारमिताः प्रज्ञायाः पारं पर्यन्तम् इता गताः । धृतोन्नतिधनाः उन्नतिश्च धनं च ते धृते यैः । तस्य धर्मलक्षणप्रदेशस्य । मार्गः उपायः । भूयान् प्रचुरः, दानव्रतादिभेदात् । निराशः आशायाः आकांक्षायाः[1] निःक्रान्तः । भुजङ्गमदुर्गमतमः भुजङ्गाना कामुकानां दुर्गमतमः अगोचरः । यतः एवं ततो व्यक्तं स्फुटं वक्तुम् अयुक्तम् । आर्यमहताम् आर्याणा मध्ये महताम् अस्माकम् । सर्वार्यसाक्षात्कृतः सर्वैः आर्यैः गणधरदेवादिभिः साक्षात्कृतो अनुभूतः । अथवा सर्वैः भव्यैः अर्यते गम्यते सेव्यते इति सर्वार्थः[र्यः] सर्वज्ञः तेन साक्षीकृतः, न पुनः कस्यचिदप्यसौ, प्रतीत्यगोचरः इत्यर्थः ॥ ९६ ॥ शरीरादिभ्यो वैराग्यमुत्पाद्य जैनस्य धर्मं तन्मार्गं च

भुजंगों–कामी जनों–के लिये दुर्लभ है। इस कारण महापुरुषोंके लिये उसका स्पष्टतया व्याख्यान करना अशक्य है। वह धर्म सर्वार्य अर्थात् सबोंसे पूजने योग्य सर्वज्ञके द्वारा प्रत्यक्षमें देखा गया है ॥ विशेषार्थ— जिस प्रकार कृष्णराजाका कोष (खजाना) अनेक उन्नत विशाल पर्वतोंसे घिरे हुए एवं सर्पादि हिंस्र जन्तुओंसे व्याप्त दुर्गम स्थानमें निक्षिप्त था और उसके सम्बन्धमें सर्वार्य नामक राजाके द्वितीय मंत्रीको छोड़कर अन्य कोई कुछ भी नहीं जानता था तथा दूसरोंके लिये चोरी आदिके भयसे उसके सम्बन्धमें कुछ बतलाया भी नहीं जा सकता था। उसी प्रकार यह धर्मका स्वरूप भी साधारण जनोंके लिये दुर्गम है। उसको प्रत्यक्ष रूपसे तो सर्वज्ञ ही जानता है तथा उस सर्वज्ञके द्वारा किये गये व्याख्यानसे अन्य गणधर आदि भी यथायोग्य जानते हैं। साधारण मनुष्य अन्य जनोंके लिये उसका स्पष्टतया व्याख्यान नहीं कर सकते हैं, किन्तु विशिष्ट बुद्धिको धारण करनेवाले ही उसका स्पष्ट प्रतिपादन कर सकते हैं। जिन राजा-महाराजा आदिकी अन्य मनुष्य सेवा किया करते हैं वे इसी धर्मके प्रभावसे होते हैं। अतएव जो ऐहिक एवं पारलौकिक सुखकी अभिलाषा करते हैं उन्हें व्रत, संयम, जप-तप एवं दानादिके भेदसे अनेक प्रकारके उस धर्मका आचरण करना चाहिये ॥ ९६ ॥

१ स आशायां आकाक्षायां।

शरीरेऽस्मिन् सर्वाशुचिनि बहुदुःखेऽपि निवसन्
व्यरंसीन्नो नैव प्रथयति जनः प्रीतिमधिकाम्।
इदं[1] दृष्ट्वाप्यस्माद्विरमयितुमेनं च यतते
यतिर्याताख्यानैः परहितरतिं पश्य महतः ॥ ९७ ॥

प्रदर्शयतो मुनेः न किंचित्फलाभिलाषित्वमस्ति, परोपकारार्थमेव तत्प्रवृत्तेः, 'परोपकाराय सतां हि चेष्टितम्' इति वचनात्। एतदेव दर्शयन्नाह— शरीरेत्यादि। अस्मिन् औदारिके शरीरे। सर्वाशुचिनि सर्वम् अशुचि अपवित्रं यस्मिन्। बहुदुःखे बहूनि शारीर-मानसादीनि दुःखानि यस्मिन्। इत्थंभूतेऽपि काये वसन् जनः। व्यरंसीन्नो वैराग्यं गतवान् नैव। नैवेत्यादि काका व्याख्यानम्– इदं शरीरं दृष्ट्वा जनः प्रीतिम् अधिकां नैव प्रथयति किम्। अपि तु प्रथयत्येव। इमाम् इति पाठे काका व्याख्यानं न कर्तव्यम्। दृष्ट्वा मुनिम्। जनः प्रीतिं प्रमोदम्। अधिकां विशिष्टाम्। प्रथयति करोति। नैव नापि। एनं च जनम्। पुनः यतिः अस्मात् शरीरात्। विरमयितुं निवर्तयितुं यतते प्रयत्नं करोति। कैः कृत्वा। याताख्यानैः ज्ञातसारोपदेशैः ॥ ९७ ॥ कस्मात् न निवर्तते जनः। तं जनं याताख्यानैः मुनिः

जो शरीर सब प्रकारसे अपवित्र और बहुत दुःखोंको उत्पन्न करनेवाला है ऐसे इस शरीरमें रहनेवाला प्राणी उससे विरक्त नहीं होता है, बल्कि वह उक्त शरीरको देख करके भी उससे अधिक प्रीति नहीं करता हो सो बात नहीं, किन्तु अधिक ही प्रीति करता है। उसको हितैषी मुनि श्रेष्ठ उपदेशोंके द्वारा इस अपवित्र शरीरसे विरक्त करनेके लिये प्रयत्न करते हैं। ऐसे महापुरुषोंका दूसरोंके हितविषयक अनुराग देखने योग्य है– प्रशंसनीय है ॥ विशेषार्थ— यह शरीर अतिशय अपवित्र एवं तीव्र दुःखोंका कारण है। फिर भी अज्ञानी प्राणी उससे अनुराग करना नहीं छोड़ता है। इतना ही नहीं, बल्कि वह उत्तरोत्तर उसमें अधिक ही आसक्त होता है। यह देखकर दयालु साधु उसे अनेक प्रकारसे समझा करके उससे विरक्त करनेका निरन्तर प्रयत्न करते हैं। दूसरे प्राणियोंके कल्याणमें निरत रहना, यह महात्माओंका स्वभाव ही हुआ करता है। ऐसे साधु पुरुषोंका समागम दुर्लभ है। संसारमें ऐसे निकृष्ट जन ही अधिक देखे जाते हैं जो दूसरोंके साथ मधुर भाषण करके उन्हें धोखा देनेमें उद्यत रहते हैं ॥९७॥

१ मु (जै.) इमां, (नि.) इमं।

इत्थं तथेति बहुना किमुदीरितेन
भूयस्त्वयैव ननु जन्मनि भुक्तमुक्तम् ।
एतावदेव कथितं तव संकलय्य
सर्वापदां पदमिदं जननं जनानाम् ॥ ९८ ॥
अन्तर्वान्तं वदनविवरे क्षुत्तृषार्तः प्रतीच्छन्
कर्मायत्तः सुचिरमुदरावस्करे वृद्धगृद्धया ।
निष्पन्दात्मा कृमिसहचरो जन्मनि क्लेशभीतो
मन्ये जन्मिन्नपि च मरणात्तन्निमित्ताद्बिभेषि ॥ ९९ ॥

शरीरात् निवर्तयति इत्याह— इत्थं तथेत्यादि । इत्थम् अनेन बहुदुःखत्वप्रकारेण । तथ तेन सर्वाशुचित्वप्रकारेण । उदीरितेन उक्तेन । जन्मनि भुक्तमुक्तं संसारे तद्रूपतया अनुभूतं व्य[त्य]क्तम् । संकलय्य पिण्डितार्थं कृत्वा । जनानाम् । जायते उत्पद्यते प्राणी यस्मिंस्तज्जननं शरीरम् ॥ ९८ ॥ तत्र आददानो गर्भावस्थायां कीदृशः किं कुर्वन्नाददासीदित्याह— अन्तर्वान्तमित्यादि । मात्रा यत् अन्तर्वान्त छर्दितम् । क्व । वदनविवरे । तत् । उदरावस्करे उदरमेव अवस्करो वर्चोगृहं तत्र स्थितः । वृद्धगृद्धया वृद्धाकाङ्क्षया । कर्मायत्तः सुचिरं प्रतीच्छन् । कथंभूतः सन् । क्षुत्तृषार्तः बुभुक्षापिपासाभ्यां पीडितः । निष्पन्दात्मा संकुचितावयवः । कृमिसहचरः उदरगण्डूपदादिकृमिसहभावी । जन्मनि उत्पत्तौ । क्लेशभीतः समुत्पन्नदुःखात् त्रस्तः । मन्ये हे जन्मिन् अहम् एवं मन्ये । मरणादपि च तन्निमित्तात् जन्मनिमित्ताद्बिभेषि त्वम् ॥ ९९ ॥ सम्यग्दर्शनलाभात्पूर्वभवेषु भवतात्मवधाय सर्वमनुष्ठितमित्याह—

हे भव्य जीव ! यह शरीर ऐसा है और वैसा है, इस प्रकार बहुत कहनेसे क्या प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है ? तूने स्वयं ही इस संसारमें उसे अनेक वार भोगा है और छोडा है । संक्षेपमें संग्रहरूपसे तुझे यही उपदेश दिया है कि यह प्राणियोंका शरीर सब दुःखोंका घर है ॥ ९८ ॥ यह प्राणी गर्भावस्थामें कर्मके अधीन होकर चिर काल तक माताके पेट-रूप विष्ठागृह (सडास) में स्थित रहता है और वहां भूख-प्याससे पीडित होकर बढी हुई तृष्णासे माताके द्वारा खाये हुए भोजन (उच्छिष्ट) की मुंह खोलकर प्रतीक्षा किया करता है । वहा वह स्थानके संकुचित होनेसे हाथ-पैर आदि शरीरके अवयवोंको हिला-डुला नहीं सकता है तथा उदरस्थ कीडोंके साथ रहकर जन्मके कष्टसे भयभीत होता है । हे जन्म लेनेवाले प्राणी ! तू जो मरणसे डरता है सो मैं ऐसा समझता हूं कि वह मरण चूंकि अगले जन्मका कारण है, इसीलिये मानो उस मरणसे डरता

अजाकृपाणीयमनुष्ठितं त्वया विकल्पमुग्धेन भवादितः पुरा।
यदत्र किंचित्सुखरूपमाप्यते तदार्य विद्ध्यन्धकवर्तकीयम् ॥ १०० ॥

अजाकृपाणीयमित्याह[दि]। अजा च कृपाणश्च तयोरिव कार्यम् अजाकृपाणीयम्– यथा अजा केनचिद्धन्तुं नीता, शस्त्रेण च विना सा हन्तुं न शक्यते। तत्र प्रस्तावे अजया पादेन भूमिं खनन्त्या आत्मवधाय खड्ग उत्खातः। तद्वत्त्वया विकल्पविमुग्धेन हेयोपादेयसंकल्पशून्येन आत्मवधाय कार्यमनुष्ठितम्। भवादितः पुरा– इतः सम्यग्दर्शनादिलाभयुक्तात् भवात् पूर्वम्। अत्र संसारे। सुखरूपं सुखस्वभावम्। अन्धकवर्तकीयं अन्धकश्च वर्तका च तयोरिव कार्यं अन्धकवर्तकीयम्– यथा अन्धकेन हस्तं प्रक्षिपता दैवाद्वर्तकी प्राप्यते तथा संसारे चेष्टमानेन जीवेन सुखरूपं स्थितं सुखसंपादकं वस्तु ॥ १०० ॥ सुखाभिलाषिणां च काम एतत्करोती-

है, क्योंकि जन्मका कष्ट तुझे अनुभवमें आ ही चुका है ॥ ९९ ॥ हे आर्य! तूने इस (सम्यग्दर्शनयुक्त) भवसे पहिले संसारमें हेय और उपादेयके विचारमें मूढ होकर अजाकृपाणीयके समान कार्य किया है। यहां जो कुछ सुखरूप सामग्री प्राप्त होती है वह अन्धक-वर्तकीय न्यायसे ही प्राप्त होती है ॥ विशेषार्थ— प्राणीको जब तक सम्यग्दर्शनका लाभ नहीं होता है तब तक उसे अनेक दुख सहने पड़ते हैं। कारण यह है कि सम्यग्दर्शनके विना उसे यह त्याज्य है और यह ग्राह्य है, इस प्रकारका विवेक नहीं हो पाता है। इसीलिये वह ऐसे भी अनेकों कार्योंको स्वयं करता है कि जिनसे मारनेके लिये ले जायी गई बकरीके समान वह अपने आप ही विपत्तिमें पड़ता है। जैसे– कोई एक व्यक्ति मारनेके लिये बकरीको ले गया, किन्तु उसके मारनेके लिये उसके पास कृपाण (तलवार या छुरी) नहीं था। इस बीच उस बकरीने पैरसे जमीनको खोदना प्रारम्भ किया और इससे घातकको वहां भूमिमें खड्ग प्राप्त हो गया जिससे कि उसने उसका वध कर डाला। इसीको 'अजा-कृपाणीय' न्याय कहा जाता है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शनके विना यह प्राणी भी अपने लिये ही कष्टकारक उपायोंको करता रहता है। उसे जो अल्प समयके लिये कुछ अभीष्ट सामग्री भी प्राप्त होती है वह ऐसे प्राप्त होती

हा कष्टमिष्टवनिताभिरकाण्ड एव
चण्डो विखण्डयति पण्डितमानिनोऽपि ।
पश्याद्भुतं तदपि धीरतया सहन्ते
दग्धुं तपोऽग्निभिरमुं न समुत्सहन्ते ॥ १०१ ॥

त्याह— हा कष्टमित्यादि । हा धिक् विषादे वा । कष्टं निन्द्यम् । अकाण्डे अप्रस्तावे । चण्डः कामः विखण्डयति विशेषेण खण्डितव्रतवान्[व्रतान्] करोति । पण्डितमानिनोऽपि पण्डितम् आत्मानं मन्यमानान् अपि । काभिः कृत्वा । इष्टवनिताभिः वल्लभस्त्रीभिः । अमुं कामं न समुत्सहन्ते न समुत्साहं कुर्वन्ति ॥ १०१ ॥ कामं दग्धुं समुत्साहमानाश्च केचित्

है जैसे कि अन्धा मनुष्य कभी हाथोंको फेलाये और उनके बीचमें वटेर पक्षी फंस जाय । ऐसा कदाचित् ही होता है, अथवा प्रायः वह असम्भव ही है । यही अवस्था संसारी प्राणियोंके सुखकी प्राप्तिकी भी है ॥१००॥ बड़े खेदकी बात है कि जो अपनेको पण्डित समझते हैं उनको भी यह अतिशय क्रोधी कामदेव (विषयवाछा) असमयमें ही इष्ट स्त्रियोंके द्वारा खण्डित करता है । फिर भी देखो यह आश्चर्यकी बात है कि वे उसे (कामकृत खण्डनको) भी धीरतापूर्वक सहन करते हैं, किन्तु तपरूप अग्निके द्वारा उस कामको जलानेके लिये उत्साहको नहीं करते हैं ॥ विशेषार्थ— अभिप्राय यह है कि कामी जन विषयान्ध होकर इच्छापूर्तिके लिये स्त्री आदिकी खोज करते हैं और उन्हें प्राप्त करके वे उनमें इतने आसक्त हो जाते हैं कि फिर उनको अपने हिताहितका विवेक ही नहीं रहता । इस प्रकारसे वे दोनों ही लोकोंको नष्ट करते हैं । यहां इस बातपर खेद प्रगट किया गया है कि विद्वान् मनुष्य भी उस विषयतृष्णाके वशीभूत होकर उसकी पूर्तिके लिये तो असह्य दुखको सहते हैं, किन्तु तप-संयमादिके द्वारा उस विषयतृष्णाको ही नष्ट करनेका अल्प दुख नहीं सहते जो कि वस्तुतः परिणाममें सुखकारक ही है । लोकमें देखा जाता है कि यदि कोई मनुष्य किसी दूसरे मनुष्यका शिरच्छेद करनेके लिये शस्त्रका प्रयोग करता है तो इसके प्रतिकारस्वरूप दूसरा भी उसका

अर्थिभ्यस्तृणवद्विचिन्त्य विषयान् कश्चिच्छ्रियं दत्तवान्
पापां तामवितर्पिणीं विगणयन्नादात् परस्त्यक्तवान् ।
प्रागेवाकुशलां विमृश्य सुभगोऽप्यन्यो न पर्यग्रहीत्
एते ते विदितोत्तरोत्तरवराः सर्वोत्तमास्त्यागिनः ॥ १०२ ॥

किंचित्कृतवन्त इत्याह— अर्थिभ्य इत्यादि । पापां पापबहुलाम् । तां श्रियम् । अवितर्पिणीम् अतृप्तिकरीम् । विगणयन् मन्यमानः । अपरा[परो] विवेकी । नादात् न दत्तवान् अर्थिभ्यः । एवमेव त्यक्तवान् । प्रागेव प्रथमत एव । न पयग्रहीत् न परिगृहीतवान् । सुभगः सुविवेकी । एते प्रदर्शितस्वरूपास्ते कामदहनोद्यताः । विदितेत्यादि– विदितः उत्तरोत्तरो वरो येषां ते । सर्वोत्तमाः सर्वेभ्यः त्यागिभ्यः उत्कृष्टास्त्यागिनः ॥ १०२ ॥ न च विशिष्टाः संपदः प्राप्य

शिरच्छेद करनेके लिये उद्यत होता है । परन्तु कामीजनकी दशा इससे विपरीत है, क्योंकि काम तो उनका खण्डन करता है– उनके सुखको नष्ट करता है, परन्तु उसका खण्डन करनेके लिये वे स्वयं उद्यत नहीं होते । इतना ही नहीं, किन्तु उस घातकको भी वे अपना मित्र मानकर अनुराग ही करते हैं ।। १०१ ।। कोई विद्वान् मनुष्य विषयोंको तृणके समान तुच्छ समझकर लक्ष्मी (धन-सम्पत्ति) को याचकोंके लिये दे देता है ; दूसरा कोई विवेकी जीव उक्त लक्ष्मीको पापका कारण और असन्तोषजनक जानकर किसी दूसरेके लिये नहीं देता है, किन्तु उसे यों ही छोड़ देता है । तीसरा कोई महाविवेकी जीव उसको पहिले ही अहितकारक मानकर ग्रहण नहीं करता है । इस प्रकार वे ये त्यागी उत्तरोत्तर त्यागकी उत्कृष्टताके जाननेवाले हैं– उत्तरोत्तर उत्कृष्टताको प्राप्त हैं ।। विशेषार्थ— विषयतृष्णाका कारण धन-सम्पत्ति है । कारण यह कि उसके होनेपर वह विषयभोगाकांक्षा और भी अधिक बढ़ती है । इसीलिये विवेकी जन विषयतृष्णाकी मूलभूत उस सम्पत्तिका ही परित्याग करते हैं । प्रकृत श्लोकमें उसका परित्याग करनेवाले तीन प्रकारके बतलाये गये हैं– (१) पहिले प्रकारके त्यागी वे हैं कि जिन्होंने उस लक्ष्मीको तुच्छ समझते हुए दूसरों (पुत्रादि) को दे करके छोड़ा

विरज्य संपदः सन्तस्त्यजन्ति किमिहाद्भुतम् ।
मा वमीत् किं जुगुप्सावान् सुभुक्तमपि भोजनम् ॥ १०३ ॥

परित्यजतां सतां किंचिदाश्चर्यमस्तीति दर्शयन्नाह— विरज्येत्यादि । विरज्य वैराग्यं गत्वा । मा वमीत् मा छर्दि करोत् । जुगुप्सावान् विचिकित्सावान् ॥ १०३ ॥ श्रियं त्यजन् कश्चित् किं

है । इन्होंने यद्यपि आत्महितका तो ध्यान रक्खा है, किन्तु जिनके लिये वह दी गई है उनके हितका उन्होंने अनुरागवश ध्यान नहीं रक्खा। (२) दूसरे प्रकारके त्यागी वे हैं कि जिन्होंने उसे पापजनक और तृष्णाको बढ़ानेवाली जानकर स्वयं छोड़ दिया है तथा दूसरोंको भी नहीं दिया है । ऐसे त्यागी अपने समान दूसरोंके भी हितका ध्यान रखनेके कारण पूर्वोक्त त्यागियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ होते हैं । (३) तीसरे प्रकारके त्यागी वे हैं कि जिन्होंने अकल्याणकारी समझकर उसे प्रारम्भमें ही नहीं ग्रहण किया । ऐसे त्यागी सर्वोत्कृष्ट त्यागी माने जाते हैं । इसका कारण यह है कि पूर्वोक्त दोनों प्रकारके त्यागियोंने तो भोगनेके पश्चात् उसे छोड़ा है, किन्तु इन्हें उसके स्वरूपको जानकर ही इतनी विरक्ति हुई कि जिससे उन्होंने उसे स्वीकार ही नहीं किया ॥ १०२ ॥ यदि सज्जन पुरुष विरक्त हो करके उन सम्पत्तियोंको छोड़ देते हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? कुछ भी नहीं । ठीक ही है– जिस पुरुषको घृणा उत्पन्न हुई है वह क्या भले प्रकार खाये गये भोजनका भी वमन (उलटी) नहीं करता है ? अर्थात् करता ही है ॥ विशेषार्थ— किसी व्यक्तिने भोजन तो बड़े आनन्दके साथ किया है, किन्तु यदि पीछे उसे उसमें विषादिकी आशंकासे घृणा उत्पन्न हो गई है तो इससे या तो उसे स्वयं वमन हो जाता है, अन्यथा वह प्रयत्नपूर्वक वमन करके उस भुक्त भोजनको निकाल देता है । इसमें वह कष्टका अनुभव न करके विशेष आनन्द ही मानता है । ठीक इसी प्रकारसे जिन विवेकी जनोंको परिणाममें अहितकारक जानकर उस सम्पत्तिसे घृणा उत्पन्न हो गई है उन्हें

श्रियं त्यजन् जडः शोकं विस्मयं सात्त्विकः स ताम् ।
करोति तत्त्वविच्चित्रं न शोकं न च विस्मयम् ॥ १०४ ॥

करोतीत्याह— श्रियमित्यादि । जडः शोकम्— महता कष्टेन मयोपार्जितेयम् एवमेवं कथं त्यक्तेति श्रियं त्यजन् जडः शोकं करोति । स ताम्— स जडः प्रसिद्धो वा । सात्त्विकः अक्लीबः । तां श्रियं त्यजन् । विस्मयं विशिष्टः स्मयो गर्वः विस्मयः तं करोति— अहमेवेत्थंभूता लक्ष्मीं त्यक्तुं समर्थो नान्यः इति । तत्त्ववित् हेयोपादेयवस्तुस्वरूपपरिज्ञानी ॥ १०४ ॥ यथा च

उसका परित्याग करनेमें किसी प्रकारका क्लेश नहीं होता, प्रत्युत उन्हें इससे अपूर्व आनन्दका ही अनुभव होता है। उसके परित्यागमें कष्ट उन्हींको होता है जो उसे हितकारी मानकर उसमें अतिशय अनुरक्त रहते हैं ॥ १०३ ॥ मूर्ख पुरुष लक्ष्मीको छोड़ता हुआ शोक करता है, तथा पुरुषार्थी मनुष्य उस लक्ष्मीको छोड़ता हुआ विशेष अभिमान करता है, परन्तु तत्त्वका जानकार उसके परित्यागमें न तो शोक करता है और न विशिष्ट अभिमान ही करता है ॥ विशेषार्थ— जो मूर्ख जन पुरुषार्थसे रहित होते हैं उनकी सम्पत्ति यदि दुर्भाग्यसे नष्ट हो जाती है तो वे इससे बहुत दुखी होते हैं। वे पश्चाताप करते हैं कि बड़े परिश्रमसे यह धन कमाया था, वह कैसे नष्ट हो गया, हाय अब उसके विना कैसे जीवन बीतेगा आदि। इसके विपरीत जो पुरुषार्थी मनुष्य होते हैं वे जैसे धनको कमाते हैं वैसे ही उसका दानादिमें सदुपयोग भी करते हैं। इस प्रकारके त्यागमें उन्हें एक प्रकारका स्वाभिमान ही होता है। वे विचार किया करते हैं कि जब मैंने इसे कमाया है तो उसे सत्कार्यमें खर्च भी करना ही चाहिये। इससे वह कुछ कम होनेवाला नहीं है। मैं अपने पुरुषार्थसे फिर भी उसे कमा सकता हूं आदि। यदि कदाचित् वह स्वयं ही नष्ट हो जाता है तो भी अपने पुरुषार्थके बलपर उन्हें इसमें किसी प्रकारका खेद नहीं होता है। परन्तु इन दोनोंके विपरीत जो तत्त्वज्ञानी हैं वे विचार करते हैं कि ये सब धन-सम्पत्ति आदि पर पदार्थ

विमृश्योच्चैर्गर्भात् प्रभृति मृतिपर्यन्तमखिलं
मुधाप्येतत्क्लेशाशुचिभयनिकाराद्यबहुलम्[1]।
बुधैस्त्याज्यं त्यागाद्यदि भवति मुक्तिश्च जडधीः
स कस्त्यक्तुं नालं खलजनसमायोगसदृशम् ॥ १०५ ॥
कुबोधरागादिविचेष्टितैः फलं
त्वयापि भूयो जननादिलक्षणम् ।

श्रीस्त्यज्यते विवेकिभिस्तथा शरीरमपीति दर्शयन्नाह— विमृश्येत्यादि । विमृश्य उच्चैः पर्यालोच्य महाप्रयत्नेन । गर्भात्प्रभृतिमृतिपर्यन्तम् अखिलम् एतत् आचरणं शरीरादिस्वरूपं वा । कथंभूतमित्याह मुधेत्यादि । मुधा एवमेव क्लेशाशुचिभयनिकाराद्यबहुलम् अपि । निकारो वञ्चना पराभवो वा । स कः । स जडधीः । नालं न समर्थः । खलेत्यादि । खलजनाना समायोगो मेलापकः तेन सदृशम् अनेकानर्थकारित्वेन ॥ १०५ ॥ यथा च श्रीः शरीरं च त्याज्यं तथा रागादयोऽपीत्याह— कुबोधेत्यादि । कुत्सितबोधरागादिभिः जनितैः विविधचेष्टितैः । त्वयापि त्वया प्राप्तम् । प्रतीहि पूर्वमुत्तरम् उभयमपि जानीहि । प्रतिलोमवृत्तिभिः कुबोधा-

है, ये न मेरे हैं और न मैं इनका स्वामी हूं। कर्मके उदयसे उनका संयोग और वियोग हुआ ही करता है। ऐसा विचार करते हुए उन्हें सम्पत्तिके परित्यागमें न तो शोक होता है और न अभिमान भी ॥ १०४ ॥ गर्भसे लेकर मरण पर्यन्त यह जो समस्त शरीरसम्बन्धित आचरण है वह व्यर्थमें प्रचुर क्लेश, अपवित्रता, भय और तिरस्कार आदिसे परिपूर्ण है; ऐसा जानकर विद्वानोंको उसका परित्याग करना चाहिये। उसके त्यागसे यदि मोक्ष प्राप्त होता है तो फिर वह कौन-सा मूर्ख है जो दुष्ट जनकी संगतिके समान उसे छोड़नेके लिये समर्थ न हो? अर्थात् विवेकी प्राणी उसे छोड़ते ही हैं ॥ १०५ ॥ हे भव्य! तूने वार वार मिथ्याज्ञान एवं राग-द्वेषादि जनित प्रवृत्तियोंसे जो जन्म-मरणादिरूप फल प्राप्त किया है उसके विरुद्ध प्रवृत्तियों– सम्यग्ज्ञान एवं वैराग्य जनित आचरणों– के द्वारा तू

१ मु (जै., नि.) निकाराद्य° ।

प्रतीहि भव्य प्रतिलोमवृत्तिभिः
ध्रुवं फलं प्राप्स्यसि तद्विलक्षणम् ॥ १०६ ॥
दयादमत्यागसमाधिसंततेः पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान् ।
नयत्यवश्यं वचसामगोचरं विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ ॥ १०७ ॥

दिभ्यः प्रतिकूलप्रवर्तिभिः सम्यग्ज्ञानवैराग्यादिभिः । ध्रुवं निश्चयेन नित्यं वा । तद्विलक्षणं जननादिविलक्षणम् ॥ १०६ ॥ इत्थंभूतं च फलमभिलषंस्तस्मिन् मार्गे गच्छेत्याह— दयेत्यादि । दयादमत्यागसमाधीनां संततिः प्रवाहः तस्याः । संबन्धिनि पथि मार्गे । प्रयाहि गच्छ । प्रगुणं मायादिवर्जितं यथा भवति । विकल्पदूरं विकल्पाविषयम् । वचसाम् अगोचरम् । यत् परमम् उत्कृष्टम् । किमपि मोक्षपदम् । असौ पन्थाः ॥ १०७ ॥ विवेक-

निश्चयसे उसके विपरीत फल— अजर-अमर पद— को प्राप्त करेगा, ऐसा निश्चय कर ।। १०६ ।। हे भव्य ! तू प्रयत्न करके सरल भावसे दया, इन्द्रिय-दमन, दान और ध्यानकी परम्पराके मार्गमें प्रवृत्त हो जा । वह मार्ग निश्चयसे किसी ऐसे उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त कराता है जो वचनसे अनिर्वचनीय एवं समस्त विकल्पोंसे रहित है ।। विशेषार्थ— दीन-दुखी प्राणियोंको देखकर उनके साथ जो हृदयमें सहानुभूतिका भाव उदित होता है वह दया कहलाती है । यह धर्मकी जड़ है, क्योंकि उसके बिना धर्म स्थिर रह नहीं सकता । कहा भी है— धर्मो नाम कृपामूलं सा तु जीवानुकम्पनम् । अशरण्यशरण्यत्वमतो धार्मिकलक्षणम् ॥ अर्थात् धर्मकी आधारभूत दया है और उसका लक्षण है प्राणियोंके साथ सहानुभूति । इसीलिये जो अरक्षित प्राणियोंकी रक्षा करता है वही धार्मिक माना जाता है ।। क्ष. चू. ५–३५. दूसरे शब्दसे इस दयाको अहिंसा कहा जा सकता है और उस अहिंसामें चूंकि सत्यादिका भी अन्तर्भाव होता है अतएव वह दया पंचव्रतात्मक ठहरती है । दमका अर्थ है राग-द्वेषके दमनपूर्वक इन्द्रियोंका दमन करना— उन्हें अपने नियन्त्रणमें रखना अथवा स्वेच्छाचारमें प्रवृत्त न होने देना । इसे दूसरे शब्दसे संयम भी कहा जा सकता है जो इन्द्रिय-संयम और प्राणिसंयमके भेदसे दो प्रकारका है । त्यागसे अभिप्राय बाह्य

विज्ञाननिहतमोहं कुटीप्रवेशो विशुद्धकायमिव।
त्यागः परिग्रहाणामवश्यमजरामरं कुरुते ॥ १०८ ॥
अभुक्त्वापि परित्यागात् स्वोच्छिष्टं विश्वमासितम्।
येन चित्रं नमस्तस्मै कौमारब्रह्मचारिणे ॥ १०९ ॥

पूर्वकपरिग्रहत्यागरूपः पंथाः जीवस्य मोक्षपदप्रापकः इति समर्थयमानः प्राह— विज्ञानेत्यादि। [विज्ञानं] विशिष्टं ज्ञानं तेन निहि[ह]तः स्फेटितो मोहः यत्र कर्मणि। कुटोप्रवेशः परपुरप्रवेशो रसायनक्रिया वा। अजरामरं जरा च मरणं च जरामरणे ताभ्यां रहितं मुक्तात्मानम् ॥१०८॥ विवेकपूर्वकं परित्यागं कुर्वतां मध्ये सर्वोत्तमं परित्यागं कुर्वन्तं प्रशंसयन्नाह— अभुक्त्वेत्यादि। स्वोच्छिष्टं स्वस्य उच्छिष्टं स्वयं परित्यक्तं पृथिव्यादि। विश्वं जगत्। आशितं भोजितम्। कौमारब्रह्मचारिणे बालब्रह्मचारिणे। कुमारीभिः प्रथमं परिवृतः, न च परिणयनं कृतं कौमारः। कुमारात्प्राथम्ये अण् ॥ १०९ ॥ इत्थंभूतपरित्यागकारिणः

और अभ्यन्तर परिग्रहके त्याग एवं दानका है। समाधिसे तात्पर्य धर्म और शुक्लरूप समीचन ध्यानसे है। इस प्रकार जो विवेकी जीव मन, वचन और कायकी सरलतापूर्वक उपर्युक्त दया आदि चारोंकी परम्पराका अनुसरण करता है वह निश्चयसे अविनश्वर पदको प्राप्त करता है ॥ १०७ ॥ विवेकज्ञानके द्वारा मोहके नष्ट हो जानेपर किया गया परिग्रहोंका त्याग निश्चयसे जीवको जरा और मरणसे रहित इस प्रकार कर देता है जिस प्रकार कि कुटीप्रवेश क्रिया शरीरको विशुद्ध कर देती है ॥ १०८ ॥ आश्चर्य है कि जिसने स्वयं न भोगते हुए त्याग करके अपने उच्छिष्टरूप विश्वका उपभोग कराया है उस बाल ब्रम्हचारीके लिये नमस्कार हो ॥ विशेषार्थ— जिसने राज्यलक्ष्मी आदिके भोगनेका अवसर प्राप्त होनेपर भी उसे नहीं भोगा और तुच्छ समझकर यों ही छोड़ दिया है वह सर्वोत्कृष्ट त्यागी माना गया है। जैसे किसीको पहिले कुमारियोंने वरण कर लिया है, परन्तु पश्चात् उसने उनके साथ विवाह न करके ब्रह्मचर्यको ही स्वीकार किया हो वह बालब्रह्मचारी उत्कृष्ट ब्रह्मचारी गिना गया है। यहां ऐसे ही सर्वोत्कृष्ट त्यागीको नमस्कार किया गया है कि जिसने

अकिंचनोऽहमित्यास्स्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥ ११० ॥

परमोदासीनतालक्षणं चारित्रं प्रतिपादयन्नाह— अकिंचनेत्यादि । मम न किंचन अस्ति इति अकिंचनोऽहमित्येवं आस्स्व तिष्ठ । रहस्यम् अन्तस्तत्त्वं यत्र कुत्रचित् अप्रकाश्यं गूढकारणम् ॥ ११० ॥ अथेदानीं तपआराधनास्वरूपोपक्रमाय दुर्लभेत्याद्याह— दुर्लभेत्यादि ।

लक्ष्मीके उपभोगका अवसर प्राप्त होनेपर भी उसे नहीं भोगा, किन्तु जो बालब्रह्मचारीके समान उससे अलिप्त रहा है। यहां इस बातपर आश्चर्य भी प्रगट किया गया है कि लोकमें कोई भी उच्छिष्ट (उलटी या वांति) का उपभोग नहीं करता, परन्तु ऐसे महापुरुषोंने अपने उच्छिष्टका-बिना भोगे ही छोड़ी गई राज्यलक्ष्मी आदिका– भी दूसरोंको उपभोग कराया। तात्पर्य यह कि जो महापुरुष राज्यलक्ष्मी आदिका अनुभव न करके पहिले ही उसे छोड़ देते हैं वे अतिशय प्रसंशनीय हैं। तथा इसके विपरीत जो अविवेकी जन उनके द्वारा तृणवत् छोड़ी गई उक्त राज्यलक्ष्मीको भोगनेके लिये उत्सुक रहते हैं वे अतिशय निन्दनीय है ॥ १०९ ॥ हे भव्य! तू 'मेरा कुछ भी नहीं है' ऐसी भावनाके साथ स्थित हो। ऐसा होनेपर तू तीन लोकका स्वामी (मुक्त) हो जायगा। यह तुझे परमात्माका रहस्य (स्वरूप) बतला दिया है जो केवल योगियोंके द्वारा प्राप्त करनेके योग्य या उनके ही अनुभवका विषय है ॥ विशेषार्थ— अभिप्राय यह है कि पर पदार्थोंको अपना समझकर जब तक जीवका उनमें ममत्वभाव रहता है तब तक वह राग-द्वेषसे परिणत होकर कर्मोंको बांधता हुआ संसारमें परिभ्रमण करता है। और जैसे ही उसका पर पदार्थोंसे वह ममत्वभाव हटता है वैसे ही वह निर्मम होकर आत्मस्वरूपका चिन्तन करता हुआ स्वयं भी परमात्मा बन जाता है ॥ ११० ॥ यह मनुष्य पर्याय दुर्लभ, अशुद्ध और सुखसे रहित (दुखमय) है। मनुष्य अवस्थामें मरणका समय नहीं जाना जा सकता है। तथा मनुष्यकी पूर्वकोटि

दुर्लभमशुद्धमपसुखमविदितमृतिसमयमल्पपरमायुः।
मानुष्यमिहैव तपो मुक्तिस्तपसैव तत्तपः कार्यम्॥ १११॥

अशुद्धम् अशुचि। अपसुखम् अपगतसुखम्। अल्पं पूर्वकोट्यादिपरिमाणम्। इह एव मानुष्ये एव॥ १११॥ तत्र तपसो द्वादशप्रकारस्य मध्ये मुक्तिप्रत्यासन्नसाधनस्य समाधि-

प्रमाण उत्कृष्ट आयु भी देवायु आदिकी अपेक्षा स्तोक है। परन्तु तप इस मनुष्य पर्यायमें ही किया जा सकता है और मुक्ति उस तपसे ही प्राप्त की जाती है। इसलिये तपका आचरण करना चाहिये॥ विशेषार्थ— मुक्तिकी प्राप्ति तपके द्वारा होती है और वह तप एक मात्र मनुष्य पर्यायमें ही सम्भव है– अन्य किसी देवादि पर्यायमें वह सम्भव नहीं है। अतएव उस मनुष्य पर्यायको पा करके तपका आचरण अवश्य करना चाहिये। कारण यह है कि वह मनुष्य पर्याय अतिशय दुर्लभ है। जीवोंका अधिकांश समय नरक निगोद आदिमें ही बीतता है। वह मनुष्य पर्याय यद्यपि स्वभावत: अशुद्ध ही है, फिर भी चूंकि रत्नत्रयको प्राप्त करके तपका आचरण एक उस मनुष्य पर्यायमें ही किया जा सकता है, अतएव वह सर्वथा निन्दनीय भी नहीं है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी निर्विचिकित्सित अंगका स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं कि– "स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते। निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता॥ अर्थात् यह मनुष्यशरीर यद्यपि स्वभावसे अपवित्र है, फिर भी वह रत्नत्रयकी प्राप्तिका कारण होनेसे पवित्र भी है। अतएव रत्नत्रयका साधन होनेसे उसके विषयमें घृणा न करके गुणोंके कारण प्रेम ही करना चाहिये। इसीका नाम निर्विचिकित्सित अंग है॥ र. श्रा. १३. इसके अतिरिक्त वह मनुष्यशरीर कुछ देवशरीरके समान सुखका भी साधन नहीं है कि जिससे सुखको छोड़कर उसे तपके खेदमें न लगाया जा सके। वह तो आधि और व्याधिका स्थान होनेसे सदा दुखरूप ही है। यहांपर यह शंका हो सकती थी कि उससे जो कुछ भी विषयसुख प्राप्त हो सकता है उसको भोगनेके बाद वृद्धावस्थामें

आराध्यो भगवान् जगत्त्रयगुरुर्वृत्तिः सतां संमता
क्लेशस्तच्चरणस्मृतिः क्षतिरपि प्रप्रक्षयः कर्मणाम् ।

रूपस्य तपसो विषयफलादिकं प्रदर्शयन्नाह— आराध्य इत्यादि । आराध्यः समाधिविषयः । भगवान् परमज्ञानसंपन्नः इन्द्रादीनां पूज्यो वा परमात्मा । वृत्तिः भगवदाराधने प्रवृत्तिः अभिमुखता । सतां सत्पुरुषाणां संमता अभिप्रेता उत्तमपुरुषविषयत्वात् । प्रप्रक्षयः प्रक्षयः

उसे तपश्चरणमें लगाना ठीक है, न कि उसके पूर्वमें । इस शंकाके परिहार-स्वरूप ही यहां यह बतलाया है कि मृत्यु कब प्राप्त होगी, यह किसीको विदित नहीं हो सकता है । कारण कि देव-नारकियोंके समान मनुष्योंमें उसका समय नियत नहीं है— वह वृद्धावस्थामें भी आ सकती है और उसके पूर्व बाल्यावस्था या युवावस्थामें भी आ सकती है । इसके अतिरिक्त जहां देवों और नारकियोंकी आयु अकालमृत्युसे रहित होकर तेतीस सागरोपम तक होती है वहां मनुष्योंकी आयु अधिकसे अधिक एक पूर्वकोटि प्रमाण ही हो सकती है । अतएव अच्छा यही है कि सौभाग्य-से यदि वह मनुष्य पर्याय प्राप्त हो गई है तो जल्दीसे जल्दी उससे प्राप्त करने योग्य रत्नत्रयको प्राप्त कर लें, अन्यथा उसके व्यर्थ नष्ट हो जाने-पर फिरसे उसे प्राप्त करना अशक्य होगा ।। १११ ।। ध्यानमें तीनों लोकोंका स्वामी परमात्मा आराधन करनेके योग्य है । इस प्रकारकी प्रवृत्ति सज्जनोंको अभीष्ट है । उसमें यदि कुछ कष्ट है तो केवल भगवान्के चरणों-का स्मरण ही है । उससे जो हानि भी होती है वह अनिष्ट कर्मोंकी ही हानि (नाश) होती है । उससे सिद्ध करनेके योग्य मोक्षसुख है । उसमें काल भी कितना लगता है ? अर्थात् कुछ विशेष काल नहीं लगता– अन्तर्मुहूर्त मात्र ही लगता है । उसका साधन (कारण) मन है । अतएव हे विद्वानो ! चित्तमें उस परमात्माका भले प्रकार विचार कीजिये, क्योंकि, उसके ध्यानमें कष्ट ही क्या है ? कुछ भी नहीं है ।। विशेषार्थ— यहां यह बतलाया गया है कि जो भव्य जीव मोक्षसुखके

साध्यं सिद्धिसुखं कियान् परिमितः कालो मनः साधनं
सम्यक् चेतसि चिन्तयन्तु विधुरं किं वा समाधौ बुधाः ॥ ११२॥

पादपूरणे प्रसिद्धत्वम्, 'प्रोपात्समां पादपूरण' इति वचनात्। साध्यं फलम्। दिव्यवर्षसहस्र-कोटिपरिमितकालसाध्यत्वात् समाधेः दुःशक्यतेत्याशङ्क्याह कियान् परिमितः कालः। समाधेरन्तर्मुहूर्तादिः। कियान् कतिपयः परिमितः स्तोक एव कालः। कस्तत्रोपाय इत्याह— मनः साधनम्। विधुरं कष्टं विफलं वा। किं वा न किमपि ॥ ११२ ॥ निःश्रेयसार्थिनां

अभिलाषी हैं उन्हें सर्वज्ञ वीतराग परमात्माका ध्यान करना चाहिये। उसका ध्यान करनेसे ध्याता स्वयं भी परमात्मा बन जाता है। जसे कि आचार्य कुमुदचन्द्रने भी कहा है– "ध्यानाज्जिनेश भवतो भविनः क्षणेन देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति। तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः ॥" अर्थात् हे जिनेन्द्र ! आपके ध्यानसे भव्य जीव क्षणभरमें ही इस शरीरको छोड़कर परमात्मा अवस्थाको इस प्रकारसे प्राप्त हो जाते हैं जिस प्रकार कि धातुभेद (सुवर्णपाषाण) तीव्र अग्निके संयोगसे पत्थरके स्वरूपको छोड़कर शीघ्र ही सुवर्णरूपताको प्राप्त हो जाते हैं ॥ कल्याण. १५. यहां उस ध्यानकी उपादेयताको बतलाते हुए यह भी निर्देश कर दिया है कि उस ध्यानके करनेमें न तो कुछ क्लेश है और न किसी प्रकारकी हानि भी है। उसमें यदि कुछ क्लेश है तो वह केवल जिनचरणोंके स्मरणरूप ही है जो नगण्य है, तथा उससे जो हानि होनेवाली है वह है कर्मोंकी हानि, सो वह सबको अभीष्ट ही है। वह निरर्थक या अनिष्ट फलदायक भी नहीं है, बल्कि इष्ट फलप्रद (मोक्षसुखदायक) ही है। उसमें बहुत अधिक समय भी नहीं लगता है– उसका समय अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्तपरिमित है। इसके अतिरिक्त उसके लिये विशेष साधनसामग्रीकी भी आवश्यकता नहीं होती, वह केवल अपने मनकी एकाग्रतासे ही होता है। इस प्रकार जब वह ध्यान सब प्रकारके क्लेश एवं हानिसे रहित है, परिमित समयमें ही अभीष्ट

द्रविणपवनप्राध्मातानां सुखं किमिहेक्ष्यते
किमपि किमयं कामव्याधः खलीकुरुते खलः।
चरणमपि किं स्प्रष्टुं शक्ताः पराभवपांसवः
वदत तपसोऽप्यन्यन्मान्यं समीहितसाधनम्॥ ११३॥

तपसो नान्यद्वाञ्छितफलप्रदमित्याह— द्रविणेत्यादि। प्राध्मातानां मोटितानाम्। इह अस्मिंस्तपसि सति लोके वा। खलीकुरुते अखलम् अदुष्टाचरणं खलं दुष्टाचरणं कुरुते खलीकुरुते। पराभवपांसवः पराभवो मानखण्डना स एव पांसवो धूलयः। मान्यं पूज्यम्॥ ११३॥ एवं-

मोक्षसुखको देनेवाला है, तथा अपने मनके अतिरिक्त अन्य किसी भी कारणकी अपेक्षा भी नहीं रखता है तब विवेकी जनोंका यह कर्तव्य है कि वे उस कष्टरहित जिनचरणोंका ध्यान अवश्य करें॥ ११२॥ धनरूप वायु (तृष्णा) से मर्दित (संतप्त) प्राणियोंको भला कौन-सा सुख हो सकता है? कुछ भी नहीं। अर्थात् जो सुख तपश्चरणसे प्राप्त होता है वह सुख धनाभिलाषी प्राणियोंको कभी नहीं प्राप्त हो सकता है। उस तपके होते हुए क्या यह कामरूप दुष्ट व्याध (भील) किसी प्रकारका दुष्ट आचरण कर सकता है? अर्थात् नहीं कर सकता है। इसके अतिरिक्त उक्त तपके होनेपर क्या तिरस्काररूप धूलि तपस्वीके चरणको भी छूनेके लिये समर्थ हो सकती है? नहीं हो सकती। हे भव्य प्राणियो! यदि तपसे दूसरा कोई अभीष्ट सुखका साधक हो तो उसे बतलाओ। अभिप्राय यह कि यदि प्राणीके मनोरथको कोई सिद्ध कर सकता है तो वह केवल तप ही है, उसको छोड़कर दूसरा कोई भी प्राणीके मनोरथको पूर्ण करनेवाला नहीं है॥ ११३॥ जिस तपके प्रभावसे प्राणी इस लोकमें क्रोधादि-कषायोंरूप स्वाभाविक शत्रुओंपर विजय प्राप्त करता है तथा जिन गुणोंको वह अपने प्राणोंसे भी अधिक चाहता है वे गुण उसे प्राप्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त उक्त तपके प्रभावसे परलोकमें उसे मोक्षरूप पुरुषार्थकी सिद्धि स्वयं ही शीघ्रतासे प्राप्त होती है। इस प्रकारसे जो तप प्राणियोंके

इहैव सहजान् रिपून् विजयते प्रकोपादिकान्
गुणाः परिणमन्ति यानसुभिरप्ययं वाञ्छति।
पुरश्च पुरुषार्थसिद्धिरचिरात्स्वयं यायिनी
नरो न रमते कथं तपसि तापसंहारिणि॥ ११४॥

तपोवल्ल्यां देहः समुपचितपुण्योर्जितफलः
शलाट्वग्रे यस्य प्रसव इव कालेन गलितः।

विधे तपसि वर्तमानः किं करोतीत्याह— इहैवेत्यादि। इहैव उक्तप्रकार एव तपसि स्थितः। सहजान् रिपून् सहभुवः शत्रून्। प्रकोपादिकान् प्रकृष्टकोपादीन्। परिणमन्ति प्रादुर्भवन्ति। असुभिरपि प्राणैरपि। पुरश्चाग्रे पुरुषार्थसिद्धिः मोक्षसिद्धिः। अचिरात् संक्षेपेण। स्वयं यायिनी स्वयम् अग्रेसरी। तापसंहारिणि संसारदुःखस्फेटके॥ ११४॥ तपसि रतिं कुर्वाणश्चायुर्देहयोरित्थं यः सफलतां कुरुते तं श्लाघयन्नाह— तपोवल्ल्यामित्यादि। समुपचितपुण्योर्जितफलः समुपचितं पुष्टिं नीतं पुण्यमेव ऊर्जितं महत्फलं येन देहेन। शलाट्वग्रे कोमलफलाग्रे सति पुष्पमपगच्छति यस्मात्फलात्तत् शलाटुः। शलेटुः। प्रसव इव पुष्पमिव।

संतापको दूर करता है उसके विषयमें मनुष्य कैसे नहीं रमता है? अर्थात् रमना ही चाहिये॥ विशेषार्थ— यहां यह बतलाया गया है कि वह तप प्राणीके लिये उभय लोकोंमें ही हितकारक है। इस लोकमें तो वह इसलिये हितकारक है कि जो क्रोध आदि कषायें अनादि कालसे प्राणीका अहित कर रही हैं उनको वह तप नष्ट कर देता है। कारण यह है कि जब तक क्रोधादि कषायें जागृत रहती हैं तब तक वह इच्छानिरोधात्मक तप सम्भव ही नहीं है। इसके अतिरिक्त वह तप इसी लोकमें क्षमा, शान्ति एवं विशिष्ट ऋद्धि आदि दुर्लभ गुणोंको भी प्राप्त कराता है। वह चूंकि परलोकमें मोक्ष पुरुषार्थको सिद्ध कराता है अतएव वह परलोकमें भी हितका साधक है। इस प्रकार विचार करके जो विवेकी जीव हैं वे उभय लोकके संतापको दूर करनेवाले उस तपमें अवश्य प्रवृत्त होते हैं॥११४॥ जिसका शरीर तपरूप बेलिके ऊपर पुण्यरूप महान् फलको उत्पन्न करके समयानुसार इस प्रकारसे नष्ट हो जाता है जिस प्रकार कि कच्चे फलके अग्रभागसे फूल नष्ट हो जाता है, तथा जिसकी आयु संन्यासरूप अग्निमें दूधकी

व्यशुष्यच्चायुष्यं सलिलमिव संरक्षितपयः
स धन्यः संन्यासाहुतभुजि समाधानचरमम् ॥ ११५ ॥
अमी प्ररूढवैराग्यास्तनुमप्यनुपाल्य यत् ।
तपस्यन्ति चिरं तद्धि ज्ञातं ज्ञानस्य वैभवम् ॥ ११६ ॥

आयुष्यं च व्यशुष्यत् आयुरेव आयुष्यम्, स्वार्थे यः। व्यशुष्यत्। क्व। संन्यासाहुतभुजि संन्यासाग्नौ। पयः दुग्धम्। कथं व्यशुष्यत्। समाधानचरमं यथा भवति। समाधानं समाधिः ध्यानं चरमम् अन्यधर्मशुक्लरूपं यत्र ॥ ११५ ॥ परमवैराग्योपेतानाम् अशुचौ दुःखदे देहे प्रतिपालनम् अवस्थानं च कृत्वा तपः कुर्वतां कारणं श्लोकद्वयमाह— अमी इत्यादि। प्ररूढ-वैराग्या अपि प्ररूढम् उत्पन्नं प्रकर्षप्राप्तं वा वैराग्यं येषाम्। तनुम् अनुपाल्य शरीरं प्रतिपाल्य। ते तपस्यन्ति तपः कुर्वन्ति। वैभवं प्रभुत्वम् ॥ ११६ ॥ क्षणार्धमित्यादि। अतिस्तोक-

रक्षा करनेवाले जलके समान धर्म और शुक्र ध्यानरूप समाधिकी रक्षा करते हुए सूख जाती है वह धन्य है– प्रशंसनीय है ॥ विशेषार्थ— जिस प्रकार लतामें उत्पन्न हुआ फूल फलको उत्पन्न करके उस कच्चे फलके अग्रभागसे स्वयं नष्ट हो जाता है उसी प्रकार जिसका शरीर तपश्चरणके द्वारा महान् पुण्यको उत्पन्न करके तत्पश्चात् स्वयं नष्ट हो जाता है तथा जिस प्रकार आगपर रखे हुए दूधमें रहनेवाला पानी स्वयं जलता है, परन्तु वह दूधकी रक्षा करता है; उसी प्रकार जिस महा पुरुषकी आयु ध्यानरूप अग्निमें स्वयं शुष्क होती है, परन्तु धर्म एवं शुक्लरूप ध्यानकी रक्षा करती है वह महात्मा सराहनीय है– उसीका मनुष्यजन्म पाना सफल है ॥ ११५ ॥ जिनके हृदयमें विरक्ति उत्पन्न हुई है वे शरीरकी रक्षा करके जो चिर काल तक तपश्चरण करते हैं वह निश्चयसे ज्ञानका ही प्रभाव है, ऐसा निश्चित प्रतीत होता है ॥ विशेषार्थ— लोकमें प्रायः यह देखा जाता है कि जो जिसकी ओरसे विरक्त या उदासीन होता है वह उसका रक्षण नहीं करता है। परन्तु विवेकी जन शरीरकी ओरसे उदासीन (अनुराग रहित) हो करके भी यथायोग्य प्राप्त हुए आहारके द्वारा उसका रक्षण करते हैं। इसका कारण यह है कि वे यह जानते

क्षणार्धमपि देहेन साहचर्यं सहेत कः।
यदि प्रकोष्ठमादाय न स्याद्बोधो निरोधकः॥ ११७॥

कालमपि। साहचर्यं सहभावः। प्रकोष्ठं हस्तप्रोञ्छकप्रदेशः[1]। अत्र तु प्रकोष्ठमन्तस्तत्त्वम्। तदादाय अवलम्ब्य आत्मस्वरूपं पश्य किं शरीरं चिन्तयेदिति बोधः शिक्षयतीत्यर्थः। निरोधकः धारकः॥ ११७॥ अमुमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेण समर्थयमानः समस्तमित्यादिश्लोक-

हैं कि इस मनुष्यशरीरसे हमें अपना प्रयोजन (मुक्ति) सिद्ध करना है, हमने यदि इसकी रक्षा न की तो यह असमयमें ही नष्ट हो जावेगा और तब ऐसी अवस्थामें हम उससे अपना प्रयोजन सिद्ध नहीं कर सकेंगे। इसका भी कारण यह है कि यदि यह मनुष्य पर्याय यों ही नष्ट हो गई तो फिर देवादि किसी दूसरी गतिमें तपका आचरण सम्भव नहीं है और वह मनुष्य पर्याय कुछ वार वार प्राप्त होती नहीं है। इस प्रकारकी विवेकबुद्धिके रहनेसे ही साधुजन उस शरीरका रक्षण करते हैं, अन्यथा वे उसकी रक्षा न भी करते। हां, यह अवश्य है कि वह शरीर किसी असाध्य रोगादिसे आक्रान्त होकर यदि अभीष्टकी सिद्धिमें ही बाधक बन जाता है तो फिर वे उसकी रक्षा नहीं करते हैं, बल्कि उसे सल्लेखनापूर्वक छोड़कर धर्मकी ही रक्षा करते हैं॥ ११६॥ यदि ज्ञान पोंचे (हथेलीके ऊपरका भाग) को ग्रहण करके रोकनेवाला न होता तो कौन-सा विवेकी जीव उस शरीरके साथ आधे क्षणके लिये भी रहना सहन करता? अर्थात् नहीं करता॥ विशेषार्थ— प्राणी जो अनेक प्रकारके दुखोंको सहता है वह केवल शरीरके ही सम्बन्धसे सहता है, इसीलिये कोई भी विवेकी जीव क्षणभर भी उसके साथ नहीं रहना चाहता है। फिर भी जो वह उसके साथ रहता है, इसका कारण उसका उपर्युक्त (अभीष्ट प्रयोजनकी सिद्धिविषयक) विचार ही है॥ ११७॥ जिन ऋषभ देवने समस्त राज्य-वैभवको तृणके समान तुच्छ समझकर छोड़

1 प प्रौञ्छक°, स प्रोञ्छक°।

समस्तं साम्राज्यं तृणमिव परित्यज्य भगवान्
तपस्यन् निर्माणः क्षुधित इव दीनः परगृहान्।
किलाटद्भिक्षार्थी स्वयमलभमानोऽपि सुचिरं
न सोढव्यं किं वा परमिह परैः कार्यवशतः ॥ ११८ ॥

द्वयमाह— समस्तं त्रिभुवनविषयम्। साम्राज्यं परमैश्वयम्। निर्माणः मानरहितः। दीन इव। किलेत्यागमोक्तौ। न सोढव्यं किं वा। अपि तु सर्वमपि सोढव्यम्। परम् अन्यत्। इह लोके। परैः उत्कृष्टैः, भगवतोऽन्यैर्वा। कार्यवशतः संवर-निर्जरालक्षणं कार्यम् उररीकृत्य ॥ ११८ ॥ पुरेत्यादि। पुरा गर्भात् पूर्वं गर्भात्। स्वयं स्रष्टा परोपदेशमन्तरेण विधाता।

दिया था और तपश्चरणको स्वीकार किया था वे भी निरभिमान होकर भूखे दरिद्रके समान भिक्षाके निमित्त स्वयं दूसरोंके घरोंपर घूमे। फिर भी उन्हें निरन्तराय आहार नहीं प्राप्त हुआ। इस प्रकार उन्हें छह मास घूमना पड़ा। फिर भला अन्य साधारण जनों या महापुरुषोंको अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये यहा क्या (परीषह आदि) नहीं सहन करना चाहिये? अर्थात् उसकी सिद्धिके लिये उन्हें सब कुछ सहन करना ही चाहिये॥ विशेषार्थ— यह पुराणप्रसिद्ध बात है कि भगवान् ऋषभ देव दीक्षा लेनेके बाद छह मासके उपवासको पूर्ण करके आहारके लिये छह माह घूमे थे, परन्तु भोगभूमिके बाद उस समय कर्मभूमिका प्रादुर्भाव होनेसे कोई भी आहारदानकी विधिको नहीं जानता था। इसीलिये उन्हें छह माह तक विधिपूर्वक निरन्तराय आहार नहीं प्राप्त हो सका था। अन्तमें जब राजा श्रेयांसको जातिस्मरण हुआ तब उसने जिस विधिसे श्रीमतीके भवमें आहारदान दिया था उसी विधिसे भगवान् आदि जिनेन्द्रको आहार दिया। इस प्रकार दैववशात् जब भगवान् ऋषभनाथ जैसे महापुरुषको भी निरभिमान होकर भिक्षाके लिये छाह माह तक घर-घर घूमना पड़ा और वह नहीं प्राप्त हुई तो फिर यदि साधारण जनोंको अपने अभीष्ट प्रयोजनकी सिद्धिमें कष्ट उपस्थित होता है तो उन्हें वह सहन करना ही चाहिये ॥ ११८ ॥ जिस आदिनाथ

पुरा गर्भादिन्द्रो मुकुलितकरः किंकर इव
स्वयं स्रष्टा सृष्टेः पतिरथ निधीनां निजसुतः।
क्षुधित्वा षण्मासान् स किल पुरुरप्याट जगती-
महो केनाप्यस्मिन् विलसितमलङ्घ्यं हतविधेः॥ ११९॥

प्राक् प्रकाशप्रधानः स्यात् प्रदीप इव संयमी।
पश्चात्तापप्रकाशाभ्यां भास्वानिव हि भासताम्॥ १२०॥

कस्याः। सृष्टेः असिमषिकृष्यादेः। अथ शब्दः पुनरर्थे निजसुत इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः। निजसुतः पुनः पतिर्निधीनाम्। पुरुरपि इन्द्रादीनामाराध्योऽपि। आट पर्यटितोऽभवत्॥ ११९॥ एवंविधसम्यग्दर्शनाद्याराधनात्रयं श्रुतज्ञानादिप्रधानतया प्रवृत्तं विशिष्टप्रयोजनप्रसाधकं भवति, नान्यथा। अतस्तदनन्तरं ज्ञानाराधनाप्रदर्शनोपक्रमं कुर्वाणः प्रागित्याद्याह— प्रागित्यादि। प्राक् प्रथमम्। प्रकाशप्रधानः यथावत्स्वपरस्वरूपप्रकाशनप्रधानः ज्ञानप्रधान इत्यर्थः। संयमी मुनिः। तपः तपन तापः संतापः, तपश्चारित्रयोरनुष्ठानमित्यर्थः। भासना शोभताम् प्रकाशतां वा॥ १२०॥ ज्ञानाराधनाराधकः इत्यंभूतः

जिनेन्द्रके गर्भमें आनेके पूर्व छह महिनेसे ही इन्द्र दासके समान हाथ जोड़े हुए सेवामें तत्पर रहा, जो स्वयं ही सृष्टिकी रचना करनेवाला था, अर्थात् जिसने कर्मभूमिके प्रारम्भमें आजीविकाके साधनोंसे अपरिचित प्रजाके लिये आजीविकाविषयक शिक्षा दी थी, तथा जिसका पुत्र भरत निधियोंका स्वामी (चक्रवर्ती) था; वह इन्द्रादिकोंसे सेवित आदिनाथ तीर्थंकर जैसा महापुरुष भी बुभुक्षित होकर छह महिने तक पृथ्वीपर घूमा; यह आश्चर्यकी बात है। ठीक है– इस संसारमें कोई भी प्राणी दुष्ट दैवके विधानको लाघनेमें समर्थ नहीं है॥ ११९॥ साधु पहिले दीपकके समान प्रकाशप्रधान होता है। तत्पश्चात् वह सूर्यके समान ताप और प्रकाश दोनोंसे शोभायमान होता है॥ विशेषार्थ— जिस प्रकार दीपक केवल प्रकाशसे संयुक्त होकर घट-पटादि पदार्थोंको प्रकाशित करता है उसी प्रकार साधु भी प्रारम्भमें ज्ञानरूप प्रकाशसे संयुक्त होकर स्व और परके स्वरूपको प्रकाशित करता है। यद्यपि इस समय उसके प्रकाश (ज्ञान) के साथ ही कुछ तपका तेज भी अवश्य रहता है, फिर भी उस

भूत्वा दीपोपमो धीमान् ज्ञानचारित्रभास्वरः।
स्वमन्यं भासयत्येष प्रोद्वमत्कर्म[न् कर्म]कज्जलम् ॥ १२१ ॥
अशुभाच्छुभमायातः शुद्धः स्यादयमागमात्।
रवेरप्राप्तसंध्यस्य तमसो न समुद्गमः ॥ १२२ ॥

सघेतत्करोतीत्याह— भूत्वेत्यादि। दीपोपमो दीपसदृशो भूत्वा। एष ज्ञानाराधनाराधको धीमान्। भासयति शोभयति वा प्रकाशयति[1] वा। प्रोद्वमन् प्रोत्सृजन्, निर्जरां कुर्वन्नित्यर्थः ॥ १२१ ॥ तथा ज्ञानाराधनाराधकः प्रवचनजनितविवेकपूर्वकं क्रमेण अशुद्धपरिणामं परित्यज्य शुद्धपरिणामम् आश्रित्य मुक्तो भवतीति निदर्शयन्नाह— अशुभादित्यादि। अयमाराधनाराधको भव्य। आगमात् आगमज्ञानात्। अशुभात् अतपश्चारित्रपरिणामात्। शुभं तपश्चारित्रपरिणामम्। आयातः आश्रित। शुद्ध स्यात् सकलकर्ममलकलङ्कविकलो

समय उसकी प्रधानता नहीं होती जिस प्रकार कि तापकी दीपकमें। परन्तु आगेकी अवस्थामे उसका वह प्रकाश (ज्ञान) सूर्यके प्रकाशके समान समस्त पदार्थोंका प्रकाशक हो जाता है। इस अवस्थामें उसके जैसे प्रकाशकी प्रधानता होती है वैसे ही तेज (तपश्चरण) की भी प्रधानता हो जाती है ॥ १२० ॥ वह बुद्धिमान् साधु दीपकके समान होकर ज्ञान और चारित्रसे प्रकाशमान होता है। तब वह कर्मरूप काजलको उगलता हुआ स्वके साथ परको प्रकाशित करता है ॥ विशेषार्थ— जिस प्रकार दीपक प्रकाश और तेजसे युक्त होकर काजलको छोडता है और घट-पटादि पदार्थोंको प्रगट करता है उसी प्रकार साधु भी ज्ञान और चारित्रसे दीप्त होकर कर्मकी निर्जरा करता है तथा आत्म-परस्वरूपको जानता भी है ॥ १२१ ॥ यह आराधक भव्य जीव आगमज्ञानके प्रभावसे अशुभस्वरूप असयम अवस्थासे शुभरूप सयम अवस्थाको प्राप्त हुआ समस्त कर्ममलसे रहित होकर शुद्ध हो जाता है। ठीक है— सूर्य जब तक सन्ध्या (प्रभातकाल) को नहीं प्राप्त होता है तब तक वह अन्धकारको नष्ट नहीं करता है ॥ विशेषार्थ— जिस प्रकार सूर्य प्रथमत रात्रिके अन्धकारसे निकलकर प्रभातकालको प्राप्त करता है और तब फिर कहीं वह अन्धकारसे रहित होता है, उसी प्रकार आराधक भी पहिले रात्रिगत अन्धकारके समान अशुभसे

१ प शोभयति प्रकाशयति।

विधूततमसो रागस्तपःश्रुतनिबन्धनः।
संध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय सः॥ १२३ ॥

भवेत्। अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थं दृष्टान्तमाह– रवेरित्यादि। अयमर्थो– यथा आदित्यस्य अप्राप्तसंध्यस्य न प्राप्ता संध्या प्रभातं येन तस्य। तमसो न समुद्गमः न निर्गमः। तथा आत्मनोऽपि अप्राप्तशुभपरिणामस्य कर्मतमसो न निर्गमः इति ॥ १२२ ॥ ननु ज्ञानाराधनापरिणतस्य तपःश्रुतविषयरागेन रागित्वात्कथं मुक्तत्वं स्यात् इत्याशङ्क्याह— विधूततमसोरित्यादि[1]। तमोऽज्ञानम् अन्धकारश्च, विधूतं स्फेटितं तमो येन तस्य। रागः रक्तिमा अनुरागश्च। तपःश्रुतनिबन्धनः तपःश्रुतविषयः। सध्याराग इवार्कस्य प्रभातरागो यथादित्यस्य। अभ्युदयाय उदयनिमित्तं स्वर्गापवर्गनिमित्तं च ॥ १२३ ॥ एतद्विपरीते रागे द्वेषं दर्शयन्नाह—

निकलकर प्रभातके समान शुभ (सरागसंयम) को प्राप्त करता है और तब फिर कहीं कर्मकलंकरूप अन्धकारसे रहित होता है। अभिप्राय यह है कि प्राणीका आचरण पूर्वमें प्रायः असंयमप्रधान रहता है, तत्पश्चात् वह यथाशक्ति असंयममय प्रवृत्तिको छोड़कर संयमके मार्गमें प्रवृत्त होता है। यह हुई उसकी अशुभसे शुभमें प्रवृत्ति। यद्यपि कर्मबन्ध (पराधीनता) की अपेक्षा इन दोनोंमें कोई विशेष भेद नहीं है, फिर भी जहां अशुभसे पाप कर्मका बन्ध होता है वहां शुभसे पुण्य कर्मका बन्ध होता है। इस प्रकारसे उसे शुद्ध होनेकी साधनसामग्री उपलब्ध होने लगती है, जो कि पापबन्धके होनेपर असम्भव ही रहती है। उदाहरणके रूपमें जैसे प्रभात-कालमें यद्यपि रात्रिगत अन्धकारकी सघनता नहीं होती है, फिर भी कुछ अंशमें तब भी अन्धकार रहता है, पूर्ण अन्धकारका विनाश तो दिनमें ही हो पाता है। इस प्रकार वह शुभमें स्थित रहकर अन्तमें अपने शुद्ध स्वरूपको भी प्राप्त कर लेता है॥ १२२ ॥ अज्ञानरूप अन्धकारको नष्ट कर देनेवाले प्राणीके जो तप और शास्त्रविषयक अनुराग होता है वह सूर्यकी प्रभातकालीन लालिमाके समान उसके अभ्युदय (अभिवृद्धि) के लिये होता है॥ विशेषार्थ— जिस प्रकार प्रभातकालमें उदित होनेवाले सूर्यकी लालिमा उसकी अभिवृद्धिका कारण होती है उसी प्रकार अज्ञानसे रहित हुए विवेकी जीवका भी तप एवं श्रुतसे सम्बद्ध

१ प स ' विधूततमसोरित्यादि ' नास्ति।

विहाय व्याप्तमालोकं पुरस्कृत्य पुनस्तमः।
रविवद्रागमागच्छन् पातालतलमृच्छति ॥ १२४ ॥

विहायेत्यादि। विहाय परित्यज्य। व्याप्तं वस्तुप्रकाशने प्रसृतम्। आलोकं ज्ञानम् उद्योतं च। पुरस्कृत्य अग्रे कृत्वा स्वीकृत्य च। पातालतलम् अस्तं नरकं च। ऋच्छति गच्छति ॥ १२४ ॥ एवं चतुर्विधाराधनायां प्रगुणमनसा प्रवर्तमानस्य मुमुक्षोर्मोक्षपदप्राप्ति-

अनुराग उसकी अभिवृद्धिका– स्वर्ग-मोक्षकी प्राप्तिका– कारण होता है। जो अनुराग हानि (दुर्गति) का कारण होता है वह अज्ञानीका ही होता है और वह भी विषयभोगविषयक अनुराग। विवेकी (सम्यग्दृष्टि) जीवका वह तप आदि विषयक अनुराग कभी हानिका कारण नहीं हो सकता है ॥१२३॥ जिस प्रकार सूर्य फैले हुए प्रकाशको छोड़कर और अन्धकारको आगे करके जब राग (लालिमा)को प्राप्त होता है तब वह पातालको जाता है– अस्त हो जाता है, उसी प्रकार जो प्राणी वस्तुस्वरूपको प्रकाशित करनेवाले ज्ञानरूप प्रकाशको छोड़कर अज्ञानको स्वीकार करता हुआ राग (विषयवांछा) को प्राप्त होता है वह पातालतलको– नरकादि दुर्गतिको– प्राप्त होता है ॥ विशेषार्थ— सूर्य जिस प्रकार प्रभात समयमें लालिमाको धारण करता है उसी प्रकार वह सन्ध्या समयमें भी उक्त लालिमाको धारण करता है। परन्तु जहां प्रभातकालीन लालिमा उसके अभ्युदय (उदय या वृद्धि) का कारण होती है वहां वह सन्ध्या समयकी लालिमा उसके अधःपतन (अस्तगमन) का कारण होती है। ठीक इसी प्रकारसे जो प्राणी अज्ञानको छोड़कर तप एवं श्रुत आदिके विषयमें रागको प्राप्त होता है वह राग उसके अभ्युदय– स्वर्ग-मोक्षकी प्राप्ति – का कारण होता है, किन्तु जो प्राणी विवेकको नष्ट करके अज्ञानभावको प्राप्त होता हुआ विषयानुरागको धारण करता है वह अनुराग उसके अधःपतन-का– नरक-निगोदादिकी प्राप्तिका– कारण होता है। इस प्रकार तप-श्रुतानुराग और विषयानुराग इन दोनोंमें अनुरागरूपसे समानताके होनेपर भी महान् अन्तर है– एक ऊर्ध्वगमनका कारण है और दूसरा अधोगमनका कारण है ॥ १२४ ॥ जिस यात्रा (गमन) में ज्ञान

ज्ञानं यत्र पुरःसरं सहचरी लज्जा तपः संबलं
चारित्रं शिबिका निवेशनभुवः स्वर्गा गुणा रक्षकाः ।

निरुपद्रवा भवतीति दर्शयन्नाह— ज्ञानमित्यादि । यत्र याने[1] । ज्ञानं पुरस्सरं मार्गप्रदर्शकतया अग्रेसरम् । ज्ञानस्य च दर्शनपूर्वकत्वाद्दर्शनमप्यग्रेसरं सामर्थ्यसिद्धम् । सहचरी सखी । निवेशनभुवः निवासस्थानानि । गुणा वीतरागत्वादयः । यथा मोक्षमार्गः रत्नत्रयात्मकः ।

मार्गदर्शक है, लज्जा मित्रके समान सदा साथमें रहनेवाली है, तपरूप पाथेय (मार्गमें खाने योग्य भोजन) है, चारित्र शिबिका (पालकी) है, निवेशस्थान (पड़ाव) स्वर्ग है, रक्षा करनेवाले वीतरागता आदि गुण हैं, मार्ग (रत्नत्रयस्वरूप) सरल (मन, वचन व कायकी कुटिलतासे रहित) एवं शान्तिरूप प्रचुर जलसे परिपूर्ण है, तथा छाया दयाभावना है; वह यात्रा उस मुनिको विघ्न-बाधाओंसे रहित होकर अभीष्ट स्थानको प्राप्त कराती है ।। विशेषार्थ— जिस पथिकके पास सुपरिचित मार्ग-दर्शक हो, मित्र साथमें हो, नाश्ता पासमें हो, सवारी उत्तम हो, बीचमें ठहरनेका स्थान सुरक्षित हो, रक्षक साथमें हों; तथा मार्ग सरल (सीधा), जलसे सहित एवं छायायुक्त सघन वृक्षोंसे व्याप्त हो; वह पथिक जिस प्रकार सब विघ्न-बाधाओंसे रहित होकर निश्चित ही अपने अभीष्ट स्थानको पहुंच जाता है उसी प्रकार जिस मुक्ति-पुरीके पथिकके पास ज्ञान मार्ग-दर्शकके समान है, पापप्रवृत्तिसे बचानेवाली लज्जा हितैषी मित्रके समान सदा साथमें रहनेवाली है, पाथेयका काम करनेवाला तप विद्यमान है, सवारीका काम करनेवाला चारित्र है, स्वर्ग पड़ावके समान हैं, उत्तम क्षमा आदि गुण राग-द्वेषादिरूप चोरोंसे रक्षा करनेवाले हैं, तथा रत्नत्रय-स्वरूप मार्ग सरल (मन, वचन एवं कायकी कुटिलतासे रहित), शान्तिरूप जलसे परिपूर्ण एवं दयाभावनारूप छायासे सहित है; वह

१ ज स ज्ञाने ।

पन्थाश्च प्रगुणः शमाम्बुबहुलश्छाया दयाभावना
यानं तं मुनिमापयेदभिमतं स्थानं विना विप्लवैः ॥ १२५ ॥
मिथ्या दृष्टिविषान् वदन्ति फणिनो दृष्टं तदा सुस्फुटं
यासामर्धविलोकनैरपि जगद्दंदह्यते सर्वतः।

प्रगुणः प्राञ्जलः मनोवाक्कायकुटिलतारहितः। शमाम्बुबहुलः शम उपशमः स एव अम्बु पानीयं बहुलं प्रचुरं बहलं वा यत्र। एवंविधं यानं गमनं कर्तृ आपयेत् प्रापयेत्। तं चतुर्विधाराधनाराधक मुनिम्। अभिमत स्थान मोक्षम्[1]। विना विप्लवै. उपद्रवमन्तरेण ॥१२५॥ के ते तद्याने विप्लवा इत्याशङ्क्य पञ्चश्लोकैस्तद्विप्लवानाह— मिथ्येत्यादि। मिथ्या असत्यम्। दृष्टिविषान् दृष्टौ विषं येषा तान्। दृष्टिविषत्वम् आसु स्त्रीषु। अर्धविलोकनैः कटाक्षैः।

मुक्तिका पथिक साधु सब प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे रहित होता हुआ अवश्य ही अपने अभीष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त करता है। अभिप्राय यह है कि जो मुनि सम्यग्दर्शन आदि चार आराधनाओंका आराधन करता है वह नि सन्देह मोक्षको प्राप्त करता है। प्रस्तुत श्लोकमें जिस प्रकार ज्ञान, तप और चारित्र इन तीन आराधनाओंका पृथक् पृथक् उल्लेख किया है वैसा सम्यग्दर्शन आराधनाका पृथक् उल्लेख नहीं किया गया है, किन्तु उसे ज्ञानाराधनाके अन्तर्गत ग्रहण किया गया है। इसका कारण सम्यग्ज्ञानका उक्त सम्यग्दर्शनके साथ अविनाभाव है— उसका सम्यग्दर्शनके विना आविर्भाव नहीं होना है। इसीलिये उसका पृथक् उल्लेख नहीं किया है ॥ १२५ ॥ व्यवहारी जन जो सर्पोंको दृष्टिविष कहते हैं वह असत्य है, क्योंकि, वह दृष्टिविषत्व तो उन स्त्रियोंमें स्पष्टतया देखा जाता है जिनके अर्धविलोकन रूप कटाक्षोंके द्वारा ही संसार (प्राणी) सब ओरसे अतिशय संतप्त होता है। हे साधो! तू जो उनके विरुद्ध आचरण कर रहा है सो वे तेरे ही विषयमें अतिशय क्रोधको प्राप्त होकर इधर उधर घूम रही हैं। वे स्त्रीके रूपमें केवल विष ही हैं। इसलिये तू उनका विषय न बन ॥ विशेषार्थ— पूर्वके श्लोकमें यह बतलाया था कि जो

[1] ज स मोक्षे।

तास्त्वय्येव विलोमवर्तिनि भृशं भ्राम्यन्ति बद्धक्रुधः
स्त्रीरूपेण विषं हि केवलमतस्तद्गोचरं मा स्म गाः ॥ १२६ ॥
क्रुद्धाः प्राणहरा भवन्ति भुजगा दष्ट्वैव काले क्वचित्
तेषामौषधयश्च सन्ति बहवः सद्यो विषव्युच्छिदः ।

दंदह्यते अत्यर्थं संतप्यते । सर्वतः सर्वेण प्रकारेण । विलोमवर्तिनि प्रतिकूलवर्तिनि । भ्राम्यन्ति भ्रमन्ति । बद्धक्रुधः आबद्धकोपाः । तद्गोचरं स्त्रीविषयम् मा स्म गाः मा गच्छ ॥ १२६ ॥ क्रुद्धा इत्यादि । दष्ट्वैव भक्षित्वा । काले क्वचित् कुलिकवेलायाम् । सद्यः झटिति । विषव्युच्छिदः विषविनाशिकाः । हन्युः मारयेयुः । पुरा अन्यजन्मनि । इह च अस्मिन् जन्मनि ।

सम्यग्दर्शनादि आराधनाओंका आराधन करता है उसे मुक्ति पदकी प्राप्तिमें कोई बाधा नहीं उपस्थित हो सकती है । इसपर यह शंका हो सकती थी ऐसी कोन-सी वे बाधायें हैं जिनकी कि मोक्षमार्गमें प्रवृत्त हुए साधुके लिये सम्भावना की जा सकती है ? इस शंकाके निराकरणस्वरूप ही यहा बतलाना चाहते हैं कि उक्त साधुके मार्गमें स्त्री आदिके द्वारा बाधा उपस्थित की जा सकती है, अतएव साधुजनको उनकी ओरसे विमुख रहना चाहिये । कारण यह कि वे सर्पकी अपेक्षा भी अधिक कष्ट दे सकती हैं । लोकमें सर्पोंकी एक दृष्टिविष जाति प्रसिद्ध है । इस जातिका सर्प जिसकी ओर केवल नेत्रसे ही देखता है वह विषसे संतप्त हो जाता है । ग्रन्थकार कहते हैं कि उक्त जातिके सर्पोंको दृष्टिविष न कहकर वास्तवमें उन स्त्रियोंको दृष्टिविष कहना चाहिये जिनकी कि अर्ध दृष्टिके (कटाक्षके) पड़ने मात्रसे ही प्राणी विषसे व्याप्त– कामसे संतप्त– हो उठता है । जो साधु उनकी ओरसे विरक्त रहना चाहता है उसे वे अपनी ओर आकृष्ट करनेके लिये अनेक प्रकारकी हाव-भाव एवं विलासादिरूप चेष्टाएं करती हैं । इसलिये यहा यह प्रेरणा की गई है कि जो भव्य प्राणी अपना हित चाहते हैं वे ऐसी स्त्रियोंके समागमसे दूर रहें ॥ १२६ ॥ सर्प तो किसी विशेष समयमें क्रोधित होते हुए केवल काटकर ही प्राणोंका नाश करते हैं, तथा वर्तमानमें उनके विषको नष्ट करनेवाली

हन्युः स्त्रीभुजगाः पुरेह च मुहुः क्रुद्धाः प्रसन्नास्तथा
योगीन्द्रानपि तान् निरौषधविषा दृष्टाश्च दृष्ट्वापि च ॥ १२७ ॥

मुहुर्वारंवारम्। क्रुधा[द्धाः] रुष्टाः। प्रसन्नास्तुष्टाः। योगीन्द्रानपि योगिनां प्रधानानपि। तान् लोकप्रसिद्धान् रुद्रादीन्। निरौषधविषा औषधाभिष्क्रान्तं[1] विषं यासाम्। दृष्टा योगीन्द्रैः, दृष्ट्वा योगीन्द्रान् ॥ १२७ ॥ एतामित्यादि। अभिजनावर्ज्या कुलीनजनैरा-

बहुत-सी औषधियां भी हैं। परन्तु स्त्रीरूप सर्प क्रोधित होकर तथा प्रसन्न हो करके भी उन प्रसिद्ध महर्षियोंको भी इस लोकमें और पर लोकमें भी वार वार मार सकती हैं। वे जिसकी ओर देखें उसका, तथा जो उनकी ओर देखता है उसका भी– दोनोंका ही– घात करती हैं तथा उनके विषको दूर करनेवाली कोई औषधि भी नहीं हैं॥ विशेषार्थ— पूर्व श्लोकमें स्त्रियोंको जो दृष्टिविष सर्पकी अपेक्षा भी अधिक दुखप्रद बतलाया है उसीका स्पष्टीकरण प्रस्तुत श्लोकके द्वारा किया जा रहा है। यथा– सर्प जब किसीके द्वारा बाधाको प्राप्त होता है तब ही वह क्रुद्ध होकर किसी विशेष काल और किसी विशेष देशमें ही काटता है तथा उसके विषको नष्ट करनेमें समर्थ ऐसी कितनी ही औषधियां भी पायीं जातीं हैं। फिर भी यदि वह अधिकसे अधिक कष्ट दे सकता है तो केवल एक वार मरणका ही कष्ट दे सकता है। परन्तु स्त्रियां जिसके ऊपर क्रुद्ध हो जाती हैं उसे तो वे विषप्रयोग आदिके उपायोंसे मारती ही हैं, किन्तु जिसके ऊपर वे प्रसन्न रहती हैं उसे भी मारती हैं– कामासक्त करके इस लोकमें तो रुग्णता व बन्दीगृह आदिके कष्टको दिलाती हैं तथा परलोकमें नरकादि दुर्गतियोंके दुखके भोगनेमें निमित्त होती हैं। साधारण जनकी तो बात ही क्या है, किन्तु वे बड़े बड़े तपस्वियोंको भी भ्रष्ट कर देती हैं। इसके अतिरिक्त दृष्टिविष सर्प जिसकी ओर देखता है उसे ही वह विषसे संतप्त करता है, किन्तु वे स्त्रियां जिसकी ओर स्वयं दृष्टिपात (कटाक्षपात) करती

१ ज स ऊषधाभिक्रान्तं।

एतामुत्तमनायिकामभिजनावर्ज्यां जगत्प्रेयसीं
मुक्तिश्रीललनां गुणप्रणयिनीं गन्तुं तवेच्छा यदि।
तां त्वं संस्कुरु वर्जयान्यवनितावार्तामपि प्रस्फुटं
तस्यामेव रतिं तनुष्व नितरां[1] प्रायेण सेर्ष्याः स्त्रियः ॥ १२८ ॥

वर्जनीयाम्। जगत्प्रेयसीं लोकस्य अतिशयेन प्रियाम्। मुक्तिश्रीललनां मोक्षलक्ष्मीमहिलाम्[2]। गुणप्रणयिनीं[3] गुणेषु प्रणयः स्नेहः सोऽस्या अस्तीति[4]। संस्कुरु रत्नत्रयाद्युपायेन संभूषय। तनुष्व विस्तारय ॥ १२८ ॥ वचनेत्यादि। वचनान्येव सलिलानि तैः। हासस्वच्छैः निर्मलैः।

हैं उसे कामसे संतप्त करती हैं और जिसकी ओर वे न भी देखें, पर जो उनकी ओर देखता है उसे भी वे कामसे संतप्त करती हैं। इसके अतिरिक्त सर्पके विषसे मूर्छित हुए प्राणीके विषको दूर करनेवाली औषधियां भी उपलब्ध हैं, पर स्त्रीविषसे मूर्छित (कामासक्त) प्राणीको उससे मुक्त करानेवाली कोई भी औषधि उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार जब स्त्रियां सर्पसे भी अधिक दुख देनेवाली हैं तब आत्महितैषियोंको उनकी ओरसे विरक्त ही रहना चाहिये ॥ १२७ ॥ हे भव्य ! जो यह मुक्तिरूप सुन्दर महिला उत्तम नायिका है, कुलीन जनोंको ही प्राप्त हो सकती है, विश्वकी प्रियतमा है, तथा गुणोंसे प्रेम करनेवाली है; उसको प्राप्त करनेकी यदि तेरी इच्छा है तो तू उसको संस्कृत कर– रत्नत्रयरूप अलंकारोंसे विभूषित कर– और दूसरी (लोकप्रसिद्ध) स्त्रीकी बात भी न कर। केवल तू उसके विषयमें ही अतिशय अनुराग कर; क्योंकि, स्त्रियां प्रायः ईर्ष्यालु होती हैं ॥ विशेषार्थ— एक ओर लोकप्रसिद्ध स्त्री है और दूसरी ओर मुक्तिरूपी अपूर्व स्त्री है। इनमें लोकप्रसिद्ध स्त्री जहां कुलीन एवं अकुलीन सब ही जनोंको प्राप्त हो सकती है वहां मुक्ति-ललना केवल कुलीन जनको ही प्राप्त हो सकती है– वह नीच एवं दुराचारी जनोंको दुर्लभ है। लौकिक स्त्री केवल कामी जनोंको ही प्यारी होती है, परन्तु मुक्ति-कान्ता समस्त विश्वको ही प्यारी है। लौकिक स्त्री जहां केवल धन-सम्पत्ति आदिमें ही अनुराग रखती है

१ ज स सुतरां। २ प मोहलक्ष्मीस्वीकरणीयां महिलां। ३ प 'गुणप्रणयिनीं' इति नास्ति। ४ ज स सोऽस्यास्तीति।

वचनसलिलैर्हासस्वच्छैस्तरङ्गसुखोदरैः
वदनकमलैर्बाह्ये रम्याः स्त्रियः सरसीसमाः ।

तरङ्गसुखोदरैः तरङ्गवदुत्पन्नभङ्गुररूपाणि सुखानि तान्युदरे मध्ये येषां वचनसलिलानाम्, तेषां वा जनकानि उदराणि मध्यप्रदेशास्तैः । वदनकमलैः वदनान्येव कमलानि तैः । प्रास्तप्रज्ञाः प्रकर्षेण अस्ता क्षिप्ता प्रज्ञा यैः । तटेऽपि सानिध्यमाने[त्रे]ऽपि । पिपासवः अनुभवितु-

वहां मुक्ति-सुन्दरी केवल उत्तमोत्तम गुणोंमें ही अनुराग रखती है । लौकिक स्त्रीसे यदि ऐहिक क्षणिक सुख प्राप्त होता है तो मुक्ति-रमणीसे पारलौकिक अविनश्वर सुख प्राप्त होता है । इस प्रकारसे इन दोनोंका स्वभाव सर्वथा भिन्न है । अतएव जो लौकिक स्त्रीको चाहता है उसे मुक्ति-वल्लभा दुर्लभ है तथा जो मुक्ति-वल्लभाको चाहता है उसे लौकिक स्त्रीसे मोह छोड़ना पड़ता है, कारण कि इसके विना वह प्राप्त हो ही नहीं सकती है । इसीलिये तो यह नीति प्रसिद्ध है कि स्त्रियां प्रायः करके अत्यन्त ईर्ष्यायुक्त होती हैं । ऐसी स्थितिमें जो भव्य मुक्ति-रमाको चाहता है उसे लौकिक स्त्रीकी चाह तो दूर रही, किन्तु उसे उसका नाम भी नहीं लेना चाहिये, इसके अतिरिक्त लौकिक स्त्रीको प्रसन्न करनेके लिये जिस प्रकार उसे कटिसूत्र, केयूर एवं हार आदि अलंकारोंसे अलंकृत किया जाता है उसी प्रकार मुक्ति-कान्ताको प्रसन्न करनेके लिये उसे सम्यग्दर्शनादिरूप रत्नमय आभूषणोंसे विभूषित करना चाहिये ॥ १२८ ॥ वे स्त्रियां सरसी (छोटा तालाब) के समान बाहिरसे ही रमणीय दिखती हैं– सरसी जिस प्रकार चंचल तरंगोंसे युक्त स्वच्छ जल एवं कमलोंसे सुशोभित होती है उसी प्रकार वे स्त्रियां भी तरंगोंके समान चंचल (अस्थिर) सुखको उत्पन्न करनेवाले हास्ययुक्त मनोहर वचनोंरूप जलसे तथा मुखरूप कमलोंसे रमणीय होती हैं । जिस प्रकार बहुत-से बुद्धिहीन (मूर्ख) प्राणी प्याससे पीड़ित होकर सरोवरपर जाते हैं और किनारेपर ही भयानक हिंस्र जल-जन्तुओंके ग्रास बनकर– उनके द्वारा मरणको प्राप्त होकर–फिर नहीं निकल

इह हि बहवः प्रास्तप्रज्ञास्तटेऽपि पिपासवो
विषयविषमग्राहग्रस्ताः पुनर्न समुद्गताः ॥ १२९ ॥
पापिष्ठैर्जगतीविधीतमभितः प्रज्वाल्य रागानलं
क्रुद्धैरिन्द्रियलुब्धकैर्भयपदैः संत्रासिताः सर्वतः ।

मिच्छवः । विषयेत्यादि— विषया एव विषमग्राहो रौद्रजलचरः तेन ग्रस्ताः कवलिताः । न समुद्गताः न निर्गताः ॥ १२९ ॥ पापिष्ठैः पापरतैः । क्रुद्धैः उत्कटैः अपायहेतुभिर्वा । भयपदैः भयस्थानैः । इन्द्रियलुब्धकैः इन्द्रियासक्तैः[१] । प्रज्वाल्य रागानलं राग एव अनलः अग्निः तम् । क । जगतीविधीनमभितः जगती जगत् सैव विधीत विडम्बितम् । तस्मिन् इति

पाते हैं उसी प्रकार बहुत-से अज्ञानी प्राणी भी विषयतृष्णासे व्याकुल होकर उन स्त्रियोंके पास पहुंचते हैं और हिंस्र जलजन्तुओंके समान अतिशय भयानक विषयोंसे ग्रस्त होकर– उनमें अतिशय असक्त होकर– फिर नहीं निकलते अर्थात् नरकादि दुर्गतियोंमें पड़कर फिर उत्तम मनुष्यादि पर्यायको नहीं पाते हैं ।। १२९ ।। अतिशय पापी, क्रूर एव भयको उत्पन्न करनेवाले इन्द्रियोंरूप अहेरियों (शिकारियों)के द्वारा संसाररूप विधीत(मृग व सिंहादिके रहनेका स्थान)के चारों ओर रागरूप अग्निको जलाकर सब ओरसे पीड़ाको प्राप्त कराये गये ये मनुष्यरूप हिरण रक्षाकी इच्छासे व्याकुल होकर स्त्रीके छलसे बनाये गये कामरूप व्याधराज (अहेरियोंका स्वामी) के घातस्थान (मारणस्थान) को प्राप्त होते हैं, यह खेदकी बात है ।। विशेषार्थ— दुष्ट अहेरी मृगादिकोंका घात करनेके लिये उनके निवासस्थानके चारों ओर आग जला देते है जिससे वे भयभीत होकर रक्षाकी दृष्टिसे उस स्थानको प्राप्त होते हैं जो कि अहेरियोंके द्वारा उनका ही घात करनेके लिये बनाया गया है । इस प्रकारसे वे वहा जाकर उनके द्वारा मारे जाते हैं । ठीक इसी प्रकारसे उन अहेरियोंके समान दुष्ट इन्द्रिया इस संसारमें प्राणियोंको विषयासक्त करनेके लिये उन विषयोंके प्रति रागको उत्पन्न कराती हैं, जिससे व्याकुल होकर वे प्राणी उन मृगोंके ही समान शान्ति

१ ज इन्द्रियाशक्तैः ।

हन्तैते शरणैषिणो जनमृगाः स्त्रीछद्मना निर्मितं
घातस्थानमुपाश्रयन्ति मदनव्याधाधिपस्याकुलाः ॥ १३० ॥
अपत्रप तपोऽग्निना भयजुगुप्सयोरास्पदं
शरीरमिदमर्धदग्धशववन्न किं पश्यसि ।

सप्तमीप्राप्तौ अभिना योगे द्वितीया भवति । सर्वतश्चतुर्दिक्षु । हन्त अहो । जनमृगाः जना एव मृगाः । स्त्रीछद्मना स्त्रीव्याजेन । मदनव्याधाधिपस्य मदनः कामः स एव व्याधाधिपः व्याधप्रधानः । आकुला व्याकुलचित्ताः ॥ १३० ॥ एवं बाह्येषु विप्लवहेतुषु प्रवृत्तिं प्रतिषेध्य अन्तरङ्गेषु तां प्रतिषेधयन्नाह— अपत्रपेत्यादि । त्रपा लज्जा सा अपक्रान्ता निःक्रान्ता यस्मादसौ अपत्रपः, तस्य संबोधनं हे अपत्रप । जुगुप्सा निन्दा । आस्पदं स्थानम् । अर्धदग्ध-मृतकवत् । रतिम् आसक्तिम्, विषयेषु प्रवृत्तौ अन्तरङ्गहेतुम् । ननु अहो न भीषयसि

प्राप्त करनेकी इच्छासे उस स्त्रीरूप घातस्थानको प्राप्त होते हैं जो मानों उनको नष्ट-भ्रष्ट करनेके लिये ही बनाया गया है । अभिप्राय यह है जिस प्रकार हिरण अज्ञानतासे अपना ही वध करानेके लिये शिकारियों द्वारा निर्मित वधस्थानमें जा फंसते हैं उसी प्रकार ये अविवेकी प्राणी भी विषयतृष्णाके वशीभूत होकर उसको शान्त करनेकी इच्छासे स्त्रीका आश्रय लेते हैं । परन्तु होता है उससे विपरीत— जिस विषयतृष्णाको वे शान्त करना चाहते थे वह स्त्रीका आश्रय पांकर उत्तरोत्तर अधिकाधिक वृद्धिको ही प्राप्त होती है । परिणाम यह होना है कि इस प्रकारसे विषयविमूढ होकर प्राणी धर्माचरणको भूल जाता है और पापका संचय करता है जिससे कि वह दुर्गतिमें पड़कर अनेक दुःखोंको भोगता है ॥ १३० ॥ हे निर्लज्ज ! यह तेरा शरीर तपरूप अग्निसे अधजले शव (मृत शरीर) के समान भय और घृणाका स्थान बन रहा है । क्या तू उसे नहीं देखता है ? फिर तू उत्सुक होकर व्यर्थमें क्यों स्त्रियोंके विषयमें अनुरागको प्राप्त होता है । ऐसे शरीरको धारण करता हुआ तू उन स्त्रियोंके लिये भयको न उत्पन्न कराता हो सो बात नहीं है, किन्तु उन्हें निश्चयसे भयको प्राप्त कराता ही है । संसारमें स्त्रियां स्वभावसे ही कातर होती हैं । वे तेरे भयानक शरीरको देखकर स्पष्टतया भयभीत होती हैं ॥ विशेषार्थ— जो

वृथा व्रजसि किं रतिं ननु न भीषयस्यातुरो
निसर्गतरलाः स्त्रियस्त्वदिह ताः स्फुटं बिभ्यति ॥ १३१ ॥
उत्तुङ्गसंगतकुचाचलदुर्गदूर-
माराद्वलित्रयसरिद्विषमावतारम् ।
रोमावलीकुसृतिमार्गमनङ्गमूढाः
कान्ताकटीविवरमेत्य न केऽत्र खिन्नाः ॥ १३२ ॥

न भयं नयसि । अपि तु भीषयस्येव । आतुरः अत्युत्सकः । निसर्गतरलाः स्वभावेन कातराः । त्वदिह इह लोके त्वत्तो विकरालमूर्तेः सकाशात् । बिभ्यति भयं गच्छन्ति ॥ १३१ ॥ यत्र च स्थाने त्वं रतिं करोषि तदीदृशमिति दर्शयन् उत्त[ुं]गेत्यादि श्लोकत्रयमाह— उत्तुङ्गौ उन्नतौ संगतौ स्थूलतया परस्परसंलग्नौ तौ च तौ कुचौ च तौ एव अचलदुर्गः गिरिदुर्गः तेन दूरं दुःप्राप्यम् । आरात् समीपे । वलीत्यादि— वलित्रयमेव सरितस्ताभिर्विषमो दुःकर्मो-पार्जनहेतुतया दुःखदो अवतारः प्रवृत्तिर्यत्र । रोमेत्यादि— रोमावल्येव कुसृतिमार्गो अपाय-

भव्य जीव सब इन्द्रियविषयोंको छोड़कर मुनिधर्मको स्वीकार करता है और तपश्चरणमें प्रवृत्त हो जाता है वह यदि तत्पश्चात् स्त्रियोंके विषयमें अनुरक्त होता है तो यह उसके लिये लज्जाकी बात है । ऐसे ही साधुको लक्ष्यमें रखकर यहां यह कहा गया है कि हे निर्लज्ज! तेरा यह शरीर तपके कारण मलिन एवं बीभत्स हो गया है । तू जिन स्त्रियोंको चाहता है वे तेरे इस घृणित शरीरको देखकर इस प्रकारसे भयभीत होंगी जिस प्रकार कि मनुष्य अधजले मृतशरीर (मुर्दा) को देखकर भयभीत होते हैं। ऐसी अवस्थामें यह तू ही बता कि जैसे तू उन स्त्रियोंको चाहता है वैसे ही क्या वे भी तुझे चाहेगीं या नहीं? चाहना तो दूर ही रहा, किन्तु वे तुझे देखकर भयसे दूर ही भागेगीं । फिर भला तू उनके विषयमें अनुरक्त होकर व्यर्थमें अपने आपको क्यों दुर्गतिमें डालता है? यह तेरे लिये उचित नहीं है ॥ १३१ ॥ जो स्त्रीकी योनि ऊंचे एवं परस्पर मिले हुए स्तनोंरूप पर्वतीय दुर्गसे दुर्गम है, पास ही उदरमें स्थित त्रिवलीरूप नदियोंसे जहां पहुंचना भयप्रद है, तथा जो रोमपंक्तिरूप इधर उधर

वर्चोगृहं विषयिणां मदनायुधस्य नाडीव्रणं विषमनिर्वृतिपर्वतस्य।
प्रच्छन्नपादुकमनङ्गमहाहिरन्ध्रमाहुर्बुधाः जघनरन्ध्रमदः सुदत्याः ॥१३३॥

प्रचुरः दण्डोलकरूपः पन्थाः। अनङ्गमूढाः अनङ्गेन कामेन मूढा विवेकपराङ्मुखाः। खिन्ना अर्थैः प्राणैः खिन्नाः ॥ १३२ ॥ वर्चोगृहमित्यादि। विषमा येन तेन असाध्या, सा चासौ निर्वृत्तिश्च पर्वतश्च मोक्षपर्वतस्य[श्च]। प्रच्छन्नपादुकं तिरोहितपातगर्तरूपं रन्ध्रम्। अदः एतत्। सुदत्याः स्त्रियाः शोभना दन्ता यस्या॰ असौ सुदती तस्याः सुदत्या॰ स्त्रियाः ॥ १३३ ॥

भटकानेवाले मार्गमे संयुक्त है; ऐसी उस स्त्रीकी योनिको पाकर कौन-से कामान्ध प्राणी यहा खेदको नहीं प्राप्त हुए हैं? अर्थात् वे सभी दुखको प्राप्त हुए हैं।। विशेषार्थ— जिस स्थानका मार्ग ऊंचे पर्वतोंसे दुर्गम हो, जिसके मध्यमें नदिया पड़ती हों, तथा जो भयानक वनसे व्याप्त हो, ऐसे मार्गसे उस स्थानको जानेवाले प्राणी जैसे अतिशय खेदको प्राप्त होते हैं वैसे ही पर्वत जैसे उन्नत स्तनोंसे सहित, त्रिवलीरूप नदियोंसे वेष्टित और रोमपंक्तिरूप वनराजिमे व्याप्त उस योनिस्थानको प्राप्त करनेवाले कामी जन भी इस लोकमे खेदको (आकुलताको) प्राप्त होते हैं तथा इस प्रकारसे पापका संचय करके वे परलोकमे भी दुखी होते है ।। १३२ ।। सुन्दर दातोंवाली स्त्रीका यह जो जाघोंके बीचमें स्थित छिद्र है उसे पण्डित जन कामी पुरुषोंके मल (वीर्य) का घर, कामदेवके शस्त्रका नाडीव्रण अर्थात् नसके ऊपर (उत्पन्न हुआ) घाव, दुर्गम मोक्षरूप पर्वतका ढका हुआ गड्ढा तथा कामरूप महासर्पका छिद्र (बावी) बतलाते हैं।। विशेषार्थ— कामी जन स्त्रीके जिस योनिस्थानमें क्रीड़ा करते हुए आनन्दका अनुभव करते हैं वह कितना घृणास्पद और अनर्थका कारण है, इसका यहां विचार करते हुए यह बतलाया है कि वह योनिस्थान पुरीषालय (संडास) के समान है— जैसे मनुष्य पुरीषालयमें मल-मूत्रका क्षेपण करते हैं वैसे ही कामी जन इसमें घृणित वीर्यका क्षेपण करते हैं। फिर भी आश्चर्य है कि जो विषयी जन पुरीषालयमें जाते हुए तो

कष्टका अनुभव करते हैं, किन्तु उसमें क्रीड़ा करते हुए वे कष्टके स्थानमें आनन्दका अनुभव करते हैं। वह योनिस्थान क्या है– जिस प्रकार शत्रु बाण आदि किसी शस्त्रके प्रहारसे घावको उत्पन्न करता है उसी प्रकार कामरूप शत्रुने अपने बाणको मारकर मानो वह घाव ही उत्पन्न कर दिया है। फिर भी खेद इस बातका है कि जो लोग शरीरमें थोड़ा-सा भी घाव उत्पन्न होनेपर दुःखी होते हैं वे ही इस घावको आनन्ददायक मानते हैं– इसमें उन्हें किसी प्रकार दुःख नहीं होता। जिस प्रकार किसी ऊंचे विषम (ऊंचा-नीचा) पर्वतके उपान्तमें गहरा गड्ढा हो और वह भी घास एवं पत्तों आदिसे आच्छादित हो तो उसके ऊपर चढ़नेवाला मनुष्य उक्त गड्ढेको न देख सकनेके कारण उसमें गिर जाता है और वहींपर मरणको प्राप्त होता है। ठीक उसी प्रकारसे वह योनिस्थान भी मोक्षरूप उन्नत पर्वतपर चढ़नेवालोंके लिये उस पर्वतके गड्ढेके ही समान है जिसमें कि पड़कर वे फिर निकल नहीं पाते– कामासक्त होकर विषयोंमें रमते हुए दुर्गतिके पात्र बनते हैं। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार सर्पकी बावी प्राणीको दुःखदायक होती है उसी प्रकार स्त्रीका वह योनिस्थान भी कामी जनोंके लिये दुःखका देनेवाला है। इसका कारण यह है जिस प्रकार बावीमें हाथ डालनेवाले प्राणियोंको उसके भीतर स्थित सर्प काट लेता है, जिससे कि वह मरणको प्राप्त करता है, उसी प्रकार उस योनिस्थानमें क्रीड़ा करनेवालोंको वह कामरूप सर्प काट लेता है जिससे कि वे भी हिताहितके विवेकसे रहित होकर विषयोंमें आसक्त होते हुए मरणको प्राप्त होते हैं– अपनेको दुःखमें डालते हैं। इसलिये जो पथिक सावधान होते हैं वे चूंकि मार्गको भले प्रकार देख-भाल करके ही पर्वतके ऊपर चढ़ते हैं इसीलिए जैसे वे अभीष्ट स्थानमें जा पहुंचते हैं वैसे ही जो विवेकी जीव हैं वे भी उस गड्ढेसे बचकर– विषयभोगसे रहित होकर– अपने अभीष्ट मोक्षरूप पर्वतपर चढ़ जाते हैं॥ १३३॥ दूसरे मनुष्य तपके

अध्यास्यापि तपोवनं बत परे नारीकटीकोटरे
व्याकृष्टा विषयैः पतन्ति करिणः कूटावपाते यथा।
प्रोचे प्रीतिकरीं जनस्य जननीं प्राग्जन्मभूमिं च यो
व्यक्तं तस्य दुरात्मनो दुरुदितैर्मन्ये जगद्वञ्चितम् ॥ १३४ ॥

कण्ठस्थः कालकूटोऽपि शम्भोः किमपि नाकरोत्।
सोऽपि दंदह्यते स्त्रीभिः स्त्रियो हि विषमं विषम् ॥ १३५ ॥

अध्यास्येत्यादि। अध्यास्य आश्रित्य। तपोवनमपि तपसो निमित्तं वनम् अटवी तपसां वा वनं संघातः। परे मुनयः। व्याकृष्टाः विशेषेण आकृष्टाः। कूटावपाते प्रच्छन्नपादुके। प्रोचे प्रतिपादितवान् प्रीतिकरीं जनस्य जननीं प्राक्– युवावस्थायाः पूर्वं पश्चा(?), जन्मभूमिं च योनिं प्रीतिकरीम्, 'जननीं जन्मभूमिं च प्राप्य को न सुखायते' इत्यभिधानात्। एवंविधैः दुरुदितैः दुर्गतिहेतुवचनैः। विषे ह्यमृतबुद्धया प्रवर्तको वञ्चकः ॥ १३४ ॥ स्त्रियश्च महात्मनामपि संतापादिदुःखहेतुत्वान्महद्विषमित्याह— कण्ठस्थ इत्यादि। शम्भोर्महेश्वरस्य। किमपि संतापादिकम्। नाकरोत् न कृतवान्। विषमम्[1] अचिकित्स्यम् ॥ १३५ ॥ एवंविधे

निमित्त वनका आश्रय ले करके भी इन्द्रियविषयोंके द्वारा खींचे जाकर स्त्रीके योनिस्थानमें इस प्रकारसे गिरते हैं जिस प्रकार कि हाथी अपने पकड़नेके लिये बनाये गये गड्ढेमें गिरते हैं। जो योनिस्थान प्राणीके जन्मकी भूमि होनेसे माताके समान है उसे जो दुष्ट कवि प्रीतिका कारण बतलाते हैं वे स्पष्टतया अपने दुष्ट वचनोंके द्वारा विश्वको ठगते हैं ॥१३४॥ जिस महादेवके कण्ठमें स्थित हो करके भी विषने उसका कुछ भी अहित नहीं किया वही महादेव स्त्रियोंके द्वारा संतप्त किया जाता है। ठीक है– स्त्रियां भयानक विष हैं ॥ विशेषार्थ— कहा जाता है कि देवोंने जब समुद्रका मंथन किया था तो उन्हें उसमेंसे पहिले विष प्राप्त हुआ था और उसका पान महादेवने किया था। उक्त विषके पी लेनेपर भी जिस महादेवको विषजनित कोई वेदना नहीं हुई थी वही महादेव पार्वती आदि स्त्रियोंके द्वारा कामसे संतप्त करके पीडित किया जाता है। इससे यह निश्चित होता है कि लोग जिस विषको दुःखदायक मानते हैं वह

१ ज स विषं।

तव युवतिशरीरे सर्वदोषैकपात्रे
रतिरमृतमयूखाद्यर्थसाधर्म्यतश्चेत् ।

स्त्रीशरीरे चन्द्रादिधर्मारोपात् प्राणिनामासक्तिरसत्येत्याह— तवेत्यादि । एकपात्रे एकम् असाधारणम् । पात्रं भाजनम् । अमृतेत्यादि— अमृततुल्यमयूखाः किरणा यस्य वा अमृतमयूखश्चन्द्रः स आदिर्येषां पद्मादीनां ते च ते अर्थाश्च ते[तेषां] साधर्म्यतः । मुखस्य हि चन्द्रेण साधर्म्यम्, चक्षुषोः पद्मपत्रैः, केशानां भ्रमरैः, दन्तानां हीरकैः, इत्याद्यर्थैः सादृश्यात् ।

वास्तवमें उतना दुःखदायक नहीं है— उससे अधिक दुःख देनेवाली तो स्त्रियां हैं । अतएव उन स्त्रियोंको ही विषम विष समझना चाहिये । कारण कि उपर्युक्त विषकी तो चिकित्सा भी की जा सकती है, किन्तु स्त्रीरूप विषकी चिकित्सा नहीं की जा सकती है ।। १३५ ।। हे भव्य ! सब दोषोंके अद्वितीय स्थानभूत स्त्रीके शरीरमें यदि चन्द्र आदि पदार्थोंके साधर्म्य (समानता) से तेरा अनुराग है तो फिर निर्मल और उत्तम इन्हीं (चन्द्रादि) पदार्थोंके विषयमें अनुराग करना श्रेष्ठ है । परन्तु कामरूप मद्यके मद (नशा) से अन्धे हुए प्राणीमें प्रायः वह विवेक ही कहा होता है ? अर्थात् उसमें वह विवेक ही नहीं होता है ।। विशेषार्थ— स्त्रीका शरीर अतिशय निन्द्य एवं अनेक दोषोंका स्थान है । फिर भी कवि जन उसके मुखको चन्द्रकी, नेत्रोंको कमलकी, दांतोंको हीरेकी, तथा स्तनोंको अमृतकलशों आदिकी उपमा देते हैं जिससे कि बेचारे भोले प्राणी उसके निन्द्य शरीरको सुन्दर मानकर उसमें अनुराग करते हैं । वे यह नहीं समझते कि जिन चन्द्रादिकी समानता बतलाकर स्त्रीके शरीरको सुन्दर बतलाया जाता है वास्तवमें तो वे ही सुन्दर कहलाये, अतः उनमें ही अनुराग करना उत्तम है, न कि उस घृणित स्त्रीके शरीरमें । परन्तु क्या किया जाय ? जिस प्रकार मद्यपान करनेवाले मनुष्यको उन्मत्त हो जानेके कारण कुछ भी भले बुरेका ज्ञान नहीं रहता है उसी प्रकार कामसे उन्मत्त हुए प्राणियोंको भी अपने

ननु शुचिषु शुभेषु प्रीतिरेष्वेव साध्वी
मदनमधुमदान्धे प्रायशः को विवेकः ॥ १३६ ॥
प्रियामनुभवत्स्वयं भवति कातरं केवलं
परेष्वनुभवत्सु तां विषयिषु स्फुटं ह्लादते ।

शुचिषु निर्मलेषु पवित्रेषु वा । शुभेषु प्रशस्तेषु । एष्वेव अमृतमयूखाद्यर्थेषु । साध्वी शोभना प्रीतिः । मदनमधुमदान्धे मदन एव मधु मद्यं तेन मदान्धे । प्रायशः बाहुल्येन । को विवेकः न कोऽपि ॥ १३६ ॥ मनःपूर्विका च स्त्रीशरीरे रतिः पुंसाम्, तेन च नपुंसकेन कथं तेषामभिभवो युक्तः इत्याह— प्रियामित्यादि । स्वयं प्रियामनुभवत् सत् कातरम् अधीरं भवति । केवलं परम् एकाकी वा । परेषु चक्षुरादिषु प्राण्यन्तरेषु विषयिषु अनुभवत्सु । तां प्रियाम् । ह्लादते उल्लासं गच्छति । नपुंसकं त्विति— नपुंसकमिति पुनः न शब्दतः न केवलं

हिताहितका विवेक नहीं रहता है। इसीलिये वे मल-मूत्रादिसे परिपूर्ण स्त्रीके उस निन्द्य शरीरमें तो अनुराग करते हैं, किन्तु उन व्रत-संयमादिमें अनुराग नहीं करते जो कि उन्हें संसारके दुःखसे उद्धार करानेवाले हैं ॥ १३६ ॥ जो मन प्रियाका अनुभव करते हुए केवल अधीर होता है— उसे भोग नहीं सकता है, तथा जो दूसरे विषयी जनोंको— इन्द्रियोंको— उसका भोग करते हुए देखकर भले प्रकार आनन्दित होता है, वह मन तो शब्दसे और अर्थसे भी निश्चयतः नपुंसक है। फिर इस नपुंसक मनके द्वारा जो सुधी (उत्तम बुद्धिका स्वामी) शब्द और अर्थ दोनों ही प्रकारसे पुरुष है वह कैसे जीता जाता है? अर्थात् नहीं जीता जाना चाहिये था ॥ विशेषार्थ— जो लोग यह कहा करते हैं कि मन अतिशय बलिष्ठ है, उसकी प्रेरणासे ही प्राणियोंकी प्रवृत्ति विषयभोगादिमें होती है; उन्हें यह समझना चाहिये कि वह मन जिस प्रकार शब्दकी दृष्टिसे— व्याकरणकी अपेक्षा— नपुंसक (नपुंसकलिंग) है उसी प्रकार वह अर्थसे भी नपुंसक है। कारण यह कि लोकमें नपुंसक वही गिना जाता है जो कि पुरुषार्थमें असमर्थ होता है। सो वह मन ऐसा ही है, क्योंकि जिस प्रकार नपुंसक स्त्रीके भोगनेकी अभिलाषा रखता हुआ भी इन्द्रियकी विकलतासे उसे

मनो ननु नपुंसकं त्विति न शब्दतश्चार्थतः
सुधीः कथमनेन सन्नुभयथा पुमान् जीयते ॥ १३७ ॥
राज्यं सौजन्ययुक्तं श्रुतवदुरुतपः पूज्यमत्रापि यस्मात्
त्यक्त्वा राज्यं तपस्यन् न लघुरतिलघुः स्यात्तपः प्रोह्य राज्यम् ।

शब्दतो नपुंसकम् अर्थतश्च वाच्यापेक्षयापि । सुधीः सुविवेकी । उभयथा च शब्दतोऽर्थतश्च । पुमान् सन् अनेन उभयथा नपुंसकेन मनसा कथं जीयते ॥ १३७ ॥ तस्मान्मनोऽभिभूय सुविवेकिना सम्यक्तपः कर्तव्यम्, तत्कुर्वतः परमपूज्यतोपपत्तेरित्याह— राज्यमित्यादि । सौजन्ययुक्तं दुष्टनिग्रहशिष्टपालनोपेतम् । श्रुतवदुरुतपः आगमज्ञानपूर्वकं महातपः । अत्रापि

स्वयं तो भोग नहीं सकता है, परन्तु दूसरे जनोंको भोगते हुए देख-सुनकर वह आनन्दित अवश्य होता है; उसी प्रकार वह मन भी स्त्रीके भोगके लिये व्याकुल तो होता है, पर भोग सकता नहीं है, भोगती वे स्पर्शनादि इन्द्रियां हैं जिन्हे कि भोगते हुए देखकर वह प्रसन्न होता है। इस प्रकार वह मन शब्द और अर्थ दोनोंसे ही नपुंसक सिद्ध है। अब जरा पुरुषकी भी अवस्थाको देखिये— वह शब्द और अर्थ दोनोंसे ही पुरुष है। वह शब्दसे पुरुष (पुल्लिंग) है, यह तो व्याकरणसे सिद्ध ही है। साथ ही वह अर्थसे भी पुरुष है। कारण यह कि वह सुधी है— विवेकी है— इसलिये जब वह अपने स्वरूपको समझ लेता है तब लौकिक साधारण स्त्रियोंकी तो बात ही क्या, वह तो मुक्ति-रमणीके भी भोगनेमें समर्थ होता है। अतएव यह समझना भूल है कि मन पुरुषके ऊपर प्रभाव डालता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि पुरुष ही उसे अपने नियन्त्रणमें रखता है। अभिप्राय यह हुआ कि जो पुरुष कहला करके भी यदि अपने मनके ऊपर नियन्त्रण नहीं रख सकता है तो वह वास्तवमें पुरुष कहलानेके योग्य नहीं है ॥ १३७ ॥ सुजनता (न्याय-नीति) से सहित राज्य और शास्त्रज्ञानसे सहित महान् तप, दोनों यहां पूज्य हैं। परन्तु इन दोनोंमें भी चूंकि राज्यको छोड़कर तपश्चरण करनेवाला मनुष्य लघु नहीं

राज्यात्तस्मात्प्रपूज्यं तप इति मनसालोच्य धीमानुदग्रं
कुर्यादार्यः समग्रं प्रभवभयहरं सत्तपः पापभीरुः ॥ १३८ ॥
पुरा शिरसि धार्यन्ते पुष्पाणि विबुधैरपि ।
पश्चात्पादोऽपि नास्प्राक्षीत् किं न कुर्याद् गुणक्षतिः ॥ १३९ ॥

अनयोरपि राज्यतपसोर्मध्ये । प्रोह्य त्यक्त्वा । राज्यं कुर्वन् । उदग्रं महत् । समग्रं बाह्यम् आभ्यन्तरं च । प्रभवभयहरं संसारभयस्फेटकम् ॥ १३८ ॥ तपोलक्षणगुणक्षतेर्लघुत्वं भवतीति अमुमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेण समर्थयमानः प्राह— पुरेत्यादि । अम्लानता-सुगन्धतालक्षणगुणक्षतेः पूर्वम् । विबुधैरपि देवैरपि । पश्चात् गुणक्षतेरुत्तरकालम् । नास्प्राक्षीत् न स्पृष्टवान् ॥१३९॥

रहता— महान् हो जाता है, और इसके विपरीत तपको छोड़कर राज्य करनेवाला मनुष्य अतिलघु– अतिशय निन्द्य– माना जाता है; इसीलिये राज्यकी अपेक्षा तप अतिशय पूज्य है। इस प्रकार मनसे विचार करके जो बुद्धिमान् मनुष्य पापसे डरता है उसे, जो तप संसारके भयको नष्ट करनेवाला एवं महान् है उस समीचीन सम्पूर्ण तपको करना चाहिये ॥१३८॥ जिन पुष्पोंको पहिले देव भी शिरपर धारण करते हैं उनको पीछे पांव भी नहीं छूता है। ठीक ही है– गुणकी हानि क्या नहीं करती है? अर्थात् वह सब कुछ अनर्थ करती है ॥ विशेषार्थ— पूर्व श्लोकमें यह बतलाया था कि जो साधु तपको छोड़कर राजलक्ष्मीका उपभोग करने लगता है वह अतिलघु– अतिशय निन्दाका पात्र– बन जाता है। इसी बातको पुष्ट करनेके लिये यहां यह उदाहरण दिया गया है कि जिस प्रकार जब तक फूल मुरझाते नहीं और अपनी सुगन्धिको नहीं छोड़ते हैं तब तक उन्हें देव भी शिरपर धारण करते हैं, किन्तु वे ही जब मुरझाकर सुगन्धिसे रहित हो जाते हैं तब उन्हें कोई पांवसे भी नहीं छूता है। ठीक इसी प्रकारसे जब तक साधु तप-संयम आदिमें स्थित रहता है तब तक साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है, किन्तु महान् देव भी उसकी पूजा करते हैं। परन्तु पीछे यदि वही तपसे भ्रष्ट होकर विषयोंमें प्रवृत्त हो जाता है तो फिर उसको कोई भी नहीं पूछता है– सभी उसकी निन्दा करते हैं। अभिप्राय यह है कि पूजा-प्रतिष्ठाका कारण गुण हैं, न कि बाह्य धन-सम्पत्ति आदि ॥ १३९ ॥ हे चन्द्र! तू मलिनतारूप दोषसे

हे चन्द्रमः किमिति लाञ्छनवानभूस्त्वं
तद्वान् भवेः किमिति तन्मय एव नाभूः ।
किं ज्योत्स्नया मलमलं तव घोषयन्त्या
स्वर्भानुवन्ननु तथा सति नासि लक्ष्यः ॥ १४० ॥

प्रचुरेष्वपि गुणेषु दोषत्वलेशस्यापि अवस्थानं न श्रेष्ठम्। तदवस्थाने वा तन्मयतैव श्रेष्ठेत्यन्योक्त्या दर्शयन्नाह— हे चन्द्रम इत्यादि। लाञ्छनवान् लाञ्छनं मलिनतादोषः तद्युक्तः अभूः संजातः। तद्वान् लाञ्छनवान्। तन्मय एव लाञ्छनमय एव। किं ज्योत्स्नया पदार्थप्रकाशरूपतया। न किमपि तया तव प्रयोजनम्। किं कुर्वत्या। घोषयन्त्या। किम्। मलं लाञ्छनरूपं मलिनताम्। अलम् अत्यर्थेन। कस्य। तव। तथा सति तन्मयत्वे सति। नासि लक्ष्यः न भवसि कस्यचिदपि ग्राह्यः। किंवत्। स्वर्भानुवत् राहुवत् ॥१४०॥ विद्यमाने दोषे

सहित क्यों हुआ? यदि तुझे मलिनतासे सहित ही होना था तो फिर पूर्णरूपसे उस मलिनतास्वरूप ही क्यों नहीं हुआ? तेरी उस मलिनताको अतिशय प्रगट करनेवाली चादनीसे क्या लाभ है? कुछ भी नहीं। यदि तू सर्वथा मलिन हुआ होता तो वैसी अवस्थामें राहुके समान देखनेमें तो नहीं आता ॥ विशेषार्थ— यहा चन्द्रको लक्ष्य बनाकर ऐसे साधुकी निन्दा की गई है जो कि साधुके वेषमें रहकर उसको (साधुत्वको) मलिन करता है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार चन्द्रमें आल्हादजनकत्व आदि अनेक गुणोंके होनेपर भी उसमें जो थोड़ी-सी कालिमा दृष्टिगोचर होती है वह उसके अन्य गुणोंकी प्रतिष्ठा नहीं होने देती है। इतना ही नहीं, बल्कि वह उस थोड़े-से दोषके कारण कलङ्की कहा जाता है। यदि वह कदाचित् राहुके समान पूर्णरूपसे काला होता तो फिर उसकी ओर किसीका ध्यान भी नहीं जाता। उसकी इस मलिनताको प्रगट करनेवाली उसकी ही वह निर्मल चांदनी है। ठीक इसी प्रकारसे जो साधु व्रत-संयमादिका पालन करते हुए भी यदि उस साधुत्वको मलिन करनेवाले किसी दोषसे संयुक्त होता है तो फिर वह उक्त चन्द्रमाके समान कलंकी (निन्द्य) हो जाता है। इससे तो यदि कहीं वह

दोषान् कांश्चन तान् प्रवर्तकतया प्रच्छाद्य गच्छत्ययं
सार्धं तैः सहसा म्रियेद्यदि गुरुः पश्चात्करोत्येष किम् ।
तस्मान्मे न गुरुर्गुरुर्गुरुतरान् कृत्वा लघूंश्च स्फुटं
ब्रूते यः सततं समीक्ष्य निपुणं सोऽयं खलः सद्गुरुः ॥ १४१ ॥

प्रकाशकप्रच्छादकयोर्दुर्जनाचार्ययोः उपकारकापकारत्वाभ्याम् आराध्यानाराध्यत्वे दर्शयन्नाह— दोषानित्यादि । तान् चारित्राद्यतिचाररूपान् । प्रवर्तकतया अविवेकतया । प्रच्छाद्य अप्रकाश्य । गच्छति प्रवर्तते । अयं गुरुः । सार्धं सह । तैः दोषैः । न गुरुः गुरुः आचार्यः न गुरुः आराध्यः । लघूंश्च लघूनपि दोषान् । गुरुतरान् अतिशयेन महतः कृत्वा । सद्गुरुः शोभनगुरुः परदया(?)दोषविशुद्धिहेतुत्वात् ॥ १४१ ॥ ननु शिष्यस्य चिन्ता[न्ता]प्रसक्तिप्रति-

गृहस्थ होता तो अच्छा था– वैसी अवस्थामें उसकी ओर किसीकी दृष्टि भी नहीं जाती। कारण इसका यह है कि बहुत-से गुणोंके होनेपर यदि कोई दोष होता है वह लोगोंकी दृष्टिमें अवश्य आ जाता है। जैसे कि यदि किसी स्वच्छ कपड़ेपर कहींसे काला धब्बा पड़ जाता है तो वह अवश्य ही देखनेमें आ जाता है, किन्तु वैसा ही धब्बा यदि किसी मलिन वस्त्रपर पड़ जाता है तो न तो प्रायः वह देखनेमें ही आता है और न कोई उसके ऊपर किसी प्रकारकी टीका-टिप्पणी भी करता है। तात्पर्य यह है कि साधुको अपने निर्मल मुनिधर्मको सुरक्षित रखनेके लिये छोटे-से भी छोटे दोषसे बचना चाहिये, अन्यथा उसे इस लोकमें निन्दा और परलोकमें दुर्गतिका पात्र बनना ही पड़ेगा ।। १४० ।। यदि यह गुरु शिष्यके उन किन्हीं दोषोंको प्रवृत्ति करानेकी इच्छासे अथवा अज्ञानतासे आच्छादित करके– प्रकाशित न करके– चलता है और इस बीचमें यदि वह शिष्य उक्त दोषोंके साथ मरणको प्राप्त हो जाता है तो फिर यह गुरु पीछे क्या कर सकता है? कुछ भी उसका भला नहीं कर सकता है। ऐसी स्थितिमें वह शिष्य विचार करता है कि मेरे दोषोंको आच्छादित करनेवाला वह गुरु वास्तवमें मेरा गुरु (हितैषी आचार्य) नहीं है। किन्तु जो दुष्ट मेरे क्षुद्र भी दोषोंको निरन्तर सूक्ष्मतासे देख करके

विकाशयन्ति भव्यस्य मनोमुकुलमंशवः।
रवेरिवारविन्दस्य कठोराश्च गुरूक्तयः॥ १४२॥

षेधार्थम् आचार्या दोषं प्रच्छाद्य गच्छन्तीत्याशङ्क्याह— विकाशयन्तीत्यादि । मन एव मुकुलं बोण्डिका तत् । विकाशयन्ति प्रह्लादयन्ति प्रबोधयन्ति वा । काः । गुरूक्तयः गुरुवचनानि । किंविशिष्टाः । कठोराश्च विषयप्रवृत्तिनिषेधोपवासप्रायश्चित्तादिविधायकत्वेन कठोरा कर्कशा

और उन्हें अतिशय महान् बना करके स्पष्टतासे कहता है वह यह दुष्ट ही मेरा समीचीन गुरु है ।। विशेषार्थ— गुरु वास्तवमें वह होता है जो कि शिष्यके दोषोंको दूर करके उसे उत्तमोत्तम गुणोंसे विभूषित करता है । इस कार्यमें यदि उसे कुछ कठोरताका भी व्यवहार करना पड़े, जो कि उस समय शिष्यको प्रतिकूल भी दिखता हो तो भी उसे इसकी चिन्ता नहीं करना चाहिये । कारण कि ऐसा करनेसे उस शिष्यका भविष्यमें कल्याण ही होनेवाला है । परन्तु इसके विपरीत जो गुरु शिष्यके दोषोंको देखता हुआ भी यह सोचता है कि यदि अभी इन दोषोंको दूर करानेका प्रयत्न करूंगा तो शायद वह अभी उन्हें दूर न कर सके या क्रुद्ध होकर संघसे अलग हो जावे, ऐसी अवस्थामें संघकी प्रवृत्ति नहीं चल सकेगी; इसी विचारसे जो उसके दोषोंको प्रकाशमें नहीं लाता है वह गुरु वास्तवमें गुरु पदके योग्य नहीं है । कारण यह कि मृत्युका समय कुछ निश्चित नहीं है, ऐसी अवस्थामें यदि इस बीचमें उन दोषोंके रहते हुए शिष्यका मरण हो गया तो वह दुर्गतिमें जाकर दुःखी होगा । इसीलिये ऐसे गुरुकी अपेक्षा उस दुष्टको ही अच्छा बतलाया गया है जो कि भले ही दुष्ट अभिप्रायसे भी दूसरेके सूक्ष्म भी दोषोंको बढ़ा-चढ़ाकर प्रगट करता है । कारण यह कि ऐसा करनेसे जो आत्महितका अभिलाषी है वह उन दोषोंको दूर करके आत्मकल्याण कर लेता है ॥ १४१ ॥ कठोर भी गुरुके वचन भव्य जीवके मनको इस प्रकारसे प्रफुल्लित (आनन्दित) करते हैं जिस प्रकार कि सूर्यकी कठोर (संतापजनक) भी किरणें कमलकी

अपि । के इव कस्य । रवेरिव अंशवः किरणाः कठोराश्च विकाशयन्ति । अरविन्दस्य पद्मस्य मुकुलम् ॥ १४२ ॥ तथाभूतोक्तिभिश्च धर्मं प्रतिपादयितुं प्रतिपत्तुं च सांप्रतं प्रविरलाः

कलीको प्रफुल्लित किया करती हैं ।। विशेषार्थ— पूर्व श्लोकमें शिष्यके दोषोंको प्रगट न करनेवाले जिस गुरुकी निन्दा की गई है उसके विषयमें यह शंका उपस्थित हो सकती थी कि वह जो अपने शिष्यके दोषोंको प्रगट नहीं करता है वह इस कारणसे कि शिष्य किसी प्रकारकी चिन्तामें न पड़े या ऐसा करनेसे उसे किसी प्रकारका कष्ट न हो । अतएव वह गुरु निन्द्य नहीं कहा जा सकता है । इस शंकाके उत्तरस्वरूप यहां यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार सूर्यकी किरणें अन्य प्राणियोंके लिये यद्यपि कठोर (संतापकारक) प्रतीत होती हैं तो भी उनसे कमलकलिका तो प्रफुल्लित ही होती है । इसी प्रकार जो शिष्य आत्महितसे विमुख हैं उन्हें ही गुरुके हितकारक भी वचन कठोर प्रतीत होते हैं, किन्तु जो शिष्य आत्महितकी अभिलाषा रखते हैं उनको तत्क्षण कठोर प्रतीत होनेवाले भी वे वचन परिणाममें आनन्दजनक ही प्रतीत होते हैं– उन्हें इन कठोर वचनोंसे किसी प्रकारकी चिन्ता व खेद नहीं होता है । इसके अतिरिक्त यह नीति भी तो प्रसिद्ध है कि " हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः " । इस नीतिके अनुसार छद्मस्थ प्राणियोंके जो वचन परिणाममें हितकारक होते हैं वे प्रायः मनोहर नहीं प्रतीत होते हैं और जो वचन बाह्यमें मनोहर प्रतीत होते हैं वे परिणाममें हितकारक नहीं होते हैं । अतएव शिष्यके हितको चाहनेवाले गुरुको उसे योग्य मार्गपर ले जानेके लिये यदि कदाचित् कठोर व्यवहार भी करना पड़े तो दयार्द्रचित्त होकर उसे भी करना ही चाहिये । इस प्रकारसे वह अपने कर्तव्यसे च्युत नहीं होता है– उसका पालन ही करता है ।। १४२ ।। पूर्व कालमें जिस धर्मके आचरणसे इस लोक और परलोक दोनों ही लोकोंमें हित होता है उस धर्मका व्याख्यान

लोकद्वयहितं वक्तुं श्रोतुं च सुलभाः पुरा।
दुर्लभाः कर्तुमद्यत्वे वक्तुं श्रोतुं च दुर्लभाः ॥ १४३ ॥
गुणागुणविवेकिभिर्विहितमप्यलं दूषणं
भवेत् सदुपदेशवन्मतिमतामतिप्रीतये।
कृतं किमपि धाष्टर्यतः स्तवनमप्यतीर्थोषितैः
न तोषयति तन्मनांसि खलु कष्टमज्ञानता ॥ १४४ ॥

प्राणिनः इत्याह— लोकेत्यादि। लोकद्वयहितं इहलोकपरलोकोपकारकम्। अद्यत्वे इदानींतनकाले ॥ १४३ ॥ ननु लोकद्वयहितं ब्रुवाणैः परेषां दोषान् प्रतिपाद्य ततो व्यावृत्तिः कारयितव्या तथाचानिष्टप्रसंगाच्च किंचित्सन्मार्गे प्रवर्तते इत्याशङ्का निराकुर्वन्नाह— गुणेत्यादि। विहितम् उद्भावितम्। दूषणमपि किंचित्। धाष्टर्यतः धृष्टत्वमवलम्ब्य। अतीर्थोषितैः आगमानभिज्ञैः। तन्मनांसि मतिमता मनांसि ॥ १४४ ॥ उद्भाविते च दूषणे दोषदर्शनात्त्यागो गुणदर्शनाच्चोपादानं प्रज्ञावता[1] कर्तव्यमित्याह— त्यक्तेत्यादि। गुणदोषदर्शनलक्षणा-

करनेके लिये तथा उसे सुननेके लिये भी बहुतसे जन सरलतासे उपलब्ध होते थे, परन्तु तदनुकूल आचरण करनेके लिये उस समय भी बहुत जन दुर्लभ ही थे। किन्तु वर्तमानमें तो उक्त धर्मका व्याख्यान करनेके लिये और सुननेके लिये भी मनुष्य दुर्लभ हैं, फिर उसका आचरण करनेवाले तो दूर ही रहे ॥ १४३ ॥ जो गुण और दोषका विचार करनेवाले सज्जन हैं वे यदि कदाचित् किसी दोषको भी अतिशय प्रगट करते हैं तो वह बुद्धिमान् मनुष्योंके लिये उत्तम उपदेशके समान अत्यन्त प्रीतिका कारण होता है। परन्तु जो आगमज्ञानसे रहित हैं ऐसे अविवेकी जनोंके द्वारा यदि धृष्टतासे कुछ प्रशंसा भी की जाती है तो वह उन बुद्धिमान् मनुष्योंके मनको सन्तुष्ट नहीं करती है। निश्चयसे वह अज्ञानता ही दुःखदायक है ॥ १४४ ॥ जो अन्य कारणोंकी अपेक्षा न करके केवल गुणके कारण किसी वस्तु (सम्यग्दर्शनादि) को ग्रहण करता है और दोषके कारण उसका (मिथ्यात्व

१ ज स प्रेक्षवतां।

त्यक्तहेत्वन्तरापेक्षौ गुणदोषनिबन्धनौ।
यस्यादानपरित्यागौ स एव विदुषां वरः॥ १४५॥
हितं हित्वाहिते स्थित्वा दुर्धीर्दुःखायसे भृशम्।
विपर्यये तयोरेधि त्वं सुखायिष्यसे सुधीः॥ १४६॥
इमे दोषास्तेषां प्रभवनममीभ्यो नियमतः
गुणाश्चैते तेषामपि भवनमेतेभ्य इति यः।

हेतोः अन्यो हेतुर्हेत्वन्तरं रागद्वेषादि, त्यक्ता हेत्वन्तरे अपेक्षा ययोस्तौ त्यक्तहेत्वन्तरापेक्षौ। गुणदोषनिबन्धनौ गुणाः [1]सुगतिसुखहेतुत्वादिः, दोषो दुर्गतिदुःखहेतुत्वादिः। आदान-परित्यागौ आदानं सम्यग्दर्शनादेः, परित्यागो मिथ्यादर्शनादेः॥ १४५॥ विपक्षे दूषणमाह— हितमित्यादि। हितं सम्यग्दर्शनादि। हित्वा त्यक्त्वा। अहिते मिथ्यादर्शनादौ स्थित्वा। दुर्धीः विपर्यस्तबुद्धिः। दुःखायसे दुःखमात्मनः करोषि। विपर्यये तयोरेधि एधि भव। क। तयोर्विपर्यये हिताहितयोः स्थानपरित्यागौ। सुखायिष्यसे सुखम् आत्मनः करिष्यसि॥ १४६॥ हिते स्थानम् अहिते त्यागश्च गुणदोषयोः सहेतुकयोः ज्ञातयोरेवं

आदिका) परित्याग करता है वही विद्वानोंमें श्रेष्ठ गिना जाता है॥ १४५॥ हे भव्य ! तू दुर्बुद्धि (अज्ञानी) होकर जो सम्यग्दर्शन आदि तेरा हित करनेवाले हैं उनको तो छोड़ता है और जो मिथ्यादर्शनादि तेरा अहित करनेवाले हैं उनमें स्थित होता है। इस प्रकारसे तू अपने आपको दुःखी करता है। तू विवेकी होकर इससे विपरीत प्रवृत्ति कर, अर्थात् अहित-कारक मिथ्यादर्शनादिको छोड़कर हितकारक सम्यग्दर्शनादिको ग्रहण कर। इस प्रकारसे तू अपनेको सुखी करेगा॥ १४६॥ ये (मिथ्यादर्शन आदि) दोष हैं और इनकी उत्पत्ति नियमतः इनसे (दर्शनमोहनीय आदिसे) होती है, तथा ये (सम्यग्दर्शनादि) गुण हैं और उनकी भी उत्पत्ति इनसे (दर्शनमोहनीयके उपशम, क्षय और क्षयोपशम आदिसे) होती है, ऐसा निश्चय करके जो छोड़ने योग्य कारणोंको छोड़ता है और हितके कारणोंको स्वीकार करता है वह विद्वान् है, वही सम्यक्चारित्रसे सम्पन्न है, और

१ ज स सुगतिः।

त्यजंस्त्याज्यान् हेतून् झटिति हिततेहून् प्रतिभजन्
स विद्वान् सद्वृत्तः स हि स हि निधिः सौख्ययशसोः ॥ १४७ ॥

भवतीति दर्शयन्नाह— इमे इत्यादि । इमे प्रतीयमाना मिथ्यादर्शनादयो, रागादयश्च । तेषां मिथ्यादर्शनादीनां प्रभवनम् उत्पत्तिः । अमीभ्यो दर्शनमोहादिभ्यो मिथ्योपदेशादिभ्यश्च विषयेभ्यश्च[1] वा चारित्रमोहादिभ्यश्च । नियमतः अवश्यंभावेन । गुणाः सम्यग्दर्शनादयो वीतरागत्वादयश्च । एते प्रतीयमानाः । तेषामपि गुणानामपि । भवनम् उत्पत्तिः । एतेभ्यो दर्शनमोहक्षयोपशमादिभ्यः निसर्गाधिगमादिभ्यश्च चारित्रमोहक्षयोपशमादिभ्यश्च परिग्रह-परित्यागादिभ्यश्च । त्याज्यान् हेतून् दोषजनकान् । हितहेतून् गुणजनकान् । प्रतिभजन् स्वीकुर्वन् ॥ १४७ ॥ विवेकिना हिताहितयोर्वृद्धिनाशौ कर्तव्यौ, ततोऽन्यत्र वृद्धिनाशयोः

वही सुख एवं कीर्तिका घर भी है ॥ विशेषार्थ— जिसे गुण और दोषके विषयमें विवेक उत्पन्न हो चुका है उसे यह निश्चय हो जाता है कि सम्यग्दर्शनादि गुण हैं, क्योंकि वे आत्माका कल्याण करनेवाले हैं; तथा इनके विपरीत मिथ्यादर्शन आदि दोष हैं, क्योंकि वे आत्माका अहित करनेवाले हैं । कहा भी है— न सम्यक्त्वसमं किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि । श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥ अर्थात् तीनों काल और तीनों लोकोंमें सम्यक्त्वके समान दूसरा कोई प्राणियोंका हितकारक नहीं है और मिथ्यात्वके समान अन्य कोई अहितकारक नहीं है ॥ र. श्रा. ३४. इस प्रकार गुण-दोषोंका निश्चय हो जानेपर जो दोषोंके कारणोंको— मिथ्या उपदेश एवं विषयाकांक्षा आदिको— खोजकर उन्हें छोड़ देता है और गुणोंके कारणोंको— सदुपदेश एवं विषयतृष्णानिवृत्ति आदिको— खोजकर उन्हें ग्रहण कर लेता है वह मोक्षमार्गका पथिक हो जाता है । कारण यह कि उसे जो विवेकपूर्वक गुण-दोषका परिज्ञान हुआ है वह तो हुआ सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञान; तथा गुणके कारणोंका ग्रहण और दोषके कारणोंका परित्याग यह हुआ सम्यक्चारित्र; इस प्रकारसे वह रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होकर शीघ्र ही अविनश्वर सुखको प्राप्त कर लेता है ॥ १४७ ॥ पूर्व जन्ममें संचित किये गये पुण्य और पाप कर्मके

१ ज ' विषयेभ्यश्च ' इति नास्ति ।

साधारणौ सकलजन्तुषु वृद्धिनाशौ
जन्मान्तरार्जितशुभाशुभकर्मयोगात् ।
धीमान् स यः सुगतिसाधनवृद्धिनाशः
तद्व्यत्ययाद्विगतधीरपरोऽभ्यधायि ॥ १४८ ॥

सकलप्राणिसाधारणत्वात् इत्याह— साधारणावित्यादि । साधारणौ सकलजन्तुषु 'विद्यमानौ । आयुःशरीर-संपदादीनां वृद्धिनाशौ । कस्मात् । जन्मान्तरार्जितशुभाशुभकर्मयोगात् पूर्वभवोपार्जितपुण्य-पापसद्भावात् । सुगतीत्यादि । सुगतेर्मुक्तेः साधने सिद्धौ वृद्धिनाशौ यस्य । वृद्धिः सम्यद‍्र्शनादीनाम्, नाशो मिथ्याज्ञानादीनाम् । तद्व्यत्ययात् दुर्गतिसाधनवृद्धिनाशात् । अभ्यधायि प्रतिपादितः ॥ १४८ ॥ ये च सुगतिसाधनवृद्धिकरास्ते प्रविरला इति

उदयसे जो आयु, शरीर एवं धन-सम्पत्ति आदिकी वृद्धि और उनका नाश होना है वे दोनों तो समस्त प्राणियोंमें ही समानरूपसे पाये जाते हैं। परन्तु जो सुगति अर्थात् मोक्षको सिद्ध करनेवाले वृद्धि एवं नाशको अपनाता है वह बुद्धिमान्, तथा दूसरा इनकी विपरीततासे– दुर्गतिके साधनभूत वृद्धि-नाशको अपनानेसे– निर्बुद्धि (मूर्ख) कहा जाता है ॥ विशेषार्थ— लोकमें जिसके पास धन-सम्पत्ति आदिकी वृद्धि होती है वह बुद्धिमान् तथा जिसके पास उसका अभाव होता है वह मूर्ख माना जाता है। परन्तु यथार्थमें यह अज्ञानता है, क्योंकि धन-सम्पत्ति आदिकी वृद्धिका कारण बुद्धि नहीं है, बल्कि प्राणीके पूर्वोपार्जित पुण्यका उदय ही उसका कारण है। इसी प्रकार उक्त सम्पत्तिके नाशका कारण भी मूर्खता नहीं है, बल्कि प्राणीके पूर्वोपार्जित पापका उदय ही उसका कारण है। बुद्धिमान् तो वास्तवमें उसे समझना चाहिये कि जो समीचीन सुख (मोक्ष) के साधनभूत सम्यग्दर्शनादिको बढ़ाता है तथा उसमें बाधा पहुंचानेवाले मिथ्यादर्शनादिको नष्ट करता है। और जो इसके विपरीत आचरण करता है– नरकादि दुर्गतिके साधनभूत मिथ्यादर्शनादिको बढ़ाता है तथा उसको रोकनेवाले सम्यग्दर्शनादिको नष्ट करता है– उसे वास्तवमें मूर्ख समझना चाहिये ॥ १४८ ॥

कलौ दण्डो नीतिः स च नृपतिभिस्ते नृपतयो
नयन्त्यर्थार्थं तं न च धनमदोऽस्त्याश्रमवताम् ।

दर्शयन्नाह— कलावित्यादि । अर्थार्थम् अर्थनिमित्तम् । तं दण्डम् । नयन्ति कुर्वन्ति । अदः एतद्दण्डहेतुभूतं धनम् । अस्ति न च आश्रमवतां यतीनाम् । तपःस्थेषु मध्ये तपस्विषु

इस कलि कालमें (पंचम कालमें) एक दण्ड ही नीति है, सो वह दण्ड राजाओंके द्वारा दिया जाता है। वे राजा उस दण्डको धनका कारण बनाते हैं और वह धन वनवासी साधुओंके पास होता नहीं है। इधर वन्दना आदिमें अनुराग रखनेवाले आचार्य नम्रीभूत शिष्य साधुओंको सन्मार्गपर चला नहीं सकते हैं। ऐसी अवस्थामें तपस्वियोंके मध्यमें समुचित साधुधर्मका परिपालन करनेवाले शोभायमान मणियोंके समान अतिशय विरल हो गये हैं— बहुत थोडे रह गये हैं॥ विशेषार्थ— वर्तमानमें जो जीवोंकी सन्मार्गमें कुछ प्रवृत्ति देखी जाती है वह प्रायः दण्डके भयसे ही देखी जाती है। परन्तु वह दण्ड राजाके आश्रित है— वह जिनसे धनादिका लाभ देखता है उन्हें दण्डित करता है। इससे यद्यपि साधारण जनतामें कुछ सदाचारकी प्रवृत्ति हो सकती है, तथापि उस दण्डके भयसे साधुजनोंमें उसकी सम्भावना नहीं की जा सकती है। कारण यह है कि साधुओंके पास धन तो रहता नहीं है जिससे कि राजा उनकी ओर दृष्टिपात करे। दूसरे, धर्मनीतिके अनुसार यह कार्य राजाके अधिकारका है भी नहीं। ऐसी अवस्थामें उक्त साधुओंको यदि सन्मार्गमें प्रवृत्त करा सकते हैं तो उनके आचार्य ही करा सकते हैं। परन्तु वे आचार्य वर्तमानमें आत्मप्रतिष्ठाके इच्छुक अधिक हैं, इससे वे शिष्योंकी यथेच्छ प्रवृत्तिको देख करके भी उन्हें दण्ड नहीं देते हैं। इसका कारण यह है कि दण्ड देते हुए उन्हें यह भय रहता है कि यदि दण्ड देनेसे वे शिष्य असन्तुष्ट हो गये तो फिर मुझे प्रणाम आदि न करेंगे। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि वे मेरे संघसे पृथक् हो जांय। ऐसी

नतानामाचार्या न हि नतिरताः साधुचरिताः
तपःस्थेषु श्रीमन्मणय इव जाताः प्रविरलाः ॥ १४९ ॥
एते ते मुनिमानिनः कवलिताः कान्ताकटाक्षेक्षणै-
रङ्गालग्नशरावसन्नहरिणप्रख्या भ्रमन्त्याकुलाः ।

मध्ये ॥ १४९ ॥ ये [1]चाचार्याणामनुपनताः स्वेच्छाचारिणस्तैः सह सांगत्यं न कर्तव्यमित्याह— एते इत्यादि । कवलिताः ग्रस्ताः । कटाक्षेक्षणैः कटाक्षैः ईक्षणानि अवलोकितानि तैः । अङ्गेत्यादि– अङ्गे आलग्नः च असौ शरश्च बाणस्तेन अवसन्नः पीडितः स चासौ हरिणश्च तेन प्रख्याः सदृशाः । आकुलाः विक्षिप्तचित्ताः । संधर्तुं व्यवस्थापयितुम् । विषयेत्यादि– विषया एव अटव्याः स्थलम् उच्चैः प्रदेशः, तस्य तले उपरितनभागे स्वान् आत्मनः । मरु-

अवस्थामें मेरे इस आचार्य पदकी क्या प्रतिष्ठा रहेगी ? बस इसी भयसे वे उन्हें दण्ड देनेमें असमर्थ हो जाते हैं । परिणाम इसका यह होता है कि उनकी उच्छृंखल प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है और इस प्रकारसे मुनिव्रतोंका उत्तम रीतिसे परिपालन करनेवाले विरले ही दिखने लगे हैं । यह साधुओंकी दुरवस्था ग्रन्थकार श्री गुणभद्राचार्यके भी समयमें हो चुकी थी । इसीलिये उन्होंने यहां यह स्पष्ट संकेत किया है कि प्रतिष्ठा-लोलुपी आचार्योंका अपने संघोंपर समुचित शासन न रह सकनेसे समीचीन साधुधर्मका आचरण करनेवाले साधु कान्तिमान् मणियोंके समान बहुत ही थोड़े रह गये हैं ।। १४९ ।। ये जो अपनेको मुनि माननेवाले साधु हैं वे स्त्रियोंके कटाक्षपूर्ण अवलोकनोंके ग्रास बनकर शरीरमें लगे हुए बाणोंसे खेदको प्राप्त हुए हरिणोंके समान व्याकुल होकर परिभ्रमण करते हैं । परन्तु खेद है कि वे विषयरूप वनस्थलीके मध्यमें अपनेको कहींपर भी स्थिर रखनेके लिये समर्थ नहीं होते हैं । हे भव्य ! तू वायुसे ताडित हुए मेघोंके समान अस्थिरताको प्राप्त हुए इन साधुओंकी संगतिको प्राप्त न हो ।। विशेषार्थ— जिस प्रकार अहेरीके द्वारा मारे गये बाणोंसे व्यथित हुए हिरण इधर ऊधर वनमें भागते हैं परन्तु कहीं भी अपनेको

1 ज स ये चार्याणां ।

संधत्तुं विषयाटवीस्थलतले स्वान् क्वाप्यहो न क्षमाः
मा वाजीन्मरुदाहताभ्रचपलैः संसर्गमेभिर्भवान् ॥ १५० ॥
गेहं गुहाः[1] परिदधासि दिशो विहायः
संव्यानमिष्टमशनं[2] तपसोऽभिवृद्धिः।

दित्यादि– मरुता वायुना आहतं च तदभ्रं च तद्वत् चपलैः अप्रतिज्ञातव्रतैः च अस्थिरैः। एभिः शिथिलचारित्रैः पुरुषैः ॥ १५० ॥ एतैश्च सह संसर्गम् अगच्छन्नेवंविधां सामग्रीं प्राप्य याच्यारहितस्तिष्ठेति शिक्षां प्रयच्छन्नाह— गेहमित्यादि। विहायः आकाशम्।

स्थिर नहीं रख पाते हैं उसी प्रकार मुनिधर्मसे भ्रष्ट होकर भी अपनेको मुनि माननेवाले जो साधु स्त्रियोंकी कटाक्षपूर्ण चितवनसे पीडित होकर विषय-वनमें विचरण करते हुए कहींपर भी स्थिर नहीं रहते हैं, किन्तु एकसे दूसरे और दूसरेसे तीसरे आदि विषयोंकी सदा अभिलाषा रखकर संतप्त होते हैं, वे मुनि ऐसे अस्थिरचित्त हैं जैसे कि वायुसे प्रेरित होकर बादल अस्थिर होते हैं। ऐसे साधुओंके संसर्गमें रहकर कोई भी प्राणी आत्महित नहीं कर सकता है। इसीलिये यहां यह उपदेश दिया गया है कि जो भव्य जीव अपना हित करना चाहते हैं उन्हें ऐसे भ्रष्ट साधुओंसे दूर ही रहना चाहिये ॥ १५० ॥ हे आगमके रहस्यके जानकार साधु ! तेरे लिये गुफायें ही घर हैं, दिशायें एवं आकाश ही तेरा वस्त्र है उसे तू पहिन, तपकी वृद्धि ही तेरा इष्ट भोजन है, तथा स्त्रीके स्थानमें तू सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे अनुराग कर। इस प्रकार तुझे याचनाके योग्य कुछ भी नहीं है। अतएव तू वृथा ही याचनाजनित दीनताको न प्राप्त हो ॥ विशेषार्थ— याचना करनेसे स्वाभिमान नष्ट होकर मनुष्यमें दीनता उत्पन्न होती है। इसीलिये यहां साधुको याचनासे रहित होनेकी प्रेरणा करते हुए यह बतलाया है कि जिन पदार्थोंकी दूसरोंसे याचना की जाती है वे

१ प मु (जै., नि.) गुहा। २ मु (जै., नि.) संयान°।

प्राप्तागमार्थं तव सन्ति गुणाः कलत्र-
मप्रार्थ्यवृत्तिरसि यासि वृथैव याच्ञाम् ॥ १५१ ॥
परमाणोः परं नाल्पं नभसो न महत्परम्।
इति ब्रुवन् किमद्राक्षीन्नेमौ दीनाभिमानिनौ ॥ १५२ ॥

संव्यानम् उत्तरीयं वस्त्रम्। हे प्राप्तागमार्थ। अप्रार्थ्यवृत्तिः न विद्यते प्राथ्र्ये प्रार्थनीये वृत्तिरस्येति अप्रार्थ्यवृत्तिः। असि भवसि त्वम् ॥ १५१ ॥ अनेन प्रकारेण यो हि याच्ञां करोति स लघुर्यस्तु न करोति सोऽतिगुरुरिति दर्शयन्नाह— परमाणोरित्यादि।

तेरे पास स्वाभाविक हैं। यथा— मनुष्य दूसरोंसे अर्थ (धन) की याचना करता है, सो तेरे लिये आगमका अर्थ (रहस्य) प्राप्त है ही। यह उस लौकिक धनसे अधिक कल्याणकारी है। इसके अतिरिक्त तुझे रहनेके लिये गुफायें विद्यमान हैं, अतएव घरकी याचना करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। दिशायें ही तेरे लिये वस्त्र हैं। लौकिक वस्त्र तो चिन्ताका कारण है, अतएव उसको छोड़कर दिगम्बर रह और निश्चिन्त होकर तपकी वृद्धि कर। यह तपकी वृद्धि तेरे अभीष्ट भोजनका काम करेगी। स्त्रीके स्थानमें तेरे पास उत्तम क्षमा आदि गुण विद्यमान हैं, तू इनसे अधिकसे अधिक अनुराग कर। इस प्रकार तेरे पास सब आवश्यक सामग्री विद्यमान है, अतएव दीन बनकर तू व्यर्थमें किसीसे याचना मत कर। याचना करनेसे मनुष्य श्रीहीन होकर निर्लज्ज बन जाता है, उसकी बुद्धि और धैर्य नष्ट हो जाता है, तथा अपयश बढ़ता है। किसीने यह ठीक ही कहा है— देहीति वचनं श्रुत्वा देहस्थाः पञ्च देवताः। मुखान्निर्गत्य गच्छन्ति श्री-ह्री-धी-धृति-कीर्तयः ॥ अर्थात् 'देहि (मुझे कुछ दो)' इस वचनको सुनकर शोभा, लज्जा, बुद्धि, धैर्य और कीर्ति ये शरीररूप भवनमें रहनेवाले पांच देवता 'देहि' इस वचनके साथ ही मुखसे निकल कर चले जाते हैं। अतएव ऐसी याचनाका परित्याग करना ही योग्य है ॥ १५१ ॥ परमाणुसे दूसरा कोई छोटा नहीं है और आकाशसे दूसरा कोई बड़ा नहीं है, ऐसा

याचितुर्गौरवं दातुर्मन्ये संक्रान्तमन्यथा।
तदवस्थौ कथं स्यातामेतौ गुरुलघू तदा ॥ १५३ ॥

इति एवम् अल्पबहुत्वे नियमं ब्रुवन्। किम् अद्राक्षीत् दृष्टवान् न इमौ दीनाभिमानिनौ। परमाणोर्हि परं नाल्पम् इत्युक्तं [इत्ययुक्तं] दीनस्य याचितुः ततोऽप्यतिलघुत्वसंभवात्। तथा नभसो न परं महत् इत्यप्यसत्, अभिमानिनोऽयाचकस्य ततोऽप्यतिमहत्त्वसंभवात् ॥ १५२ ॥ ननु याचितुः गौरवं क्व गतं येनाल्पत्वं तस्य स्यात् इत्याह— याचितुरित्यादि। तदवस्थौ सा याचनदानलक्षणावस्था ययोः ॥ १५३ ॥ तदा याचन-

कहनेवालेने क्या इन दीन और अभिमानी मनुष्योंको नहीं देखा है ? ॥ विशेषार्थ— लोकमें सबसे छोटा परमाणु समझा जाता है। परन्तु विचार करें तो याचकको उस परमाणुसे भी छोटा (तुच्छ) समझना चाहिये। कारण यह कि याचना करनेसे उसके सब ही उत्तम गुण नष्ट हो जाते हैं। वह दीन बनकर सबके मुंहकी ओर देखता है, परन्तु उसकी ओर कोई दृष्टिपात भी नहीं करता। इस प्रकार उसकी सब प्रतिष्ठा जाती रहती है। इसके विपरीत आकाशसे कोई बड़ा नहीं माना जाता है। परन्तु यथार्थमें देखा जाय तो जो स्वाभिमानी दूसरेसे याचना नहीं करता है उसे इस आकाशसे भी बड़ा (महान्) समझना चाहिये। इस अयाचकवृत्तिमें उसके सब गुण सुरक्षित रहते हैं। स्वाभिमानी संकटमें पड़कर भी उस दुखको साहसपूर्वक सहता है, किन्तु कभी किसीसे याचना नहीं करता। अभिप्राय यह कि याचनाकी वृत्ति मनुष्यको अतिशय हीन बनानेवाली है ॥ १५२ ॥ याचक पुरुषका गौरव दाताके पास चला जाता है, ऐसा मैं मानता हूं। यदि ऐसा न होता तो फिर उस समय देनेरूप अवस्थासे संयुक्त दाता तो गुरु (महान्) और ग्रहण करनेरूप अवस्थासे संयुक्त याचक लघु (क्षुद्र) कैसे दिखता ? अर्थात् ऐसे नहीं दिखने चाहिये थे ॥ विशेषार्थ— जिस समय याचक किसी दाताके यहां पहुंचकर उससे कुछ याचना करता है और तदनुसार वह दाता उसे कुछ देता भी है उस समय उन दोनोंके

अधो जिघृक्षवो यान्ति यान्त्यूर्ध्वमजिघृक्षवः ।
इति स्पष्टं वदन्तौ वा नामोन्नामौ तुलान्तयोः ॥ १५४ ॥
सस्वमाशासते सर्वे न स्वं तत्सर्वतर्पि यत् ।
अर्थिवैमुख्यसंपादिसस्वत्वान्निःस्वता वरम् ॥ १५५ ॥

दानकाले ग्रहीतुर्दातुश्च गतिविशेषं दर्शयन्नाह— अध इत्यादि । जिघृक्षवः अतृप्तचित्ततया गृहीतुमिच्छवो याचकाः । अजिघृक्षवः त्यागिनः दातारः । वदन्तौ [वा] वदन्तौ इव ॥ १५४ ॥ याचकानां वाञ्छितार्थसंपादकादैश्वर्याद्दारिद्र्यं सुन्दरमिति दर्शयन्नाह—

मुखपर अलग अलग भाव अंकित दिखते हैं । उस समय जहां याचकके मुखपर दीनता, संकोच एवं कृतज्ञताका भाव दृष्टिगोचर होता है वहां दाताके मुखपर प्रफुल्लता एवं अभिमानका भाव स्पष्टतया देखनेमें आता है । इसके ऊपर यहां यह उत्प्रेक्षा की गई है कि उस समय मानों याचकका आत्मगौरव उसके पाससे निकलकर दाताके पास ही चला जाता है । तभी तो उन दोनोंमें यह विषमता देखी जाती है, अन्यथा इसके पूर्वमें तो दोनों समान ही थे । तात्पर्य यह कि याचनाका कार्य अतिशय हीन एवं निन्द्य है ॥ १५३ ॥ तराजूके दोनों ओर क्रमसे होनेवाला नीचापन और ऊंचापन स्पष्टतया यह प्रगट करता है कि लेनेकी इच्छा करनेवाले प्राणी नीचे और न लेनेकी इच्छा करनेवाले ऊपर जाते हैं ॥ विशेषार्थ— जिस प्रकार तराजूके एक ओर जब कोई वस्तु रक्खी जाती है तो उधरका भाग नीचा और दूसरी ओरका खाली भाग ऊंचा हो जाता है उसी प्रकार जो मनुष्य दूसरेसे याचना करके कुछ ग्रहण करता है वह नीचेपन (हीनता) को प्राप्त होता है तथा जो दाता देता है वह उत्कृष्टताको प्राप्त करता है । इस प्रकारसे तराजू भी मानों यही शिक्षा देती है ॥ १५४ ॥ जो मनुष्य धनसे सहित होता है उससे सब लोग आशा रखते हैं– मांगनेकी इच्छा करते हैं । परन्तु ऐसा वह धन नहीं है जो कि सब ही याचकोंको सन्तुष्ट कर

आशाखनिरतीवाभूदगाधा निधिभिश्च या।
सापि येन समीभूता तत्ते मानधनं धनम्॥ १५६॥

सस्वमित्यादि। सह स्वेन द्रव्येण वर्तते यः सस्वः, तं सस्वं सद्रव्यं पुरुषम्। आशासते याचितुं वाञ्छन्ति। सर्वतर्पि सर्वतृप्तिकरणशीलम्। अर्थिवैमुख्यसंपादि याचकप्रार्थनाभङ्गकरम्॥ १५५॥ ये च सस्वमाशासते तेषामाशाखनिः कीदृशीत्याह— आशेत्यादि। आशाखनिः आशागर्तः। अगाधः अथाघः[1]। निधिभिश्च निधिभिरपि कृत्वा या न समीभूता न पूरिता। सापि आशाखनिः येन मानधनेन अयाचकत्वप्रतिज्ञालक्षणेन कृत्वा समीभूता॥ १५६॥ कथं सा मानधनेन समीभूतेत्याह— आशेत्यादि।

सके। अतएव याचक जनकी विमुखताको उत्पन्न करनेवाले धनाढ्यपनेकी अपेक्षा तो कहीं निर्धनता ही श्रेष्ठ है॥ विशेषार्थ— जिसके पास धन रहता है उसके पाससे धन प्राप्त करनेकी बहुत जन अपेक्षा करते हैं। परन्तु उसके पास कितना भी अधिक धन क्यों न हो, रहेगा वह सीमित ही। और उधर याचक असीमित तथा अभिलाषा भी उनकी असीमित ही रहती है। ऐसी अवस्थामें यदि वह धनवान् अपने समस्त ही धनको याचकोंमें वितीर्ण कर दे तो भी क्या वे सब याचक तृप्त हो सकते हैं? नहीं हो सकते। इसलिये जो मनुष्य यह सोचकर धनके कमानेमें उद्यत होता है कि मैं इनका संचय करके याचकोंको दूंगा और उनकी अभिलाषाको पूर्ण करूंगा, उसका वैसा विचार करना अज्ञानतासे परिपूर्ण है। अतएव ऐसे धनकी अपेक्षा निर्धन (निर्ग्रन्थ) रहना ही अधिक श्रेष्ठ है। कारण कि ऐसा करनेसे जो निराकुलता धनवान्को कभी नहीं प्राप्त हो सकती है वह इस निर्धन (साधु) को अनायास ही प्राप्त हो जाती है और इस प्रकारसे वह आत्यन्तिक सुखको भी प्राप्त कर लेता है॥ १५५॥ जो अतिशय गहरी आशारूप खान (गड्ढा) निधियोंके द्वारा भी समान (पूर्ण) नहीं हो सकती है वह तेरे जिस स्वाभिमानरूप धनसे समान हो सकती है वह स्वाभिमानरूप धन ही तेरा यथार्थ धन है॥ १५६॥ तीनों लोकोंको नीचे करनेवाली यह आशारूप खान

[1] प अथाधः।

आशाखनिरगाधेयमधःकृतजगत्त्रया ।
उत्सर्प्योत्सर्प्य तत्रस्थानहो सद्भिः समीकृता ॥ १५७ ॥
विहितविधिना देहस्थित्यै तपांस्युपबृंहय-
न्नशनमपरैर्भक्त्या दत्तं क्वचित्कियदिच्छति ।

उत्सर्प्योत्सर्प्य त्यक्त्वा त्यक्त्वा। तत्रस्थान् आशागर्तस्थितान्, यत्र विषये आशा प्रवर्तते तं तं विषयं परित्यजे[ज्यं]त्यर्थः ॥ १५७ ॥ निर्ग्रन्थतामवलम्ब्य प्रतिज्ञातव्रतस्य परिग्रहग्रहणाभावादित्थमेवास्याः समीकरणं युक्तमिति दर्शयन् विहितेत्यादिश्लोकद्वयमाह— विहितविधिना अकृताकारितानुमोदिताद्यागमोक्तविधिना। उपबृंहयन् वृद्धिं नयन्।

अथाह है। फिर भी यह आश्चर्यकी बात है कि उक्त आशारूप खानमें स्थित धनादिकोंका उत्तरोत्तर परित्याग करके सज्जन पुरुषोंने उसे समान कर दिया है ॥ विशेषार्थ— प्राणीकी आशा या इच्छा एक प्रकारका गड्ढा है जो इतना गहरा है कि यदि उसमें तीनों ही लोकोंकी सम्पदा भर दी जाय तो भी वह पूरा नहीं होगा। यहां इस बातपर आश्चर्य प्रगट किया गया है कि इतने गहरे भी उस आशारूप गड्ढेमें स्थित पदार्थोंको उसमेंसे बाहिर निकालकर सज्जन पुरुषोंने उसे पृथिवीतलके समान कर दिया है। सो है भी यह आश्चर्यकी-सी बात। कारण कि लोकमें तो ऐसा देखा जाता है कि जिस गड्ढेके भीतरसे मिट्टी, पत्थर या चांदी-सोना आदि जितने अधिक प्रमाणमें बाहिर निकाला जाता है उतना ही वह गड्ढा और भी अधिक गहरा होता जाता है। परन्तु सज्जन पुरुषोंने उस आशारूप गड्ढेमें स्थित (अभीष्ट) पदार्थोंको उससे बाहिर निकालकर गहरा करनेके बदले उसे पूरा कर दिया है। अभिप्राय यह है कि जितनी जितनी इच्छाकी पूर्ति होती जाती है उतनी ही अधिक तृष्णा और भी बढती जाती है। इसीलिये विवेकी मनुष्य जब उस तृष्णाको बढानेवाले विषयभोगोंकी आशा ही नहीं करते हैं तब उनका वह आशारूप गड्ढा क्यों न पूर्ण होगा? अवश्य ही पूर्ण होगा ॥ १५७ ॥

तपोंको बढानेवाला मुनि आगममें कही गई विधिके अनुसार शरीरको स्थिर रखनेके लिये किसी कालविशेष (चर्याकाल)में दूसरोंके (श्रावकोंके)

तदपि नितरां लज्जाहेतुः किलास्य महात्मनः
कथमयमहो गृह्णात्यन्यान् परिग्रहदुर्ग्रहान् ॥ १५८ ॥

कचित् चर्याकाले। कियत्। अक्षमृक्षणमात्रम्। तदपि भक्त्या दत्तं कियद् गृहीतमपि। किलेत्याश्चर्ये। अन्यान् धन-वसतिकादीन्। परिग्रहदुर्ग्रहान् परिग्रहा एव दुर्ग्रहाः दुष्टा ग्रहाः प्राणिनामपकारकत्वात् ॥ १५८ ॥ दातार इत्यादि। तदत्र– तत् धनम्, अत्र पात्रे। सर्वोपकारे-

द्वारा भक्तिपूर्वक दिये गये कुछ थोड़े-से आहारको ग्रहण करनेकी इच्छा करता है। वह भी इस महात्माके लिये अतिशय लज्जाका कारण होता है। फिर आश्चर्य है कि यह महात्मा अन्य परिग्रहरूप दुष्ट पिशाचोंको कैसे ग्रहण कर सकता है? नहीं करता है ॥ विशेषार्थ— तपकी वृद्धिका कारण शरीर है। यदि शरीर स्वस्थ होगा तो उसके आश्रयसे अनशनादि तपोंको भले प्रकार किया जा सकता है, और यदि वह स्वस्थ नहीं है– अशक्त है– तो फिर उसके आश्रयसे तपश्चरण करना सम्भव नहीं है। इसीलिये साधु तपश्चरणकी अभिलाषासे शरीरको स्थिर रखनेके लिये दाताके द्वारा नवधा भक्तिपूर्वक दिये गये आहारको स्वल्प मात्रामें ग्रहण करता है। इसके लिये भी वह स्वयं आहारको नहीं बनाता है और अन्यसे भी नहीं बनवाता है सो तो ठीक ही है, किन्तु वह अपने निमित्तसे बनाये गये (उद्दिष्ट) भोजनको भी नहीं ग्रहण करता है। साथ ही वह इन्द्रियदमन और सहनशीलता प्राप्त करनेके लिये एक-दो गृह आदिका नियम भी करता है। इस प्रकारसे यदि उसे निरन्तराय आहार प्राप्त होता है तो वह उसे ग्रहण करता है, अन्यथा वापिस चला आता है और इससे किसी प्रकारके खेदका अनुभव नहीं करता है— निरन्तराय आहारके न प्राप्त होनेसे वह दाताको बुरा नहीं समझता है। उक्त प्रकारसे प्राप्त हुए आहारको ग्रहण करता हुआ भी साधु इस परवशताके लिये कुछ लज्जाका अनुभव करता है। ऐसी स्थितिमें वह साधु आहारके अतिरिक्त अन्य (धन अथवा वसतिका आदि) किसी वस्तुकी अपेक्षा करेगा, यह तो सर्वथा ही असम्भव है ॥ १५८ ॥ दाता तो गृहस्थ

दातारो गृहचारिणः किल धनं देयं तदत्राशनं
गृह्णन्तः स्वशरीरतोऽपि विरताः सर्वोपकारेच्छया।
लज्जैव मनस्विनां ननु पुनः कृत्वा कथं तत्फलं
रागद्वेषवशीभवन्ति तदिदं चक्रेश्वरत्वं कलेः॥ १५९॥

च्छया गृह्णन्ति। लज्जैषैव– एषा सर्वोपकारमङ्गीकृत्य अशनग्रहणेच्छा लज्जैव। मनस्विनां पण्डितानां मानिनां वा। तत्फलं तत् अशनमात्रं च फलं निमित्तं कृत्वा। दाता हि तं निमित्तं कृत्वा अहमेवोत्कृष्टो दाता, अन्ये तु निकृष्टाः इत्यादि प्रकारं रागद्वेषादिकं करोति। यतिः पुनः अनेन उत्कृष्टम् अशनं दत्तम् अनेन निकृष्टम् इत्यादिरूपतयेति। चक्रेश्वरत्वं प्रभुत्वम्॥ १५९॥ रागद्वेषाधीनता च कर्मणा क्रियते, तेन च कर्मणा भवतः किं

हैं और वह देय धन (देने योग्य धन) यहां पात्रके लिये भक्तिपूर्वक दिया जानेवाला भोजन है। सबके उपकारकी इच्छासे जो उस आहाररूप धनको ग्रहण करनेवाले साधु हैं वे अपने शरीरसे भी विरत (निःस्पृह) होते हैं। यह आहारग्रहणकी इच्छा भी उन स्वाभिमानियोंके लिये लज्जाका ही कारण होती है। फिर भला उस आहारको निमित्त बना करके वे (साधु और दाता) राग-द्वेषके वशीभूत कैसे होते हैं? वह यह इस पंचम कालका ही प्रभाव है॥ विशेषार्थ— दानके निमित्त तीन हैं– दाता, पात्र और देय। सो यहां दाता तो गृहस्थ, पात्र मुनि और देय धन आहार मात्र है। जो मुनि उस आहारको ग्रहण करते हैं वे भी केवल इस विचारसे करते हैं कि इससे शरीर स्थिर रहेगा, जिससे कि हम तपश्चरण आदि करके आत्महितके साथ ही सदुपदेशादिके द्वारा दूसरोंका भी हित कर सकेंगे। इतनेपर भी जो स्वाभिमानी विद्वान् हैं वे उस आहार मात्रके ग्रहण करनेमें भी लज्जित होते हैं। यह है सत्पात्र और निरभिमानी सद्गृहस्थ दाताओंकी स्थिति। इसके विपरीत जो दाता उस आहारदानके निमित्तसे यह समझता है कि मैं ही उत्कृष्ट दाता हूं, अन्य दाता निकृष्ट हैं, तथा मैं इन साधुओंपर उपकार कर रहा हूं; वह दाता निन्दनीय है। इसी प्रकार जो साधु भी उस आहारके निमित्तसे किसी दाताकी प्रशंसा

आमृष्टं सहजं तव त्रिजगतीबोधाधिपत्यं तथा
सौख्यं चात्मसमुद्भवं विनिहतं[1] निर्मूलतः कर्मणा।

कृतमित्याह— आमृष्टमित्यादि। आमृष्टं लुप्तम्। विनिहतं स्फेटितम्। निर्मूलतः निःशेषतः सत्कारणभूतात्मविशुद्धिविशेषेण सह इत्यर्थः। दैन्यात् चारित्रमोहोदयप्रभवविषय-

करता है कि इसने उत्तम आहार दिया है, तथा अन्य दाताकी निन्दा करता है कि इसने निष्कृष्ट आहार दिया है, वह भी जो इस प्रकारसे राग व द्वेषके वशीभूत होता है उसका कारण इस कलिकालके प्रभावको ही समझना चाहिये। अन्यथा पूर्वमें जहां दाता यह समझता था कि सत्पात्रको दान देना यह गृहस्थका आवश्यक कर्तव्य है तथा इस गृहस्थ जीवनकी सफलता भी इसीमें है, यह सुअवसर मुझे पुण्योदयसे ही प्राप्त हुआ है आदि; वहां वे सत्पात्र (साधु) भी दाताके द्वारा जैसा कुछ भी रूखा-सूखा भोजन प्राप्त होता था उसीमें सन्तुष्ट होते थे– दाताके प्रति कभी भी राग-द्वेष नहीं करते थे। वे दाता और पात्र आज नहीं उपलब्ध होते हैं। इससे यही निश्चय होता है कि दाता और पात्रोंकी जो वर्तमानमें यह दुरवस्था हो रही है वह कलिकालके ही प्रभावसे हो रही है॥ १५९॥ हे आत्मन्! तीनों लोकोंको विषय करनेवाले ज्ञान (केवलज्ञान) के ऊपर तेरा जो स्वाभाविक स्वामित्व था उसे इस कर्मने लुप्त कर दिया है तथा पर पदार्थोंकी अपेक्षा न करके केवल आत्मा मात्रसे उत्पन्न होनेवाले तेरे उस स्वाभाविक सुखको भी उक्त कर्मने पूर्णरूपसे नष्ट कर दिया है। जो तू चिरकालसे उपवासादिके कष्टपूर्वक कुत्सित भोजनों (नीरस एवं नमकसे हीन आदि) के बन्धनमें स्थित रहा है वही तू निर्लज्ज होकर उस कर्मके द्वारा किये गये इन्द्रियसुखों (विषयसुखों) से दीनतापूर्वक सन्तुष्ट होता है॥ विशेषार्थ— जीव स्वभावसे अनन्त ज्ञान एवं अनन्त सुखसे सम्पन्न है। किन्तु कर्मका आवरण रहनेसे वह प्रगट नहीं है– लुप्त हो रहा है। जो प्राणी अज्ञानतासे अपनी अनन्त शक्तिका अनुभव नहीं करते हैं वे ही उस कर्मके द्वारा

[1] ज विनिहितं।

दैन्यात्तद्विहितैस्त्वमिन्द्रियसुखैः संतृप्यसे निस्त्रपः
स त्वं यच्चिरयातनाकदशनैर्बद्धस्थितस्तुष्यसि[1] ॥ १६० ॥

प्रार्थनावशात्। तद्विहितैः कर्मकृतैः। चिरयातनाकदशनैः चिरं बहुतरं कालं पूर्वयातनाम् उपवासादिकदर्थनां कारयित्वा पश्चात् कदशनानि अलवण-कोद्रव-काञ्जिकादीनि तैः बद्धस्थितः गुप्तो बन्धने स्थितः ॥ १६० ॥ अस्तु चेन्द्रियसुखाभिलाषः तथापि यत्र विशिष्टा इन्द्रिय-

निर्मित तुच्छ इन्द्रियसुखों (आहारादिजनित) से सन्तुष्ट होते हैं। इसमें वे अपनी दीनताको प्रगट करते हुए लज्जित भी नहीं होते हैं। ऐसे इन्द्रियलोलुपी जीव उपवास आदिके कष्टको सहकर जैसा कुछ रूखा-सूखा भोजन प्राप्त होता है उसमें सन्तुष्ट होते हैं। यदि वे अपनी स्वाभाविक आत्मशक्तिका अनुभव करें तो ऐसे दीनतापूर्ण आचरणमें उन्हें सन्तोषके स्थानमें लज्जाका ही अनुभव होगा। उदाहरणार्थ यदि कोई बलवान् मनुष्य किसी अन्य व्यक्तिकी सम्पत्ति आदिका अपहरण करके उसको अपने अधीन रखता हुआ अपनी ही इच्छासे भोजन आदि देता है तो वह अधीनस्थ मनुष्य यदि कायर है तब तो वह अपना सर्वस्व खो करके भी उसके द्वारा जो कुछ भी रूखा-सूखा भोजन आदि दिया जा रहा है उसीपर सन्तुष्ट होता है और किसी प्रकारकी लज्जाका अनुभव नहीं करता है। किन्तु जिसे अपनी शक्तिका अभिमान है वह अन्यके द्वारा दिये जानेवाले भोजन आदिके लिये लज्जित होता है तथा उस अवसरकी खोजमें रहता है कि जब कि उस अपने शत्रुको नष्ट करके अपनी हरी गई सम्पत्तिको वापिस प्राप्त कर ले। ठीक इसी प्रकारसे जो अविवेकी प्राणी हैं वे कर्मरूप शत्रुके द्वारा जो अपनी स्वाभाविक सम्पत्ति (अनन्त ज्ञानादि) हरी गई है उसे प्राप्त करनेका उद्योग नहीं करते, बल्कि उक्त कर्मके द्वारा दिये जानेवाले तुच्छ एवं क्षणिक इन्द्रियसुखमें ही सन्तुष्ट होते हैं। किन्तु जो विवेकी जीव हैं वे उस कर्म-शत्रुके द्वारा लुप्त की गई अपनी उस स्वाभाविक सम्पत्तिको प्राप्त करनेका निरन्तर उद्योग करते हैं और वह जब तक उन्हें प्राप्त नहीं होती है तब तक उसकी

१ मु स्थितिस्तुष्यसि।

तृष्णा भोगेषु चेद्भिक्षो सहस्वाल्पं स्वरेव ते।
प्रतीक्ष्य पाकं किं पीत्वा पेयं भुक्तिं विनाशये: ॥ १६१ ॥

विषयाः सन्ति तद्दर्शयन्नाह— तृष्णेत्यादि। सहस्व प्रतीक्षस्व। अल्पं स्तोकं व्रतानुष्ठानकालं यावत्। स्वरेव स्वर्ग एव। ते भोगाः ॥ १६१ ॥ कर्मणा चेन्द्रियसौख्यानि जीवितं च विधीयते।

प्राप्तिके साधनभूत शरीरको स्थिर रखनेके लिये उक्त कर्मके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले भोजनको ग्रहण तो करते हैं, किन्तु उसे स्वाभिमानपूर्वक लज्जाके साथ ही ग्रहण करते हैं, न कि निर्लज्ज व दीन बनकर। इस प्रकारसे अन्तमें वे अपनी उस स्वाभाविक सम्पत्ति (अनन्तचतुष्टय) को अवश्य प्राप्त कर लेते हैं ॥ १६० ॥ हे साधो! यदि तुझे भोगोंके विषयमें अभिलाषा है तो तू कुछ समयके लिये व्रतादिके आचरणसे होनेवाले थोड़े-से कष्टको सहन कर। ऐसा करनेसे तुझे स्वर्ग प्राप्त होगा, वे भोग वहांपर ही हैं। तू पाककी प्रतीक्षा करता हुआ पानी आदिको पी करके क्यों भोजनको नष्ट करता है? ॥ विशेषार्थ— जो साधु बाह्य विषयभोगोंकी अभिलाषा करता है उसको लक्ष्यमें रखकर यहां यह कहा गया है कि यदि तुझे विषयभोगोंकी ही अभिलाषा है तो तू कुछ समयके लिये व्रतादिके आचरणसे जो थोड़ा-सा कष्ट होनेवाला है उसे स्थिरतासे सहन कर। कारण यह कि ऐसा करनेसे तुझे तेरी ही इच्छाके अनुसार स्वर्गमें उन विषयभोगोंकी प्राप्ति हो जावेगी। फिर तू सागरोपम काल तक उस विषयसुखका अनुभव करते रहना। और यदि तू ऐसा नहीं करता है तो फिर तेरी ऐसी अवस्था होगी जैसी कि अवस्था उस मनुष्यकी होती है जो कि थोड़े-से कालके लिये भोजनके परिपाककी प्रतीक्षा न करके भूखसे पीड़ित होता हुआ पानी आदिको पी करके ही उस भूखको नष्ट करके भोजनके आनन्दको भी नष्ट कर देता है। अभिप्राय यह है कि जो विषयतृष्णाके वशीभूत होकर व्रतादिके आचरणको छोड़ देता है उसे मोक्षसुख मिलना तो दूर ही रहा, किन्तु वह विशिष्ट विषयसुख भी उसे प्राप्त नहीं होता जो कि स्वर्गादिमें जाकर प्राप्त किया जा सकता था ॥ १६१ ॥ जिन साधुओंके निर्धनता (उत्तम आकिं-

निर्धनत्वं धनं येषां मृत्युरेव हि जीवितम् ।
किं करोति विधिस्तेषां सतां ज्ञानैकचक्षुषाम् ॥ १६२ ॥

ये चैवंविधा मुनयस्तेषां किं करोति कर्मेति दर्शयन्निर्धनत्वमित्याह— निर्धनत्वमित्यादि । निर्धनत्वं निःसगता । धनं विभूतिः अभिप्रेतप्रयोजनप्रसाधकत्वात् । मृत्युरेव हि संन्यासेन प्राणत्यागः । जीवितं प्रीतिकरं विशिष्टजीवितहेतुत्वात् ॥ १६२ ॥ केषां तर्हि विधिः

चन्य) ही धन है तथा मृत्यु ह। जिनका जीवन है उन ज्ञानरूप अद्वितीय नेत्रको धारण करनेवाले साधुओंका भला कर्म क्या अनिष्ट कर सकता है ? अर्थात् कुछ भी नही कर सकता है ।। विशेषार्थ— जिस प्रकार अन्य जनोंको प्राणोंसे अधिक धन प्रिय होता है उसी प्रकार साधुओंको भी निर्धनता (दिगम्बरत्व) अधिक प्रिय होती है। कारण कि उनका वही एक अपूर्व धन है, जिमकी कि वे सदासे रक्षा करते हैं। ऐहिक सुखकी अभिलाषा करनेवाले प्राणियोंको जैसे जीवन प्रिय होता है वैसे ही पारमार्थिक सुखकी अभिलाषा रखनेवाले साधु पुरुषोंको मरण प्रिय होता है। वे वृद्धत्व एवं किसी असाध्य रोग आदिके उपस्थित होनेपर धर्मका रक्षण करते हुए प्रसन्नतासे समाधिमरणको स्वीकार करते हैं। उन मनस्वियोंको किंचित् भी मरणका भय नहीं होता। उसका भय तो केवल अज्ञानी जीवोंको ही हुआ करता है। ऐसी अवस्थामें दैव भला उनका क्या अनिष्ट कर सकता है ? कुछ भी नहीं। कारण यह कि दैव यदि कुछ अनिष्ट कर सकता है तो यही कर सकता है कि वह धनको नष्ट कर देगा, इससे भी अधिक कुछ अनिष्ट वह कर सकता है तो प्राणोंका अपहरण कर लेगा। सो यह उक्त मनस्वी जीवोंको इष्ट ही है। तब उसने उनका अनिष्ट किया ही क्या ? कुछ नहीं ।। १६२ ॥ जिन जीवोंके जीवनकी अभिलाषा और धनकी अभिलाषा रहती है उन्हीं जीवोंका कर्म कुछ अनिष्ट कर सकता है— वह उनके प्रिय जीवन और धनको नष्ट करके हानि कर सकता है। परन्तु जिन जीवोंकी

जीविताशा धनाशा च येषां तेषां विधिर्विधिः।
किं करोति विधिस्तेषां येषामाशा निराशता ॥ १६३ ॥
परां कोटिं समारूढौ द्वावेव स्तुतिनिन्दयोः।
यस्त्यजेत्तपसे चक्रं यस्तपो विषयाशया ॥ १६४ ॥

स्वकार्यकर्ता स्यादित्याह— जीविताशेत्यादि। विधिर्विधिः विधिः कर्म, विधिः स्रष्टा। आशानिराशता आशायाः निराशता निःकाङ्क्षता, सर्वथा विषयाशारहिततेत्यर्थः ॥ १६३ ॥ साम्राज्यं त्यक्त्वा आशानिराशतामवलम्बमानस्य, तपश्च त्यक्त्वा साम्राज्यमाश्रयतः फलमादर्शयन् परामित्यादिश्लोकद्वयमाह— परा कोटिं परमप्रकर्षम्। तपसे तपोनिमित्तम्। चक्र चक्रवर्तित्वम् ॥ १६४ ॥ त्यजत्वित्यादि। स्वोत्थं विषयनिरपेक्षं कर्मविविक्तात्म-

आशा— जीनेकी इच्छा और विषयतृष्णा— नि शेषतया नष्ट हो चुकी है उनका वह कर्म भला क्या अनिष्ट कर सकता है ? कुछ भी नहीं— यदि वह उनके जीवन और धनका अपहरण करता है तो वह उनके अभीष्ट को ही सम्पादित करता है ॥ १६३ ॥ जो मनुष्य तपके लिये चक्रवर्तीकी विभूतिको छोड़ता है तथा इसके विपरीत जो विषयोंकी अभिलाषासे उस तपको छोड़ता है वे दोनों ही क्रमश· स्तुति और निन्दाकी उत्कृष्ट सीमापर पहुंचते हैं ॥ विशेषार्थ— जो विवेकी जीव चक्रवर्ती जैसी विभूतिको पाकर भी उसे आत्महितमें बाधक जानकर तुच्छ तृणके समान छोड़ देता है और निर्ग्रन्थ होकर दुर्धर तपको स्वीकार करता है वह सबसे अधिक प्रशंसाके योग्य है। इसके विपरीत जो कारण पाकर विरक्तिको प्राप्त होता हुआ प्रथम तो राज्यवैभवको छोड़कर तपको स्वीकार करता है, और फिर पीछे उन्हीं पूर्वभुक्त भोगोंकी अभिलाषासे उस दुर्लभ तपको छोड़कर पुनः उस सम्पत्तिका उपभोग करने लगता है, वह सबसे अधिक निन्दाका पात्र है— उसकी अज्ञानताको धिक्कार है ॥ १६४ ॥ चूंकि तपका फल जो सुख है वह सुख अनुपम— समस्त संसारी जीवोंको दुर्लभ, कर्मकी अपेक्षा न करके केवल आत्ममात्रकी अपेक्षासे उत्पन्न होनेवाला, और सदा रहनेवाला (अविनश्वर) है; इसी-

त्यज्यतु तपसे चक्रं चक्री यतस्तपसः फलं
सुखमनुपमं स्वोत्थं नित्यं ततो न तदद्भुतम्।
इदमिह महच्चित्रं यत्तद्विषं विषयात्मकं
पुनरपि सुधीस्त्यक्तं भोक्तुं जहाति महत्तपः ॥ १६५ ॥

शय्यातलादपि तुकोऽपि भयं प्रपातात्
तुङ्गात्ततः खलु विलोक्य किलात्मपीडाम्।
चित्रं त्रिलोकशिखरादपि दूरतुङ्गाद्
धीमान् स्वयं न तपसः पतनाद्बिभेति ॥ १६६ ॥

स्वरूपप्रभवम्। विषं विषयात्मकं विषयरूपं विषम्। जहाति त्यजति ॥ १६५ ॥ तपस्त्यजतां च विस्मयं कुर्वन्नाह— शय्यातलादिति। तुकोऽपि बालोऽपि। भयं गच्छति। कस्मात्। प्रपातात् प्रपतनात्। तुङ्गात् महतः। ततः शय्यातलात्। दूरतुङ्गात् अतिशयेन महतः

लिये यदि चक्रवर्ती उस तपके लिये साम्राज्यको छोड़ देता है तो वह कुछ आश्चर्यकी बात नहीं है। आश्चर्य तो महान् इस बातका है कि जो बुद्धिमान् पूर्वमें विषयोंको विषके समान घातक समझकर छोड़ देता है और तत्पश्चात् उन्हीं छोड़े हुए विषयोंको फिरसे भोगनेके लिये ग्रहण किये हुए उस महान् तपको भी छोड़ देता है ॥ १६५ ॥ देखो, बालक भी ऊंचे शय्यातल (पलंग) से गिर जानेपर होनेवाली अपनी पीड़ाको देखकर निश्चयतः उससे भयको प्राप्त होता है। परन्तु आश्चर्य है कि बुद्धिमान् साधु तीन लोकके शिखरसे भी अतिशय ऊंचे (महान्) उस तपसे स्वयं च्युत होता हुआ भयको प्राप्त नहीं होता है ॥ विशेषार्थ— तप तीनों लोकोंमें अतिशय पूज्य एवं अविनश्वर सुखका कारण है, इसीलिये उसे तीन लोकके शिखरसे भी उन्नत बतलाया गया है। जो बालक हिताहितके विवेकसे रहित होता है वह भी जब ऊंचे किसी पलंग या पालने आदिमें स्थित होता है तब वहांसे गिर पड़नेकी आशंकासे भयभीत होता है। परन्तु जो साधु विवेकी है और इसीलिये जिसने विषयतृष्णाको छोड़कर तपको स्वीकार किया था वह फिरसे भी उस उच्छिष्टके समान विषयसुखके उपभोगके लिये आतुर होता हुआ ग्रहण किए हुए उस तपको छोड़कर दुर्गतिमें पड़नेसे भयभीत नहीं होता, यह

विशुद्धयति दुराचारः सर्वोऽपि तपसा ध्रुवम्।
करोति मलिनं तच्च किल सर्वाधरः परः[1] ॥ १६७ ॥
सन्त्येव कौतुकशतानि जगत्सु किं तु
विस्मापकं तदलमेतदिह द्वयं नः।
पीत्वामृतं यदि वमन्ति विसृष्टपुण्याः
संप्राप्य संयमनिधिं यदि च त्यजन्ति ॥ १६८ ॥

इन्द्रादिभिर्वन्द्यात् तपसः ॥ १६६ ॥ येन च तपसा महापापप्रक्षालनं भवति तदपि मलिनतां नयन्ति नीचा इत्याह— विशुद्धयतीत्यादि। दुराचारः ब्रह्महत्यादिविधायी। ध्रुवं निश्चितम्। तच्च तपः। मलिनं सातिचारम्। किल इत्याश्चर्ये। सर्वाधरः निकृष्टः। परः अपरः अन्यः ॥ १६७ ॥ आश्चर्यहेतूना मध्ये तपस्त्यागिनः अत्याश्चर्यहेतुत्वं दर्शयन्नाह— सन्त्येवेत्यादि। विस्मापकं विस्मयजनकम्। नः अस्माकम्। तत् कौतुकम्। अलम् अत्यर्थेन। इह जगति। एतद्वक्ष्यमाणद्वयम्। विसृष्टपुण्याः परित्यक्तपुण्याः ॥ १६८ ॥ तत्मात्संयम-

कितने आश्चर्यकी बात है। ऐसे साधुको उस अज्ञान बालकसे भी अधिक मूर्ख समझना चाहिये ॥ १६६ ॥ जिस तपके द्वारा नियमतः सब ही दुष्ट आचरण शुद्धिको प्राप्त होता है उस तपको भी दूसरा निकृष्ट मनुष्य मलिन करता है ॥ विशेषार्थ— जो जल वस्तुकी मलिनताको दूरकर उसे शुद्ध करता है उस जलको ही यदि कोई गंदला करता है तो वह जिस प्रकार निन्दाका पात्र होता है, उसी प्रकार जो तप पूर्वोपार्जित पापको नष्ट करके आत्माको शुद्ध करनेवाला है उसे ही यदि कोई दुश्चरित्र साधु अपने पापाचरणसे मलिन करता है तो वह सबसे नीच ही कहा जावेगा। इस प्रकारके दुराचरणसे न जाने उसको कितने महान् दुख सहने पड़ेंगे ॥ १६७ ॥ लोकमें आश्चर्यजनक सैकड़ों कौतुक हैं, परन्तु उनमेंसे ये दो कार्य हमें अतिशय आश्चर्यजनक प्रतीत होते हैं। प्रथम तो आश्चर्य हमको उनपर होता है जो कि पहिले तो अमृतका पान करते हैं और फिर पीछे वमन करके उसे निकाल देते हैं। दूसरा आश्चर्य उनके ऊपर होता है जो कि पूर्वमें तो विशुद्ध संयमरूप निधिको ग्रहण करते हैं और तत्पश्चात् उसे छोड़ भी देते हैं। अभिप्राय यह है कि

१ मु सर्वाधरोऽपरः।

इह विनिहतबह्वारम्भबाह्योरुशत्रो-
रुपचितनिजशक्तेर्नापरः कोऽप्यपायः ।
अशनशयनयानस्थानदत्तावधानः
कुरु तव परिरक्षामान्तरान् हन्तुकामः ॥ १६९ ॥

निधिम् अपरित्यजन्तः सर्वसंगपरित्यागं कृत्वा रागनिर्मूलनाय यतन्तामिति शिक्षां प्रयच्छन्नाह— इहेत्यादि । तव नापरः कोऽप्यपायः दुःखहेतुकः । कथंभूतस्येत्याह— विनिहतेत्यादि । बह्वोः सावद्यकर्मणः आरम्भः बह्वारम्भः विनिहतो बह्वारम्भ एव बाह्य उरुर्महान् शत्रुर्येन । उपचितनिजशक्तेः उपचिता पुष्टिं नीता संयमानुष्ठानेन निजा शक्तिर्येन । दत्तावधानः प्रयत्नपरः सन् । कुरु परिरक्षा संयमस्य । आन्तरान् रागादीन् ॥ १६९ ॥ मनसो नियन्त्रणे चात्मनो रक्षा रागादिप्रक्षयश्च स्यात् । तस्य च

पूर्वमें तप-संयमादिको स्वीकार करके भी जो पीछे फिरसे विषयोंमें अनुरक्त होकर उसे छोड़ देता है उसे इस प्रकारका हीन मनुष्य समझना चाहिये जो कि पूर्वमें अमृतको पी करके फिर पीछे उसे वमन द्वारा बाहिर निकाल देता है ।। १६८ ।। हे भव्य ! बहुत पापकर्मके आरम्भरूप बाहिरी शत्रुको नष्ट करके अपनी आत्मीक शक्तिको बढ़ा लेनेवाले तेरे लिये अन्य कोई भी दुखका कारण नहीं हो सकता है । तू राग-द्वेषादि-रूप आन्तरिक शत्रुओंको नष्ट करनेका अभिलाषी होकर भोजन, शयन, गमन एवं स्थिति आदि क्रियाओंके विषयमें सावधान होता हुआ अपने संयमकी रक्षा कर ।। विशेषार्थ — जिस प्रकार राजाको राज्यसे भ्रष्ट कर देनेवाले बाह्य और अभ्यन्तर दो प्रकारके शत्रु होते हैं उसी प्रकार मुनियोंको भी उस पदसे भ्रष्ट कर देनेवाले वे ही दो प्रकारके शत्रु होते हैं । यदि राजा बुद्धिमान है तो वह जिस प्रकार अपने बाह्य शत्रुओंको— विद्वेषी अन्य राजा आदिको— अपने अधीन रखता है उसी प्रकार वह अपने काम, क्रोध, लोभ, मद, मान और हर्ष रूप अन्तरंग शत्रुओं (अयुक्तितः प्रणीताः काम-क्रोध-लोभ-मद-मान-हर्षाः क्षितीशानाम-न्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः । नी. वा. अरिषड्वर्गसमुद्देश १.) को भी वशमें

अनेकान्तात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते
वचःपर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते ।

नियन्त्रणमित्थं कर्तव्यमित्याह— अनेकान्तेत्यादि। अनेकान्तो धर्म आत्मा स्वरूपं येषां ते च ते अर्थाश्च ते एव प्रसवफलानि पुष्पफलानि, तेषां भारः संघातस्तेन विनते। वचः-पर्णाकीर्णे वचांसि संस्कृतप्राकृतवचनानि तान्येव पर्णानि तैः आकीर्णे युक्ते। विपुलेत्यादि-

रखता है। इस प्रकारसे उसका राज्य निःसन्देह सुरक्षित रहता है। इसी प्रकारसे जो विवेकी साधु मुनिपदसे भ्रष्ट करनेवाले हिंसाजनक आरम्भादि-रूप बाह्य शत्रुओंसे रहित होकर राग-द्वेषादिरूप अन्तरङ्ग शत्रुओंको भी जीतनेके लिये भोजन-शयनादि क्रियाओंमें सदा सावधान रहता है— संयम व तपसे भ्रष्ट नहीं होता है— वह भी निश्चयसे अपने साधुपदको सुरक्षित रखकर निराकुल सुखको प्राप्त करता है ॥ १६९ ॥ जो श्रुत-स्कन्धरूप वृक्ष अनेक धर्मात्मक पदार्थरूप फूल एवं फलोंके भारसे अतिशय झुका हुआ है, वचनोंरूप पत्तोंसे व्याप्त है, विस्तृत नयोंरूप सैकड़ों शाखाओंसे युक्त है, उन्नत है, तथा समीचीन एवं विस्तृत मति-ज्ञानरूप जड़से स्थिर है उस श्रुतस्कन्धरूप वृक्षके ऊपर बुद्धिमान साधुके लिये अपने मनरूपी बन्दरको प्रतिदिन रमाना चाहिये ।। विशेषार्थ— जिस प्रकार बन्दर स्वभावसे यद्यपि अतिशय चंचल होता है, परन्तु यदि उसे फल-फूलोंसे परिपूर्ण कोई विशाल वृक्ष उपलब्ध हो जाता है तो वह उपद्रव करना छोड़कर उसके ऊपर रम जाता है। इसी प्रकार प्राणियोंका मन भी अतिशय चंचल होता है, उसके निमित्तसे ही प्राणी बाह्य पर पदार्थोंमें इष्टानिष्टकी कल्पना करके राग-द्वेषको प्राप्त होते हैं। साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या, किन्तु कभी कभी साधुओंका भी मन चंचल हो उठता है— वे भोजनादिके विषयमें राग-द्वेषका अनुभव करने लगते हैं। इसीलिये यहां ऐसे ही साधुको लक्ष्य करके यह उपदेश दिया गया है कि वह बन्दरके समान चंचल अपने मनको श्रुतरूप वृक्षके ऊपर

समुत्तुङ्गे सम्यक्प्रततमतिमूले प्रतिदिनं
श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम् ॥ १७० ॥

विपुलाः प्रचुराः ते च ते नयाश्च त एव शाखाशतानि तैः युक्ते संयुक्ते। समुत्तुङ्गे बृहति। सम्यक्प्रततमतिमूले सम्यक् समीचीना प्रतता विस्तीर्णा चासौ मतिश्च सा मूलं कारणं यस्य 'मतिपूर्वश्रुतम्' इत्यभिधानात्। अथ वा समीचीनं प्रततं प्रसृतं मतिरेव मूलं यस्य ॥१७०॥

रमावे– उसके चिन्तनमें प्रवृत्त करे। जिस प्रकार वृक्ष फूलों और फलोंके भारसे झुका हुआ होता है उसी प्रकार वह श्रुतरूप वृक्ष भी अनेक धर्मात्मक पदार्थोंके भारसे (विचारसे) नम्रीभूत है, वृक्ष यदि पत्रोंसे व्याप्त होता है तो यह श्रुतरूप वृक्ष भी पत्तोंके समान अर्धमागधी आदि भाषाओं-रूप वचनोंसे व्याप्त है, वृक्षमें जहां अनेकों शाखाओंका विस्तार होता है वहां इस श्रुतरूप वृक्षमें भी उन शाखाओंके समान नयोंका विस्तार अधिक है, जैसे वृक्ष उन्नत (ऊंचा) होता है वैसे ही श्रुतवृक्ष भी उन्नत (महान्– साधारण जनोंको दुर्लभ) है, तथा जिस प्रकार वृक्षको स्थिर रखनेवाली उसकी कितनी ही जड़ें फैली होती हैं उसी प्रकार अनेक (३३६) भेदोंरूप जो विस्तृत मतिज्ञान है वह इस श्रुतरूप वृक्षकी गहरी जड़के समान है जिसके कि निमित्तसे वह स्थिर होता है। इस प्रकार उस चंचल मनको बाह्य विषयोंकी ओरसे खींचकर इस श्रुतरूप वृक्षके ऊपर रमानेसे– श्रुतके अभ्यासमें लगानेसे– उसके निमित्तसे होनेवाली राग-द्वेषरूप प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। इससे कर्मोंकी संवर-पूर्वक निर्जरा होकर मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है ॥ १७० ॥ वह जीवादिरूप वस्तु तदतत्स्वरूप अर्थात् नित्यानित्यादिस्वरूपको प्राप्त होकर विरामको नहीं प्राप्त होती है, इस प्रकार समस्त तत्त्वका जानकार विश्वकी अनादिनिधनताका विचार करे ॥ विशेषार्थ— पूर्व श्लोकमें यह निर्देश किया था कि साधुके लिये अपने चंचल मनको श्रुतके अभ्यासमें लगाना चाहिये। इसीका स्पष्टीकरण करते हुए यहां यह बतलाया है कि

तदेव तद्तद्रूपं प्राप्नुवन्न विरंस्यति।
इति विश्वमनाद्यन्तं चिन्तयेद्विश्ववित् सदा ॥ १७१ ॥

श्रुतस्कन्धे मनो रमयन् इत्थं तत्त्वं भावयेत् इत्याह— तदेवेत्यादि । तदेव जीवादिलक्षणं वस्तु। तद्तद्रूपं नित्यानित्यरूपं सदसदादिरूपं वा[1] । प्राप्नुवन् न विरंस्यति सावधि न भविष्यति न[2] विनश्यति वा। इति एवं। विश्वं जीवादिवस्तुप्रपञ्चः[3] । अनाद्यन्तम् आद्यन्तविहीनम् ॥१७१॥

आगममें वर्णित जीवाजीवादि पदार्थोंमेंसे प्रत्येक विवक्षाभेदसे भिन्न भिन्न स्वरूपवाला है। जैसे– एक ही आत्मा जहां द्रव्यकी प्रधानतासे नित्य है वहां वह पर्यायकी प्रधानतासे अनित्य भी है। कारण यह कि आत्माका जो चैतन्य द्रव्य है उसका कभी नाश सम्भव नहीं है, वह उसकी समस्त पर्यायोंमें विद्यमान रहता है। जैसे– सुवर्णसे उत्तरोत्तर उत्पन्न होनेवाली कड़ा, कुण्डल एवं साकल आदि पर्यायोंमें सुवर्णसामान्य विद्यमान रहता है। अतएव वह द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानतासे नित्य कहा जाता है। परन्तु वही चूंकि पर्यायकी अपेक्षा अनेक अवस्थाओंमें भी परिणत होता है– एक रूप नहीं रहता, इसीलिये पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा उक्त आत्माको अनित्य भी कहा जाता है। लोकव्यवहारमें भी कहा जाता है कि अमुक मनुष्य मर गया है, अमुकके यहां पुत्रजन्म हुआ है, आदि। यद्यपि नित्यत्व और अनित्यत्व ये दोनों ही धर्म परस्पर विरुद्ध अवश्य दिखते हैं तो भी विवक्षाभेदसे उनके माननेमें कोई विरोध नहीं आता। जैसे– एक ही देवदत्त नामका व्यक्ति अपने पुत्रकी अपेक्षा जिस प्रकार पिता कहा जाता है उसी प्रकार वह अपने पिताकी अपेक्षा पुत्र भी कहा जाता है। इस प्रकारका व्यवहार लोकमें स्पष्टतया देखा जाता है, इसमें किसीको भी विरोध प्रतीत नहीं होता। परन्तु हां, यदि कोई जिस पुत्रकी अपेक्षा किसीको पिता कहता है उसी पुत्रकी ही अपेक्षासे यदि उसे पुत्र भी कहता है तो उसका वैसा कहना निश्चित ही विरुद्ध होगा और इसीलिये वह निन्दाका पात्र होगा ही। इसी प्रकार जिस द्रव्यकी अपेक्षा वस्तुको नित्य माना जाता है उसी द्रव्यकी अपेक्षा यदि कोई उसे अनित्य

१ प तद्तद्रूपं नित्यानित्यस्वरूपं वा। २ प 'न' इत्येतन्नास्ति। ३ प प्रपंचं।

एकमेकक्षणे सिद्धं ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मकम् ।
अबाधितान्यतत्प्रत्ययान्यथानुपपत्तितः ॥ १७२ ॥

भ्रान्तमिदं ज्ञानं भविष्यतीत्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह— एकमित्यादि। एकं जीवादि वस्तु। एकक्षणे एकस्मिन् समये। ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मकं सिद्धम्— सिद्धं निर्णीतं ध्रौव्यात्मकं द्रव्यापेक्षया, उत्पाद-व्ययात्मकं पर्यायापेक्षया। कुतस्तदात्मकं तत्सिद्धम् इत्याह— अबाधि-

समझले तो उसके समझनेमें अवश्य ही विरोध रहेगा। परन्तु एक ही वस्तुको द्रव्यकी अपेक्षा नित्य और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य माननेमें किसी प्रकारके भी विरोधकी सम्भावना नहीं रहती। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तुको अपेक्षाभेदसे सत् और असत्, एक और अनेक तथा भिन्न और अभिन्न आदि स्वरूपोंके माननेमें किसी प्रकारका विरोध नहीं होता; बल्कि इसके विपरीत उसे दुराग्रहवश एक ही स्वरूप माननेमें अवश्य विरोध होता है। इस प्रकारसे साधुको श्रुतके चिन्तनमें– वस्तुस्वरूपके विचारमें– अपने मनको लगाना चाहिये। ऐसा करनेसे वह साधु निठल्ले मनके द्वारा उत्पन्न होनेवाली राग-द्वेषमय प्रवृत्तिसे अवश्य ही रहित होगा॥ १७१ ॥ एक ही वस्तु विवक्षित एक ही समयमें ध्रौव्य, उत्पाद और नाश स्वरूप सिद्ध है; क्योंकि इसके विना उक्त वस्तुमें जो भेद और अभेदरूप निर्बाध ज्ञान होता है वह घटित नहीं हो सकता है॥ विशेषार्थ— बाह्य और आभ्यन्तर निमित्तको पाकर जीव और अजीव द्रव्य अपनी जातिको न छोड़ते हुए जो अवस्थान्तरको प्राप्त होते हैं, इसका नाम उत्पाद है– जैसे अपनी पुद्गल जातिको न छोड़कर मिट्टीके पिण्डका घट पर्यायको प्राप्त करना। उक्त दोनों ही कारणोंसे द्रव्यकी जो पूर्व अवस्थाका नाश होता है इसे व्यय (नाश) कहा जाता है– जैसे उस घटकी उत्पत्तिमें उसी मिट्टीके पिण्डकी पिण्डरूप पूर्व पर्यायका नाश। अनादि पारिणामिक स्वभावसे वस्तुका उत्पाद और नाशसे रहित होकर स्थिर रहनेका नाम ध्रौव्य है। ये तीनों ही अवस्थायें प्रत्येक वस्तुमें प्रति-

सेत्यादि। अबाधितौ च तौ अन्यतरप्रत्ययौ च भेदाभेदप्रत्ययौ तयोः अन्यथानुपपत्तितः। उक्तं च— "भेदज्ञानात् प्रतीयेते प्रादुर्भावात्ययौ यदि। अभेदज्ञानतः सिद्धा स्थितिरंशेन केनचित्॥" ॥१७२॥ ननु ध्रौव्यादित्रितयात्मकत्वं वस्तुनोऽनुपपन्नम् सर्वथा[1]नित्याद्येकैक-

समय रहती हैं। कारण यह कि प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है, अतएव जहां विशेषरूपसे वस्तु (घट) का उत्पाद होता है वहीं उसका (मृत्पिण्डका) नाश भी होता है। परन्तु सामान्य (पौद्गलिकत्व) स्वरूपसे न वस्तुका उत्पाद होता है और न नाश भी— वह सामान्य (पुद्गल) स्वरूपसे दोनों (घट और मृत्पिण्ड) ही अवस्थाओंमें विद्यमान रहती है। इस बातका समर्थन स्वामी समन्तभद्राचार्यने निम्न दृष्टान्तके द्वारा किया है— घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्। शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्य जनो याति सहेतुकम्॥ अर्थात् किसी सुनारने सुवर्णके घटको तोडकर उससे मुकुटको बनाया। इसको देखकर जो व्यक्ति घटको चाहता था वह तो पश्चात्ताप करता है, जो मुकुटको चाहता था वह हर्षित होता है, और जो सुवर्ण मात्रको चाहता था वह हर्ष-विषाद दोनोंसे रहित होकर मध्यस्थ ही रहता है॥ आ. मी. ५९. इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु प्रत्येक समयमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप है। ऐसा माननेपर ही उसके विषयमें होनेवाली भेदबुद्धि और अभेदबुद्धि संगत होती है, अन्यथा वह घटित नहीं हो सकती है; और वैसी बुद्धि होती अवश्य है। तभी तो भेदबुद्धिके कारण घटको टूटा हुआ देखकर उसका अभिलाषी दुखी और मुकुटका अभिलाषी हर्षित होता है। किन्तु उन दोनों ही अवस्थाओंमें अभेद बुद्धिके रहनेसे सुवर्णका अभिलाषी न दुखी होता है और न हर्षित भी। इसीलिये प्रत्येक पदार्थ प्रतिसमय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप है; ऐसा निश्चय करना चाहिये॥ १७२॥ जीव-अजीव आदि

१ प नित्याद्येक।

न स्थास्नु न क्षणविनाशि न बोधमात्रं
नाभावमप्रतिहतप्रतिभासरोधात् ।

रूपत्वात्तस्येत्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह— नेत्यादि । न स्थास्नु न सर्वथा नित्यैकरूपं सांख्यादि-कल्पितं जीवादितत्त्वम् । न क्षणविनाशि न सर्वथा क्षणिकरूपं बौद्धकल्पितम् । न बोधमात्रं ज्ञानाद्वैतवादिकल्पितम् । नाभावं न अभावमात्रं सकलशून्यवादिकल्पितं तत्त्वम् । कुतः ।

कोई भी वस्तु न सर्वथा स्थिर रहनेवाली (नित्य) है, न क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाली (अनित्य) है, न ज्ञानमात्र है, और न अभावस्वरूप ही है; क्योंकि वैसा निर्बाध प्रतिभास नहीं होता है। जैसा कि निर्बाध प्रतिभास होता है, तदनुसार वह वस्तु प्रतिक्षण उत्पन्न होनेवाले तदतत्-स्वरूप अर्थात् नित्य-अनित्यादिस्वरूपसे संयुक्त व अनादिनिधन है। जिस प्रकार एक तत्त्व नित्यानित्य, एक-अनेक एवं भेदाभेद स्वरूपवाला है उसी प्रकार समस्त तत्त्वोंका भी स्वरूप समझना चाहिये ॥ विशेषार्थ— (१) सांख्य दर्शनमें वस्तुको सर्वथा नित्य स्वीकार किया गया है। उसका निराकरण करते हुए यहां यह कहा गया है कि वस्तु सर्वथा नित्य नहीं है, क्योंकि वैसी निर्बाध प्रतीति नहीं होती है। यदि वस्तु सर्वथा नित्य ही होती तो वह सदा एक स्वरूपमें ही देखनेमें आना चाहिये थी, परन्तु ऐसा है नहीं— समयानुसार वह परिवर्तित रूपमें ही देखी जाती है। जो पूर्वमें दूध था वह कारण पाकर दहीके रूपमें परिणत देखा जाता है तथा जो पूर्वमें बालक था वह समयानुसार कुमार, युवा एवं वृद्ध भी देखा जाता है। यह अनुभूयमान परिवर्तन कूटस्थ नित्य अवस्थामें सम्भव नहीं है। वैसी अवस्थामें तो जो वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार जितने प्रमाणमें है उतने ही प्रमाणमें सदा उपलब्ध होनी चाहिये, सो वैसा है नहीं। अतएव वस्तु सर्वथा नित्य नहीं है। (२) बौद्ध प्रत्येक वस्तुको क्षणनश्वर स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि वस्तु प्रत्येक क्षणमें भिन्न ही होती है, पूर्व पर्यायसे उत्तर पर्यायका कुछ भी

तत्त्वं प्रतिक्षणभवत्तदतत्स्वरूप-
माद्यन्तहीनमखिलं च तथा यथैकम्[1] ॥ १७३ ॥

अप्रतिहतप्रतिभासरोधात् अबाध्यमानप्रतिभासाभावात्। यदि ईदृशं तत्त्वं भवति तर्हि कीदृशं तदित्याह— तत्त्वं जीवादि वस्तु। प्रतिक्षणं प्रतिसमयं भवन्ति जायमानानि तदतत्स्वरूपाणि नित्यानित्यादिस्वरूपाणि यस्य। कुतस्तदित्थंभूतं सिद्धमित्याह— अप्रतिहत-

सम्बन्ध नहीं है। बौद्ध दर्शनमें पूर्वोत्तर पर्यायोंमें अन्वयस्वरूपसे प्रतिभासमान सामान्यको वस्तुभूत नहीं स्वीकार किया गया है, किन्तु वहां स्वलक्षणस्वरूप विशेषको ही वस्तुभूत माना गया है। इस बौद्धाभिप्रायको असंगत बतलाते हुए यहा यह निर्देश किया है कि तत्त्व सर्वथा क्षणनश्वर भी नहीं है, क्योंकि उक्त वस्तु जैसे सर्वथा नित्य प्रतिभासित नहीं होती है वैसे ही वह सर्वथा अनित्य भी नहीं प्रतिभासित होती है। यदि दूध और दही सर्वथा (पुद्गलस्वरूपसे भी) भिन्न ही हों तो विना दूधके भी दहीकी उत्पत्ति होनी चाहिये थी। परन्तु ऐसा नहीं है, जो पूर्वमें किसी न किसी स्वरूपसे सत् है वही उत्तर कालमें दूसरी पर्यायस्वरूपसे परिणत होता है। यदि पूर्वोत्तर पर्यायोंको सर्वथा भिन्न ही माना जायगा तो मिट्टीसे ही घटकी उत्पत्ति हो और तन्तुओंसे ही पटकी उत्पत्ति हो, ऐसा कुछ भी उपादानका नियम नहीं रह सकेगा– वैसी अवस्थामें तो कोई भी वस्तु किसी भी उपादानसे उत्पन्न हो सकेगी। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, भिन्न भिन्न कार्योंकी उत्पत्तिके लिये बुद्धिमान् मनुष्य भिन्न भिन्न कारणों (उपादान) का ही अन्वेषण करते देखे जाते हैं– बालुसे तेल निकालनेका प्रयत्न कोई भी बुद्धिमान् नहीं करता है। इसके अतिरिक्त वस्तुको सर्वथा अनित्य माननेपर 'यह वही देवदत्त है जिसे कि दस वर्ष पूर्वमें देखा था' ऐसा अनुभवसिद्ध प्रत्यभिज्ञान भी

१ अ स यथा तथैकं।

प्रतिभासरोधात् अबाध्यमानानुभवस्वीकारात्। किं कदाचित्तत्तादृशमित्याह— आद्यन्तहीनम्। अनाद्यन्तरूपतया जीवादिरूपं तादृशम्। अस्तु नाम एकं किंचित्तत्त्वं[2] न तु सर्वमित्याह—

नहीं हो सकेगा। परन्तु वह होता अवश्य है। अतएव वस्तु जिस प्रकार सर्वथा नित्य नहीं है उसी प्रकार वह सर्वथा अनित्य भी नहीं है। किन्तु द्रव्य (सामान्य) की अपेक्षासे वह कथंचित् नित्य और पर्याय (विशेष) की अपेक्षासे कथंचित् अनित्य भी है, ऐसा स्वीकार करना चाहिये। कारण कि ऐसी ही निर्बाध प्रतीति भी होती है। (३) विज्ञानाद्वैतवादी एक मात्र विज्ञानको ही स्वीकार करते हैं– विज्ञानको छोड़कर अन्य कोई पदार्थ उनके यहां वस्तुभूत नहीं माने गये हैं। उनका अभिप्राय है कि घट-पटादि जो भी पदार्थ देखनेमें आते हैं वे काल्पनिक हैं– अवस्तुभूत हैं। इस कल्पनाका कारण अनादि अविद्यावासना है। उनके इस अभिप्रायका निराकरण करते हुए यहां यह कहा गया है कि वस्तुतत्त्व केवल ज्ञानमात्र ही नहीं है, क्योंकि वैसी निर्बाध प्रतीति नहीं होती है। इसके अतिरिक्त एक मात्र विज्ञानको ही वस्तुभूत स्वीकार करनेपर कारक और क्रिया आदिका जो भेद देखा जाता है वह विरोधको प्राप्त होगा। जो भी उत्पन्न होते हुए कार्य देखे जाते हैं वे भिन्न भिन्न नियमित कारकोंसे ही उत्पन्न होते देखे जाते हैं, कोई भी कार्य अपने आपसे नहीं उत्पन्न हो सकता है। दूसरे, जिस अविद्याकी वासनासे अनुभूयमान पदार्थोंको अवस्तुभूत माना जाता है वह अविद्या भी यदि अवस्तुभूत है तब तो उसके निमित्तसे उक्त पदार्थोंको अवस्तुभूत नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, अवस्तुभूत गधेके सींग किसीको कष्ट देते हुए नहीं देखे जाते हैं। इसके अतिरिक्त उक्त अद्वैतकी कल्पनामें पुण्य-पाप, सुख-दुःख, लोक-परलोक, विद्या-अविद्या और बन्ध-मोक्ष आदिकी व्यवस्था न बन सकनेसे समस्त लोक-व्यवहार ही समाप्त हो जाता है। अतएव विज्ञानाद्वैतके समान पुरुषाद्वैत,

१ ज स 'नित्यानित्यादिस्वरूपाणि' इति नास्ति। २ प नामैकं चित्तत्त्वम्।

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम्॥ १७४॥

अखिलं च यथा एकं जीवादितत्त्वं ध्रौव्योत्पादव्ययात्मकं तथा अखिलं च अखिलमपि॥ १७३॥ यद्येवंविधं सर्ववस्तुसाधारणं स्वरूपं तदात्मनः कीदृशमसाधारणं स्वरूपं

चित्राद्वैत एवं शब्दाद्वैत आदि कोई भी अद्वैत युक्तिसंगत नहीं है; ऐसा समझना चाहिये। (४) माध्यमिक (शून्यैकान्तवादी) चराचर जगत्को शून्य या अभावस्वरूप मानते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार स्वप्नमें विविध प्रकारकी वस्तुएँ एवं कार्य आदि देखनेमें आते हैं, किन्तु निद्राभंग होते ही वे सब विलीन हो जाते हैं– अवस्तुभूत प्रतिभासित होने लगते हैं, उसी प्रकार घट-पटादिस्वरूपसे प्रतिभासित होनेवाले समस्त ही पदार्थ स्वप्नमें देखे हुए पदार्थोंके ही समान अवस्तुभूत हैं। उनका वैसा प्रतिभास अज्ञानतासे होता है। इस मतका खण्डन करते हुए यहां यह कहा है कि तत्त्व अभावस्वरूप भी नहीं है, क्योंकि वैसी निर्बाध प्रतीति नहीं होती है। किन्तु वह प्रतीति उसके विपरीत ही होती है– प्रत्यक्षमें देखे जानेवाले समस्त पदार्थ और उनके निमित्तसे होनेवाला सारा लोकव्यवहार यथार्थ ही प्रतीत होता है, न कि स्वप्नके समान अयथार्थ। यदि जगत्को सर्वथा शून्य ही माना जावे तो फिर शून्यैकान्तवादी न तो अपनेही अस्तित्वको सिद्ध कर सकेंगे और न अन्य श्रोताओंके भी। ऐसी अवस्थामें जगत्की उस शून्यताको कौन और किसके प्रति सिद्ध करेगा, यह सब ही सोचनीय हो जाता है। इस प्रकार युक्तिसे विचार करनेपर तत्त्वको सर्वथा अभावस्वरूप स्वीकार करना भी उचित नहीं प्रतीत होता। तत्त्वकी यथार्थ व्यवस्था तो अनेकान्तके आश्रयसे– विवक्षाभेदके अनुसार– ही हो सकती है, न कि सर्वथा एकान्तस्वरूपसे॥१७३॥

आत्मा ज्ञान स्वभाववाला है और उस अनन्तज्ञानादि स्वभावकी जो प्राप्ति है, यही उस आत्माकी अच्युति अर्थात् मुक्ति है। इसलिये मुक्तिकी

यद्भाव्यमानं तस्य मुक्तिं प्रसाधयेदित्याह— ज्ञानस्वभाव इत्यादि। स्वभावावाप्तिः कर्मापाये प्रादुर्भूतानन्तचतुष्टयस्वरूपप्राप्तिः। अच्युतिः मुक्तिः ॥ १७४ ॥ ननु ज्ञाने श्रुतभावनास्वभावे

अभिलाषा करनेवाले भव्यको उस ज्ञानभावनाका चिन्तन करना चाहिये ॥

विशेषार्थ— पूर्व श्लोकमें यह बतलाया था कि जितने भी जीवाजीवादि पदार्थ हैं वे सब ही विवक्षाभेदसे नित्यानित्यादि अनेक स्वभाववाले हैं। यह कथंचित् नित्यानित्यादिरूपता उक्त सब ही पदार्थोंका साधारण स्वरूप है। इसपर प्रश्न उपस्थित होता है कि जब यह समस्त पदार्थोंका साधारण स्वरूप है तब आत्माका असाधारण स्वरूप क्या है जिसका कि चिन्तन किया जा सके। इसके उत्तरस्वरूप यहां यह बतलाया है कि आत्माका असाधारण स्वरूप ज्ञान है और वह अविनश्वर है। जो भी जिस पदार्थका असाधारण स्वरूप होता है वह सदा उसके साथ ही रहता है– जैसे कि अग्निका उष्णत्व स्वरूप। इस प्रकार यद्यपि आत्माका स्वरूप ज्ञान है और वह अविनश्वर भी है तो भी वह अनादि कालसे ज्ञानावरण एवं मोहनीय आदि कर्मोंके निमित्तसे विकृत (राग-द्वेषबुद्धि-स्वरूप) हो रहा है– जैसे कि अग्निके संयोगसे जलका शीतल स्वभाव विकृत होता है। अग्निका संयोग हट जानेपर जिस प्रकार वह जल अपने स्वभावमें स्थित हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मोंके हट जानेपर आत्मा भी अपने स्वाभाविक अनन्तचतुष्टयमें स्थित हो जाता है। बस इसीका नाम मोक्ष है। इसीलिये यहां मुमुक्षु जनसे यह प्रेरणा की गई है कि आप लोग यदि उस मोक्षकी अभिलाषा करते हैं तो आत्माका स्वरूप जो ज्ञान है उसीका वार वार चिन्तन करें, क्योंकि, एक मात्र वही अविनश्वर स्वभाव उपादेय है– शेष सब विनश्वर पर पदार्थ (स्त्री-पुत्र एवं धन आदि) हेय हैं। इस प्रकारकी भावनासे उस मोक्षकी प्राप्ति हो सकेगी॥ १७४॥

ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम्।
अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदप्यत्र मृग्यते ॥ १७५॥

पृथक्त्वैकत्वरूपशुक्लध्यानात्मके च भाव्यमाने किं फलं स्यादित्याशङ्क्याह[1]— ज्ञानमित्यादि। अनश्वरम् अनन्तम्। अन्यदपि अणिमामहिमादि लाभपूजादि वा। अत्र ज्ञाने ॥ १७५॥

ज्ञानस्वभावका विचार करनेपर प्राप्त होनेवाला उसका फल भी वही ज्ञान है जो कि प्रशंसनीय एवं अविनश्वर है। परन्तु आश्चर्य है कि अज्ञानी प्राणी उस ज्ञानभावनाका फल ऋद्धि आदिकी प्राप्ति भी खोजते हैं, यह उनके उस प्रबल मोहकी महिमा है ॥ विशेषार्थ— उक्त ज्ञानभावनाके चिन्तनसे क्या फल प्राप्त हो सकता है, इस जिज्ञासाकी पूर्तिस्वरूप यहां यह बतलाया है कि उक्त ज्ञानभावना (श्रुतचिन्तन) का फल भी उसी ज्ञानकी प्राप्ति है। कारण यह कि श्रुतज्ञानका विचार करनेपर साक्षात् फल तो उन उन पदार्थोंके विषयमें जो अज्ञान था वह नष्ट होकर तद्विषयक ज्ञानकी परिप्राप्ति है, तथा उसका पारम्परित फल निर्मल एवं अविनश्वर केवलज्ञानकी प्राप्ति है। इस तरह दोनों भी प्रकारसे उसका फल ज्ञानकी ही प्राप्ति है। उसका फल जो ऋद्धि-सिद्धि आदि माना जाता है वह अज्ञानतासे ही माना जाता है। कारण यह कि जिस प्रकार खेतीका वास्तविक फल अन्नका उत्पादन होता है, न कि भूसा आदि– वह तो अन्नके साथमें अनुषंगस्वरूपसे होनेवाला ही है। इसी प्रकार श्रुतभावनाका भी वास्तविक फल केवलज्ञानकी प्राप्ति ही है, उसके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाली ऋद्धियों आदिकी प्राप्ति तो उक्त भूसेके समान उसका आनुषंगिक फल है। अतएव जिस प्रकार कोई भी किसान भूसाप्राप्तिके विचारसे कभी खेती नहीं करता है, किन्तु अन्नप्राप्तिके ही विचारसे करता है; उसी प्रकार विवेकी जनोंको भी उक्त केवलज्ञानकी प्राप्तिके विचारसे ही श्रुतभावनाका चिन्तन करना चाहिये, न कि ऋद्धि आदिकी प्राप्ति इच्छासे ॥ १७५॥

1 प स्यादित्याह।

शास्त्राग्नौ मणिवद्भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृतः ।
अङ्गारवत् खलो दीप्तो मली वा भस्म वा भवेत् ॥ १७६ ॥

श्रुतज्ञानभावनायां प्रवृत्तयोर्भव्याभव्ययोः किं फलं स्यादित्याह— शास्त्रेत्यादि । शास्त्रमेव अग्निः यथावद्वस्तुस्वरूपप्रकाशकत्वात् संसाराटवीदाहहेतुत्वाच्च । मणिवत् पुष्परागादिरत्नवत् । विशुद्धो निर्मलो । भाति शोभते । निर्वृतः सुखीभूतो मुक्तो वा सन् । खलः अभव्यः । दीप्तः शास्त्राग्निना प्रकाशमानः । मली मिथ्याज्ञानेन मलिनः । उभयत्र वा-शब्दः परस्परसमुच्चये । भस्म दर्शनमोहोदये[न] अनन्तानुबन्धिक्रोधाद्युदयेन च भस्म वा भवेत् पदार्थप्रकाशशून्यो भवेदित्यर्थः ॥ १७६ ॥ ध्यानसामग्रीं दर्शयन्नाह— मुहुरित्यादि । मुहुः प्रसार्य पुनः विस्तीर्य[1]

शास्त्ररूप अग्निमें प्रविष्ट हुआ भव्य जीव तो मणिके समान विशुद्ध होकर मुक्तिको प्राप्त करता हुआ शोभायमान होता है। किन्तु दुष्ट जीव (अभव्य) उस शास्त्ररूप अग्निमें प्रदीप्त होकर मलिन व भस्मस्वरूप हो जाता है ।। विशेषार्थ— जिस प्रकार पद्मरागादि मणिको अग्निमें रखनेपर वह मलसे रहित होकर अतिशय निर्मल हो जाता है और सदा वैसा ही रहता है उसी प्रकार श्रुतभावनाका विचार करनेपर भव्य जीव भी राग-द्वेषादिरूप मलसे रहित होकर विशुद्ध होता हुआ मुक्त हो जाता है और सदा उसी अवस्थामें प्रकाशमान रहता है। इसके विपरीत जिस प्रकार अग्निके मध्यमें स्थित अंगार यद्यपि उस समय अतिशय देदीप्यमान होता है तो भी पीछे वह मलिन कोयला अथवा भस्म बन जाता है उसी प्रकार उक्त श्रुतभावनाके विचारसे अभव्य जीव भी यद्यपि उस समय ज्ञानादिके प्रभावसे प्रकाशमान होता है तो भी वह मिथ्याज्ञानसे पदार्थोंको जान करके मलिन तथा मिथ्यादर्शन व अनन्तानुबन्धीके प्रभावसे उनमें राग-द्वेषबुद्धिको प्राप्त होकर भस्मके समान पदार्थज्ञानसे रहित हो जाता है। यहां शास्त्रमें जो अग्निका आरोप किया गया है वह इसलिये किया गया है कि जिस प्रकार अग्नि वस्तुको प्रकाशित करती है और इन्धनको जलाती भी है उसी प्रकार शास्त्र भी वस्तुस्वरूपको

१ प विस्तार्य ।

मुहुः प्रसार्य संज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान् ।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ॥ १७७ ॥
वेष्टनोद्वेष्टने यावत्तावद् भ्रान्तिर्भवार्णवे ।
आवृत्तिपरिवृत्तिभ्यां जन्तोर्मन्थानुकारिणः ॥ १७८ ॥

प्रीत्यप्रीती रागद्वेषौ । अध्यात्मवित् आत्मस्वरूपवेदको मुनिः ॥ १७७ ॥ प्रीत्यप्रीती निराकृत्य कुतो ध्यायेदिति चेत् तयोः संसारनिबन्धनकर्मोपार्जनहेतुत्वात् एतदेवाह— वेष्टनेत्यादि । वेष्टनोद्वेष्टने कर्मणो बन्ध-निर्जरे मन्थवत्प्रसिद्धं[द्धे] प्रीत्यप्रीतिवशात् खलु कर्मण उपार्जन-

प्रकाशित करता है और कर्मरूप इन्धनको जलाता भी है। इस प्रकार उन दोनोंमें प्रकाशकत्व एवं दाहकत्वरूप समान धर्मोंको देखकर ही वैसा आरोप किया गया है ॥ १७६ ॥ आत्मतत्त्वका जानकार मुनि वार वार सम्यग्ज्ञानको फैलाकर जैसा कि पदार्थोंका स्वरूप है उसी रूपसे उनको देखता हुआ राग और द्वेषको दूर करके ध्यान करे॥ विशेषार्थ— अभिप्राय यह है कि आत्महितैषी जीवको सबसे पहिले सम्यग्ज्ञानके द्वारा जीवाजीवादि पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जाननेका प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा होनेपर आत्मस्वरूपकी जानकारी हो जानेसे उसकी उस ओर रुचि होगी। इसके अतिरिक्त बाह्य पर पदार्थोंमें इष्टानिष्टबुद्धिके न रहनेसे राग-द्वेषरूप प्रवृत्ति भी नष्ट हो जावेगी जिससे कि वह एकाग्र चित्त होकर ध्यानमें लीन हो सकेगा। कारण यह कि राग-द्वेषरूप प्रवृत्तिके होते हुए उस ध्यानकी सम्भावना नहीं है॥ १७७ ॥ मथानीका अनुकरण करनेवाले जीवके जब तक रस्सीके बंधने और खुलनेके समान कर्मोंका बन्ध और निर्जरा (सविपाक) होती है तब तक उक्त रस्सीके खींचने और ढीली करनेके समान राग और द्वेषसे उसका संसाररूप समुद्रमें परि-भ्रमण होता ही रहेगा॥ विशेषार्थ— यहां जीवको मन्थनदण्ड (मथानी)के समान बतलाया है। उससे सम्बद्ध कर्म उस मन्थनदण्डके ऊपर लिपटी हुई रस्सीके समान हैं, उसकी राग और द्वेषमय प्रवृत्ति उक्त रस्सीको एक

निर्जरे। ते वेष्टनोद्वेष्टने यावत् तावत् जन्तोः भ्रान्तिः भ्रमणम्। भवार्णवे संसारसमुद्रे। काभ्याम्। आवृत्ति-परिवृत्तिभ्यां गमनागमनाभ्याम् आकर्षण-मोचनाभ्याम् इत्यन्यत्॥ १७८॥

ओरसे खींचने और दूसरी ओरसे कुछ ढीली करनेके समान है, तथा उससे होनेवाला बन्ध और सविपाक निर्जरा उस रस्सीके बंधने और उकलनेके समान है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मथानीमें लिपटी हुई रस्सीको एक ओरसे खींचने और दूसरी ओरसे ढीली करनेपर वह रस्सी बंधती व उकलती ही रहती है तथा इस प्रकारसे वह मन्थनदण्ड बराबर घूमता ही रहता है– उसे विश्रान्ति नहीं मिलती। हां, यदि उस रस्सीको एक ओरसे सर्वथा छोड़कर दूसरी ओरसे पूरा ही खींच लिया जाय तो फिर उसका इस प्रकारसे बंधना और उकलना चालू नहीं रह सकेगा। तब मन्थनदण्ड स्वयमेव स्थिर– परिभ्रमणसे रहित– हो जावेगा। ठीक इसी प्रकारसे जब तक जीवकी राग-द्वेषरूप प्रवृत्ति चालू रहती है तब तक वह कर्मोंका बन्ध करके और उनका फल भोगकर निर्जरा भी करता ही रहता है। कारण यह कि राग-द्वेषसे जिन नवीन कर्मोंका बन्ध होता है उनके उदयमें आनेपर जीव तत्कृत सुख-दुःखरूप फलको भोगता हुआ फिर भी राग-द्वेषरूप परिणमन करता है। इस प्रकारसे यह क्रम जब तक चालू रहता है तब तक प्राणी चतुर्गतिरूप इस संसारमें परिभ्रमण करता ही रहता है। परन्तु यदि वह राग-द्वेषसे बांधे गये उन कर्मोंको तपश्चरणादिके द्वारा अविपाक निर्जरास्वरूपसे नष्ट कर देता है तो फिर राग-द्वेषरूप परिणतिसे रहित हो जानेके कारण उसके नवीन कर्मोंका बन्ध नहीं होता है। और तब संवर एवं निर्जराके आश्रयसे उसका संसारपरिभ्रमण भी नष्ट हो जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि जब तक प्राणी राग-द्वेषरूप परिणमन करता है तब तक उसका चित्त स्थिर नहीं रह सकता है, और जब तक चित्त स्थिर नहीं होता है तब तक ध्यानकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। अतएव ध्यानकी प्राप्तिके लिये राग-द्वेषसे रहित होना अनिवार्य है॥ १७८॥

मुच्यमानेन पाशेन भ्रान्तिर्बन्धश्च मन्थवत् ।
जन्तोस्तथासौ मोक्तव्यो येनाभ्रान्तिरबन्धनम् ॥ १७९ ॥

उद्वेष्टनं किंचिज्जन्तोर्भ्रान्तेर्बन्धस्य च कारणं किंचिन्नेति दर्शयन्नाह— मुच्यमानेनेत्यादि । मुच्यमानेन उद्वेष्ट्यमानेन[1] निर्जीर्यमाणेनेत्यर्थः । पाशेन कर्मबन्धेन । भ्रान्तिर्बन्धश्च भ्रान्तिः संसारे पर्यटनं बन्धश्च पूर्वकर्मोपार्जनं रागद्वेषसद्भावात् प्रसिद्ध अन्यत्र । तथा[2] रागद्वेष-परिहारतः संवरविधानेन । असौ पाशः ॥ १७९ ॥ कथं पुनर्जन्तोर्बन्धोऽबन्धश्चेत्याह—

छोड़ी जानेवाली रस्सीकी फांसीके द्वारा मथानीके समान जीवके नवीन बन्ध और परिभ्रमण चालू रहता है। अतएव उसको इस प्रकारसे छोड़ना चाहिये कि जिससे फिरसे बन्धन और परिभ्रमण न हो सके ॥ विशेषार्थ— जिस प्रकार मथानीमें फांसीके समान लिपटी हुई रस्सी यदि एक ओरसे खींचनेके साथ दूसरी ओरसे ढीली की जाती है तब तो मथानीका बंधना व घूमना बराबर चालू ही रहता है। किन्तु यदि उस रस्सीको दोनों ओरसे ही ढीला कर दिया जाता है तो फिर मथानीके घूमनेकी क्रिया सर्वथा बंद हो जाती है। ठीक इसी प्रकारसे जीवकी फांसी स्वरूप सम्बद्ध कर्मको यदि सविपाक निर्जराके द्वारा राग-द्वेषरूप प्रवृत्तिके साथ छोड़ते हैं— निर्जीर्ण करते हैं— तब तो जीवके नवीन कर्मोंका बन्ध और संसार परिभ्रमण पूर्ववत् बराबर चालू रहता है। परन्तु यदि उक्त कर्मरूप फांसीको अविपाक निर्जरापूर्वक राग-द्वेषसे रहित होकर छोड़ा जाता है तो फिर उसके नवीन कर्मोंका बन्ध और संसारपरिभ्रमण दोनों ही रुक जाते हैं। अतएव सविपाक निर्जरा हेय और अविपाक निर्जरा उपादेय है, यह अभिप्राय यहां ग्रहण करना चाहिये ॥ १७९ ॥ राग और द्वेषके द्वारा की गई प्रवृत्ति और निवृत्तिसे जीवके बन्ध होता है तथा तत्त्वज्ञानपूर्वक की गई उसी प्रवृत्ति और निवृत्तिके द्वारा उसका मोक्ष देखा जाता है ॥

१ ज स 'उद्वेष्टयमानेन' इति नास्ति । २ प 'तथा' इति नास्ति ।

रागद्वेषकृताभ्यां जन्तोर्बन्धः प्रवृत्त्यवृत्तिभ्याम् ।
तत्त्वज्ञानकृताभ्यां ताभ्यामेवेक्ष्यते मोक्षः ॥ १८० ॥

रागेत्यादि । प्रवृत्त्यवृत्तिभ्यां[१] प्रवृत्तिः स्यादौ व्रतग्रहणादौ वा रागेण, अप्रवृत्तिः तत्रैव भोजनादौ च द्वेषेण । तत्त्वज्ञानकृताभ्यां ताभ्याम् एव प्रवृत्त्यवृत्तिभ्यामेव । तत्कृता हि प्रवृत्तिः व्रतसमितिगुप्त्यादौ अप्रवृत्तिः पुनः अव्रतादौ ॥ १८० ॥ ननु बन्धो भवति

विशेषार्थ— जीव जब तक बाह्य पर पदार्थोंमें इष्ट और अनिष्टकी कल्पना करता है तब तक उसके जिस प्रकार इष्ट पदार्थके संयोगमें हर्ष और उसके वियोगमे विषाद होता है उसी प्रकार अनिष्ट पदार्थके संयोगमें द्वेष और उसके वियोगमे हर्ष भी होता है। इस प्रकारसे जब तक उसकी इष्ट वस्तुके ग्रहणादिमे प्रवृत्ति और अनिष्ट वस्तुके विषयमें निवृत्ति होती है तब तक उसके कर्मोंका बन्ध भी अवश्य होता है। इसके विपरीत जब वह तत्त्वज्ञानपूर्वक अनिष्ट हिंसा आदिके परिहार और इष्ट (तप-संयम आदि) के ग्रहणमें प्रवृत्त होता है तब उसके नवीन कर्मोंके बन्धका अभाव (संवर) और पूर्वसंचित कर्मोंकी निर्जरा होकर मोक्षकी प्राप्ति होती है। इसलिये यह ठीक ही कहा गया है कि 'रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागो विमुच्यते।' अर्थात् रागी जीव तो कर्मको बांधता है और वीतराग उससे मुक्त होता है– निर्जरा करता है। इसी प्रकार पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (२१२–२१४) में भी रागको बन्धका कारण और रत्नत्रयको बन्धाभावका कारण बतलाया गया है ॥ १८० ॥ गुणके निमित्तसे की गई द्वेषबुद्धि तथा दोषके निमित्तसे की गई अनुरागबुद्धि, इनसे पापका उपार्जन होता है। इसके विपरीत गुणके निमित्तसे होनेवाली अनुरागबुद्धि और दोषके निमित्तसे होनेवाली द्वेषबुद्धिसे पुण्यका उपार्जन होता है। तथा उन दोनोंसे रहित– अनुराग-

१ ज स प्रवृत्त्यप्रवृत्तिभ्यां।

द्वेषानुरागबुद्धिर्गुणदोषकृता करोति खलु पापम्।
तद्विपरीता पुण्यं तदुभयरहिता तयोर्मोक्षम्॥ १८१॥

पापरूपः पुण्यरूपश्च, स च कुतो जायते कुतो वा तदुभयाभावः इत्याशङ्क्याह— द्वेषेत्यादि। गुणे सम्यग्दर्शनादौ द्वेषबुद्धिः त्यागबुद्धिः कृता, मिथ्यादर्शनादौ अनुरागबुद्धिः उपादानबुद्धिः कृता। तद्विपरीता गुणेऽनुरागबुद्धिः दोषे द्वेषबुद्धिः। तदुभयरहिता राग-द्वेषरहिता। तयोः पुण्यपापयोः। मोक्षम् आस्रवनिरोधं निर्जरां च॥ १८१॥ यदि राग-द्वेषयोः उक्तप्रकार-

बुद्धि और द्वेषबुद्धिके विना– उन दोनों (पाप-पुण्य) का मोक्ष अर्थात् संवरपूर्वक निर्जरा होती है॥ विशेषार्थ— जीवकी प्रवृत्ति तीन प्रकारकी होती है–अशुभ, शुभ और शुद्ध। इनमें अशुभ प्रवृत्ति व्रत-संयमादिसे द्वेष रखकर दुर्व्यसनादिमें अनुराग रखनेसे होती है और वह पापबन्धनकी कारण होती है। इसके विपरीत शुभ प्रवृत्ति उन दुर्व्यसनादिको अनिष्ट समझकर व्रत-संयमादिमें अनुराग रखनेसे होती है और वह पुण्यबन्धकी कारण होती है। इनके अतिरिक्त राग और द्वेष इन दोनोंसे ही रहित होकर जो आत्म-ध्यानरूप जीवकी प्रवृत्ति होती है वह है उसकी शुद्ध प्रवृत्ति और वह उपर्युक्त पाप और पुण्य दोनोंके ही नाशका कारण होती है। यह अन्तिम प्रवृत्ति (शुद्धोपयोग) ही जीवको उपादेय है। परन्तु जब तक वह शुद्धोपयोगरूप प्रवृत्ति सम्भव नहीं है तब तक जीवके लिये उस अशुभ प्रवृत्तिको छोड़कर शुभ प्रवृत्तिको अपनाना भी योग्य है। परन्तु अशुभ प्रवृत्ति तो सर्वथा और सर्वदा हेय ही है। उदाहरणके रूपमें जैसे ब्रह्मचर्य सर्वदा और सर्वथा ही उपादेय है। परन्तु जो उसका सर्वथा पालन नहीं कर सकता है उसके लिये यह भी अच्छा है कि किसी योग्य कन्याको सहधर्मिणीके रूपमें स्वीकार करके अन्य स्त्रियोंकी ओरसे विरक्त होता हुआ केवल उसीके साथ अनासक्तिपूर्वक विषयसुखका अनुभव करे। इसके विपरीत स्वस्त्री और परस्त्री आदिका भेद न करके स्वेच्छाचारितासे आसक्तिके साथ विषयभोग करना, यह सर्वथा निन्द्य ही समझा जाता है– उसकी प्रशंसा कभी भी किसीके द्वारा नहीं की जाती है। बस यही भाव यहां अशुभ, शुभ और शुद्ध उपयोगके भी विषयमें समझना चाहिये॥ १८१॥ जिस प्रकार बीजसे जड़ और

मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजान्मूलाङ्कुराविव ।
तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा ॥ १८२ ॥
पुराणो ग्रहदोषोत्थो गम्भीरः सगतिः सरुक् ।
त्यागजात्यादिना मोहव्रणः शुद्धयति रोहति ॥ १८३ ॥

बन्धहेतुत्वं तदा कुतस्तयोः प्रादुर्भाव इत्याह— मोह इत्यादि । मोह एव बीजं कारणं तस्मात् । तत् मोहबीजम्[1] । एतौ रति-द्वेषौ । निर्दिधिक्षुणा दग्धुमिच्छुना ॥ १८२ ॥ स च अनयोर्बीजभूतो मोहः कीदृशः किं च तद्विनाशे कारणमित्याह— पुराण इत्यादि । मोह एव व्रणो मोहव्रणः । कीदृशः । पुराणः अनादिकालीनो बहुकालीनश्च । ग्रहदोषोत्थः– मोहपक्षे परिग्रहग्रहणलक्षणदोषादुत्थानं यस्य, व्रणपक्षे तु ग्रहदोषैः उत्था उत्थानं प्रादुर्भावो यस्य । गम्भीरः महान् । सगतिः नरकादिगतियुक्तः, अन्यत्र नाडीयुक्तः । सरुक् पीडायुक्तः । त्यागः सर्वसंगपरित्यागः स एव जात्यादि घृतं तेन मोहव्रणः शुद्धयति रोहति, व्रणस्तु जात्यादिघृतेन ॥ १८३ ॥ मोहव्रणं शोधयितुं चेच्छता विपक्षेष्वपि बन्धुषु शोको न

अंकुर उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार मोहरूप बीजसे राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं । इसलिये जो इन दोनों (राग-द्वेष) को जलाना चाहता है उसे ज्ञानरूप अग्निके द्वारा उस मोहरूप बीजको जला देना चाहिये ।। विशेषार्थ—जिस प्रकार वृक्षकी जड़ और अंकुरका कारण बीज है उसी प्रकार राग और द्वेषकी उत्पत्तिका कारण मोह (अविवेक) है । अतएव जो वृक्षके अंकुर और जड़को नहीं उत्पन्न होने देना चाहता है वह जिस प्रकार उक्त वृक्षके बीजको ही जला देता है उसी प्रकार जो आत्महितैषी उन राग और द्वेषको नहीं उत्पन्न होने देना चाहता है उसे उनके कारणभूत उस मोहको ही सम्यग्ज्ञानरूप अग्निके द्वारा जलाकर नष्ट कर देना चाहिये । इस प्रकारसे वे राग-द्वेष फिर न उत्पन्न हो सकेंगे ।। १८२ ।।
मोह एक प्रकारका घाव है, क्योंकि वह घावके समान ही पीडाकारक है । जिस प्रकार पुराना (बहुत समयका), शनि आदि ग्रहके दोषसे उत्पन्न हुआ, गहरा, नससे सहित और पीडा देनेवाला घाव औषधयुक्त घी (मलहम) आदिसे शुद्ध होकर– पीव आदिसे रहित होकर– भर जाता है उसी प्रकार पुराना अर्थात् अनादि कालसे जीवके साथ रहने-

१ प तस्माद् मोहबीजं ।

सुहृदः सुखयन्तः स्युर्दुःखयन्तो यदि द्विषः।
सुहृदोऽपि कथं शोच्या द्विषो दुःखयितुं मृताः ॥ १८४ ॥

कर्तव्य इत्याह— सुहृद इत्यादि। सुहृदः मित्राणि। सुखयन्तः सुखं कुर्वन्तः। दुःखयन्तः दुःखं कुर्वन्तः। द्विषः शत्रवः। द्विषो दुःखयितुं मृताः दुःखं कर्तुं मृताः सन्तो द्विषः ॥१८४॥

वाला, परिग्रहके ग्रहणरूप दोषसे उत्पन्न हुआ, गम्भीर (महान्), नरकादि दुर्गतिका कारण और आकुलतारूप रोगसे सहित ऐसा वह घावके समान कष्टदायक मोह भी उक्त परिग्रहके परित्यागरूप मलहमसे शुद्ध होकर (नष्ट होकर) ऊर्ध्वगमन (मुक्तिप्राप्ति) में सहायक होता है ।। १८३ ।। यदि सुखको उत्पन्न करनेवाले मित्र और दुखको उत्पन्न करनेवाले शत्रु माने जाते हैं तो फिर जब मित्र भी मर करके वियोगजन्य दुखको करनेवाले हैं तब वे भी शत्रु ही हुए। फिर उनके लिये शोक क्यों करना चाहिये ? नहीं करना चाहिये ।। विशेषार्थ— अभिप्राय यह है कि जो प्राणीको सुख देता है वह मित्र माना जाता है और जो दुख देता है वह शत्रु माना जाता है। यह लोकप्रसिद्ध बात है। अब यदि विचार करें तो प्राणी जिन पिता, पुत्र एव बन्धु आदिको मित्रके समान सुखदायक मानता है वे भी सदा सुख देनेवाले नहीं होते। कारण कि जब उनका मरण होता है तब उनके वियोगमें वह अत्यधिक दुखी होता है। ऐसी अवस्थामें वे मित्र कैसे रहे– दुखदायक होनेसे वे भी शत्रु ही हुए। फिर उनके निमित्त जो यह प्राणी शोक-संतप्त होता है वह अपनी अज्ञानताके कारण ही होता है। अतएव अज्ञानताके कारणभूत उस मोहको ही नष्ट करना चाहिये ॥ १८४ ॥ जो जड़बुद्धि जीव दूसरे स्त्री, पुत्र एवं मित्र आदिके अपरिहार्य मरणके होनेपर उन्हें अपना समझ करके रोता हुआ अतिशय विलाप करता है तथा अपने मरणके भी उपस्थित होनेपर जो उसी प्रकारसे विलाप करता है

अपरमरणे मत्वात्मीयानलङ्घ्यतमे रुदन्
विलपति तरां स्वस्मिन् मृत्यौ तथास्य जडात्मनः ।
विभयमरणे भूयः साध्यं यशः परजन्म वा
कथमिति सुधीः शोकं कुर्यान्मृतेऽपि न केनचित् ॥ १८५ ॥

सुहृदां मरणे चोत्पन्नदुःखो भवान् किं करोतीत्याह— अपरेत्यादि । अपरेषां मित्र-पुत्र-कलत्रादीनां मरणे । कथंभूते । अलङ्घ्यतमे अतिशयेन अशक्यप्रतिविधाने । मत्वा आत्मीयान् मदीया एते इति मत्वा । रुदन् । तथा स्वस्मिन् मृत्यौ सति विलपति तराम् अतिशयेन आक्रन्दति विभयमरणे गलगर्जितं कृत्वा [आक्रन्दति गलगर्जितं कृत्वा । विभयमरणे] संन्यासमरणे सति । यत्साध्यं भूयो महत् यशः परजन्म वा तत्कथम् अस्य जडात्मनः स्यात् । इति हेतोः । सुधीः शोकं न कुर्यात् । केनचित् केनापि प्रकारेण ॥ १८५ ॥ मृतेऽपि

उस जड़बुद्धिके निर्भयतापूर्वक मरण (समाधिमरण) को प्राप्त होनेपर जिस महती कीर्ति और परलोककी सिद्धि हो सकती थी वह कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती है । अतएव बुद्धिमान् मनुष्यको मरणके प्राप्त होनेपर किसी प्रकारसे शोक नहीं करना चाहिये ।। विशेषार्थ— जिसने जन्म लिया है वह मरेगा भी अवश्य– कोई भी उसके मरणको रोक नहीं सकता है । इस प्रकार जब यह एक निश्चित सिद्धान्त है तब जो स्त्री, पुत्र एवं मित्र आदि प्रत्यक्षमें अपनेसे भिन्न हैं– अपने नहीं हैं– उन्हें अपना मानकर यह प्राणी उनका मरण होनेपर क्यों रोता व शोक करता है, यह सोचनीय है । इसी प्रकार जब वह स्वयं भी मरणोन्मुख होता है तब भी विलाप करता है । इससे उसकी अपकीर्ति तो होती ही है, साथ ही परलोक भी बिगड़ता है । अतएव यदि वह निर्भयतापूर्वक समाधिमरणको स्वीकार करता है तो इससे उसकी कीर्तिका भी प्रसार होगा, साथ ही परलोकमें स्वर्गादि अभ्युदयकी भी सिद्धि अवश्य होगी । इसीलिये विवेकी जनका यह कर्तव्य है कि जब मरण सबका अनिवार्य है तब वह अपने और अन्य किसी सम्बन्धीके भी मरणके समय शोक न करे ।। १८५ ।। इष्ट वस्तुकी हानिसे शोक और फिर उससे दुख होता है तथा उसके लाभसे राग

हानेः शोकस्ततो दुःखं लाभाद्रागस्ततः सुखम् ।
तेन हानावशोकः सन् सुखी स्यात्सर्वदा सुधीः ॥ १८६ ॥
सुखी सुखमिहान्यत्र दुःखी दुःखं समश्नुते ।
सुखं सकलसंन्यासो दुःखं तस्य विपर्ययः ॥ १८७ ॥

कस्मिंश्चिदात्मीये कुतश्चायं शोको जायते किंहेतुश्चेत्याह[१]— हानेरित्यादि । सुखी स्यात्सर्वदा सुधीः सुविवेकी सर्वदा अभिलषितार्थानां संपत्तिविपत्त्यवस्थयोः सुखी स्यात् ॥ १८६ ॥ यः अत्र सुखी सः अन्यत्र कीदृश इत्याह— सुखीत्यादि । समश्नुते प्राप्नोति । सकलसंन्यासः

और फिर उससे सुख होता है। इसीलिये बुद्धिमान् मनुष्यको इष्टकी हानिमें शोकसे रहित होकर सदा सुखी रहना चाहिये ॥ विशेषार्थ— दुखका कारण शोक और उस शोकका भी कारण इष्ट सामग्रीका अभाव है। इसी प्रकार सुखका कारण राग और उस रागका भी कारण उक्त इष्ट सामग्रीकी प्राप्ति है। परन्तु यथार्थमें यदि विचार करें तो कोई भी बाह्य पदार्थ न तो इष्ट है और न अनिष्ट भी– यह तो अपनी रुचिके अनुसार प्राणीकी कल्पना मात्र है। कहा भी है– अनादौ सति संसारे कस्य केन न बन्धुता। सर्वथा शत्रुभावश्च सर्वमेतद्धि कल्पना ॥ अर्थात् संसार अनादि है। उसमें जो किसी समय बन्धु रहा है वही अन्य समयमें शत्रु भी रह सकता है। इससे यही निश्चित होता है कि इस अनादि संसारमें न तो वास्तवमें कोई मित्र है और न कोई शत्रु भी। यह सब प्राणीकी कल्पना मात्र है ॥ क्ष. चू. १-६१. इसीलिये विवेकी जन ममत्वबुद्धिसे रहित होकर इष्टकी हानिमें कभी शोक नहीं करते। इससे वे सदा ही सुखी रहते हैं ॥ १८६ ॥ जो प्राणी इस लोकमें सुखी है वह परलोकमें भी सुखको प्राप्त होता है तथा जो इस लोकमें दुखी है वह परलोकमें भी दुखको प्राप्त करता है। कारण यह कि समस्त इन्द्रियविषयोंसे विरक्त होनेका नाम सुख और उनमें आसक्त होनेका नाम ही दुख है ॥ विशेषार्थ— आकुलताका नाम

१ ज कस्यायं हेतुश्च°।

मृत्योर्मृत्यन्तरप्राप्तिरुत्पत्तिरिह देहिनाम् ।
तत्र प्रमुदितान् मन्ये पाश्चात्ये पक्षपातिनः ॥ १८८ ॥

सर्वसंगपरित्यागः । तस्य विपर्ययः सर्वसंगपरित्यागाभावः ॥ १८७ ॥ ननु पुत्रादिमृत्योः शोकः तदुत्पत्तेस्तु प्रमोदस्तत्र केयमुत्पत्तिर्नामेत्याह— मृत्योरित्यादि । मृत्योः पूर्वशरीरत्यागात् । मृत्यन्तरप्राप्तिः उत्पत्तिः– उत्पत्तेः उत्तरमृत्युना अविनाभावित्वादुपचारादुत्पत्तिरेव

दुख और उसके अभावका नाम सुख है। जो प्राणी विषयभोगोंकी तृष्णासे युक्त होकर अपनी इच्छानुसार उन्हें प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है वह व्याकुल होकर जैसे इस लोकमें परिश्रमजन्य दुखको सहता है वैसे ही वह उक्त विषयोंके लाभालाभमें हर्ष व विषादको प्राप्त होता हुआ पापकर्मको उपार्जित करके परलोकमें भी दुर्गतिके दुखको सहता है। इसके विपरीत जो स्वेच्छासे उन विषय-भोगोंकी अभिलाषा न करके उन्हें छोड़ देता है और तप-संयमको स्वीकार करता है वह निराकुल रहकर जैसे इस लोकमें सुखका अनुभव करता है वैसे ही वह राग-द्वेषसे रहित हो जानेके कारण पाप कर्मसे रहित होकर परलोक (स्वर्गादि) में भी सुखका अनुभव करता है ।। १८७ ।। यहां संसारमें एक मरणसे जो दूसरे मरणकी प्राप्ति है, यही प्राणियोंकी उत्पत्ति है। इसलिये जो जीव उत्पत्तिमें हर्षको प्राप्त होते हैं वे पीछे होनेवाली मृत्युके पक्षपाती हैं, ऐसा मैं समझता हूं ।। विशेषार्थ— लोकमें जब किसीके यहां पुत्रादिका जन्म होता है तब तो कुटुम्बी जन अतिशय हर्षको प्राप्त होकर उत्सव मनाते हैं और जब किसी इष्टका मरण होता है तब वे दुखी होकर रुदन करते हैं। वे यह नहीं विचार करते कि वह जन्म क्या है, आखिर आगे होनेवाली मृत्युका ही तो वह निमन्त्रण है। फिर जब वे पुत्रादिके जन्ममें उत्सव मनाते हैं तो यही क्यों न समझा जाय कि वे आगे होनेवाली उसकी मृत्युका ही उत्सव मना रहे हैं। कारण यह कि जब वह उत्पन्न हुआ है तो मरेगा भी अवश्य ही। कहा भी है— संयुक्तानां वियोगश्च भविता हि नियोगतः। किमन्यैरङ्गतोऽप्यङ्गी निःसंगो हि निवर्तते ॥

अधीत्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो
यदीच्छसि फलं तयोरिह हि लाभपूजादिकम्।

मृत्यन्तरशब्देनोच्यते, तस्य प्राप्तिः। तस्मिन् मृत्यन्तरे। पाश्चात्ये पश्चाद्भवे ॥ १८८ ॥ अथेदानीं सर्वसंगत्यागिनो मृत्यूत्सवयोः समानचेतसः सर्वशास्त्रविदः दुर्धरतपोऽनुष्ठायिनो मुनेः

अर्थात् जिनका संयोग हुआ है उनका वियोग भी अवश्यंभावी है। अन्यकी तो बात ही क्या है, किन्तु प्राणी सब कुछ यहींपर छोड़कर इस शरीरसे भी अकेला ही निकलकर जाता है ॥ क्ष. चू. १–६०. अभिप्राय यह है कि प्राणीकी मृत्यु और जन्म ये दोनों परस्पर अविनाभावी हैं। अतएव विवेकी जीवको न तो जन्ममें हर्षित होना चाहिये और न मरणमें दुखी भी। अन्यथा वह इस भवमें तो दुखी है ही, साथ ही इस प्रकारसे आसातावेदनीय आदिका बन्ध करके परभवमें भी दुखी ही रहनेवाला है ॥ १८८ ॥ समस्त आगमका अभ्यास और चिर काल तक घोर तपश्चरण करके भी यदि उन दोनोंका फल तू यहां सम्पत्ति आदिका लाभ और प्रतिष्ठा आदि चाहता है तो समझना चाहिये कि तू विवेकहीन होकर उस उत्कृष्ट तपरूप वृक्षके फलको ही नष्ट करता है। फिर ऐसी अवस्थामें तू उसके सुन्दर व सुस्वादु पके हुए रसीले फलको कैसे प्राप्त कर सकेगा? नहीं कर सकेगा ॥ विशेषार्थ— जिस प्रकार कोई मनुष्य वृक्षको लगाता है, जलसिंचन आदिसे उसे बढाता है, और आपत्तियोंसे उसका रक्षण भी करता है। परन्तु समयानुसार जब उसमें फूल आते हैं तब वह उन्हें तोड़ लेता है और इसीमें सन्तोषका अनुभव करता है। इस प्रकारसे वह मनुष्य भविष्यमें आनेवाले उसके फलोंसे वंचित ही रहता है। कारण यह कि फलोंकी उत्पत्तिके कारण तो वे फूल ही थे जिन्हें कि उसने तोड़कर नष्ट कर दिया है। ठीक इसी प्रकारसे जो प्राणी आगमका अभ्यास करता है और घोर तपश्चरण भी करता है परन्तु यदि वह उनके फलस्वरूप प्राप्त हुई ऋद्धियों एवं पूजा-प्रतिष्ठा

छिनत्सि सुतपस्तरोः प्रसवमेव शून्याशयः
कथं समुपलप्स्यसे सुरसमस्य पक्वं फलम् ॥ १८९ ॥
तथा श्रुतमधीष्व शश्वदिह लोकपंक्तिं विना
शरीरमपि शोषय प्रथितकायसंक्लेशनैः ।
कषायविषयद्विषो विजयसे यथा दुर्जयान्
शमं हि फलमामनन्ति मुनयस्तपःशास्त्रयोः ॥ १९० ॥

शिक्षां प्रयच्छन्नधीत्येत्यादिश्लोकद्वयमाह— अधीत्येत्यादि । उपास्य आराध्य । घोरं दुष्करम् । तयोः तपःश्रुतयोः । प्रसवं पुष्पम् । कथम् । न कथमपि । अस्य प्रसवस्य ॥१८९॥ तथेत्यादि । पङ्क्तिं व्यवहारं वञ्चनां वा । प्रथितानि प्रसिद्धानि । कषायविषयद्विषः कषायाश्च विषयाश्च त एव द्विषः शत्रवः । शमं रागाद्युपशमम् । आमनन्ति प्रतिपादयन्ति ॥ १९० ॥

आदिमें ही सन्तुष्ट हो जाता है तो उसको उस तपका जो यथार्थ फल स्वर्ग-मोक्षका लाभ था वह कदापि नहीं प्राप्त हो सकता है। अतएव तपरूप वृक्षके रक्षण एवं संवर्धनका परिश्रम उसका व्यर्थ हो जाता है। अभिप्राय यह हुआ कि यदि तपसे ऋद्धि आदिकी प्राप्तिरूप लौकिक लाभ होता है तो इससे साधुको न तो उसमें अनुरक्त होना चाहिये और न किसी प्रकारका अभिमान भी करना चाहिये। इस प्रकारसे उसे उसके वास्तविक फलस्वरूप उत्तम मोक्षसुखकी प्राप्ति अवश्य होगी ॥ १८९ ॥ हे भव्य जीव ! तू लोकपंक्तिके विना अर्थात् प्रतिष्ठा आदिकी अपेक्षा न करके निष्कपटरूपसे यहां इस प्रकारसे निरन्तर शास्त्रका अध्ययन कर तथा प्रसिद्ध कायक्लेशादि तपोंके द्वारा शरीरको भी इस प्रकारसे सुखा कि जिससे तू दुर्जय कषाय एवं विषयरूप शत्रुओंको जीत सके। कारण कि मुनिजन राग-द्वेषादिकी शान्तिको ही तप और शास्त्राभ्यासका फल बतलाते हैं ॥ विशेषार्थ— अभिप्राय इतना ही है कि प्राप्त हुए विशिष्ट आगमज्ञान एवं तपके निमित्तसे किसी प्रकारके अभिमान आदिको न प्राप्त होकर जो राग-द्वेष एवं विषयवांछा आदि परमार्थ सुखकी प्राप्तिमें बाधक हैं उन्हें ही नष्ट करना चाहिये। यही उस आगमज्ञान एवं तपका फल है ॥ १९० ॥ हे भव्य ! तू विषयी जनको देखकर

दृष्ट्वा जनं व्रजसि किं विषयाभिलाषं
स्वल्पोऽप्यसौ तव महज्जनयत्यनर्थम् ।
स्नेहाद्युपक्रमजुषो हि यथातुरस्य
दोषो निषिद्धचरणं न तथेतरस्य ॥ १९१ ॥

ननु सशृङ्गारलोकावलोकनाद्विषयाभिलाषोत्पत्तेः कथं कषायादिविजयः स्यादित्याह— दृष्ट्वेत्यादि । असौ विषयाभिलाषः । महदिति क्रियाविशेषणम् । स्नेहाद्युपक्रमजुषः स्नेहादेः अनुवासाद्देर्दधिदुग्धघृतादेर्वा । उपक्रमस्य आरम्भस्य । जुषः प्रीत्या सेवकस्य । निषिद्धाचरणं निषिद्धानुष्ठानम् । इतरस्य यथेष्टवृत्तस्य[1] ॥१९१॥ अपकारके च वस्तुनि प्राणिमात्रस्यापि द्वेषो[2] भवति,

स्वयं विषयकी अभिलाषाको क्यों प्राप्त होता है ? कारण कि थोड़ी-सी भी वह विषयाभिलाषा तेरे अधिक अनर्थ (अहित) को उत्पन्न करती है । ठीक ही है— जिस प्रकार कि तेल आदि स्निग्ध पदार्थोंका सेवन करनेवाले रोगी मनुष्यके लिये दोषजनक होनेसे उनका सेवन करना निषिद्ध है उस प्रकार वह दूसरेके लिये नहीं है ।। विशेषार्थ — जो विषयोंसे विरक्त होकर तपमें प्रवृत्त हुआ है वह यदि स्त्रीजन आदिको देखकर फिरसे विषयकी इच्छा करता है तो इससे उसका बहुत अधिक अहित होनेवाला है । जैसे कि कोई रोगी यदि तेल-घी आदि अपथ्य वस्तुओंका सेवन करता है तो इससे उसका रोग अधिक ही बढ़ता है और तब वह इससे भी अधिक कष्टमें पड़ता है । परन्तु जो स्वस्थ है उसके लिये उन घी-तेल आदि पदार्थोंका सेवन निषिद्ध नहीं है । कारण कि वह उनको पचा सकता है । इसी प्रकार यदि कोई गृहस्थ स्त्री आदिको देखकर विषयसुखकी इच्छा करता है तो इससे उसका कुछ विशेष अहित होनेवाला नहीं है । कारण यह कि वह गृहस्थ अवस्थामें स्थित है— अभी वह उनका परित्याग नहीं कर सका है । परन्तु जो साधु अवस्थामें स्थित है और जो उनका परित्याग कर चुका है वह यदि फिरसे उनमें अनुरक्त होता है तो यह उसके लिये लज्जाजनक तो है ही, साथ ही इससे उसकी परलोकमें भी बहुत अधिक हानि होनेवाली है ॥ १९१ ॥ अहित-

१ प यथेष्टाप्रवृत्तस्य । २ ज स दोषो ।

अहितविहितप्रीतिः प्रीतं कलत्रमपि स्वयं
सकृदपकृतं श्रुत्वा सद्यो जहाति जनोऽप्ययम्।
स्वहितनिरतः साक्षाद्दोषं समीक्ष्य भवे भवे
विषयविषवद्ग्रासाभ्यासं कथं कुरुते बुधः ॥ १९२ ॥

विषयाश्च भवतो भूयोऽपकारं कृतवन्तोऽतः कथं तत्राभिलाषो युक्त इत्याह— अहितेत्यादि । अयम् अपि अहितविहितप्रीतिः जनः । सद्यः स्वयं जहाति । किं तत् । कलत्रम् । कथंभूतम् । प्रीतमपि वल्लभमपि । किं कृत्वा । अपकृतं श्रुत्वा कृतापराधम् आकर्ण्य । कथम् । सकृत् एकवारम् । भवान् पुनः बुधः स्वहितनिरतः भवे भवे विषयाणां साक्षाद्दोषं समीक्ष्य विषया एव विषवद्ग्रासस्तस्याभ्यासं पुनः पुनः सेवां कथं कुरुते ॥ १९२ ॥ यदा च तदभ्यासं कुरुते भवांस्तदा कीदृशोऽन्यदा च कीदृशः इत्याह— आत्मन्नित्यादि । हे आत्मन् । आसीस्त्वं

कारक विषयोंमें अनुराग करनेवाला यह अज्ञानी मनुष्य भी यदि एक बार भी दुराचरणको सुनता है तो वह अतिशय प्यारी स्त्रीको भी शीघ्र छोड़ देता है। फिर हे भव्य ! तू विद्वान् एवं आत्महितमें लीन हो करके प्रत्यक्षमें अनेक भवोंमें विषयोंके दोषको देखता हुआ भी उन विषयोंरूप विषमिश्रित ग्रासका वार वार कैसे सेवन करता है ? ॥ विशेषार्थ— जो मनुष्य हिताहितके विवेकसे रहित होकर विषयोंमें अनुरक्त रहता है वह भी यदि कभी अपनी प्यारी स्त्रीके विषयमें कुछ दुराचरण आदिको सुनता है तो उस स्त्रीका परित्याग कर देता है। परन्तु आश्चर्य है कि जो विद्वान् आत्महितमें तत्पर है तथा जिसने एक भवमें ही नहीं, बल्कि अनेक भवोंमें विषयोंसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंका प्रत्यक्षमें अनुभव भी कर लिया है; वह विषके समान अनिष्ट उन विषयोंको नहीं छोड़ता है। इससे अधिक लज्जाकी बात भला और क्या हो सकती है ? ॥ १९२ ॥ हे आत्मन् ! तू आत्मस्वरूपको नष्ट करनेवाले अपने आचरणोंके द्वारा चिर कालसे दुरात्मा अर्थात् बहिरात्मा रहा है। अब तू आत्माका हित करनेवाले ऐसे अपने समस्त आचरणोंको अपनाकर उनके द्वारा उत्तम आत्मा अर्थात् अन्तरात्मा हो जा। इससे तू अपने आपके द्वारा प्राप्त करने योग्य

आत्मन्नात्मविलोपनात्मचरितैरासीर्दुरात्मा चिरं
स्वात्मा स्याः सकलात्मनीनचरितैरात्मीकृतैरात्मनः।

दुरात्मा बहिरात्मा[1] चिरम्। कैः कृत्वा। आत्मविलोपनात्मचरितैः आत्मा विशेषेण लोप्यते निजस्वरूपात्प्रच्याव्यते तानि च तानि आत्मचरितानि, आत्मचरितानि च विषयादिप्रवृत्तयः तैः। स्वात्मा स्याः शोभन आत्मा अन्तरात्मा स्याः भवेः त्वम्। कैः कृत्वा। सकलात्मनीनचरितैः आत्मने हितानि आत्मनीनानि, तानि च तानि सकलानि च तानि आत्मचरितानि च तैः। आत्मीकृतैः। कस्य संबन्धिभिः तैः। आत्मनः स्वस्य। आत्मेत्यां आत्मना प्राप्याम्। प्रतिपतन् गच्छन्। प्रत्यात्मविद्यात्मकः केवलज्ञानरूपः। स्वात्मोत्थात्म-

परमात्मा अवस्थाको प्राप्त हो करके केवलज्ञानस्वरूपसे संयुक्त, विषयादिकी अपेक्षा न करके केवल अपनी आत्माके आश्रयसे ही उत्पन्न हुए आत्मीक सुखका अनुभव करनेवाला और अपनी आत्मा द्वारा प्राप्त किये गये निज स्वरूपसे सुशोभित होकर सुखी हो सकता है ॥ विशेषार्थ— अभिप्राय यह है कि यह प्राणी अनादि कालसे बहिरात्मा— आत्म-अनात्मके विवेकसे रहित— रहा है। इसीलिये उस समय उसका समस्त आचरण आत्मस्वरूपका घातक— हेय-उपादेयके विचारसे रहित— होकर राग-द्वेषादिसे परिपूर्ण रहा है। जब इसको सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है तब उसके आत्म-परका विवेक उत्पन्न हो जाता है। इसीलिये उसके आचरणमें भी परिवर्तन हो जाता है। तब वह ऐसी ही क्रियाओंको करता है जिनसे कि आत्माका हित होनेवाला है। यद्यपि चारित्रमोहनीयका उदय विद्यमान रहनेसे वह जब तब विषयोपभोगमें भी प्रवृत्त होता है, फिर भी वह उसे हेय ही समझता है— उपादेय नहीं समझता और न आसक्तिके साथ भी वह उन विषयोंमें प्रवृत्त होता है। तब उसकी अन्तरात्मा संज्ञा हो जाती है। यही अन्तरात्मा जब संसारके कारणभूत विषयोंसे पूर्णतया विरक्त होकर तप-संयमको स्वीकार करता है तब वह उनके द्वारा संवर और निर्जराको प्राप्त होता हुआ चार घातिया कर्मोंका क्षय करके आर्हन्त्य

१ ज 'बहिरात्मा' नास्ति।

आत्मेत्यां परमात्मतां प्रतिपतन् प्रत्यात्मविद्यात्मकः
स्वात्मोत्थात्मसुखो निषीदसि लसन्नध्यात्ममध्यात्मना ॥ १९३ ॥
अनेन सुचिरं पुरा त्वमिह दासवद्वाहित-
स्ततोऽनशनसामिभक्तरसवर्जनादिक्रमैः ।

सुखः स्वात्मोत्थं न विषयोत्थम् आत्मसुखं निजसुखं यस्य। निषीदसि सुखी भवसि। लसन् शोभमानः। अध्यात्मनि स्वस्वरूपे। अध्यात्मना विशुद्धात्मस्वरूपेण ॥ १९३ ॥ सा च परमात्मता सिद्धावस्थालक्षणा शरीराभावे भविष्यति, अतः सर्वदा अपकारकस्य शरीरस्य आगमोक्तविधिना अभावविधानाय यत्नः कर्तव्य इति दर्शयन्नाह— अनेनेत्यादि। अनेन

अवस्थाको प्राप्त करता है। उस समय वह सकल परमात्मा कहा जाता है। तत्पश्चात् वह शेष चार घातिया कर्मोंको भी नष्ट करके निकल परमात्मा (सिद्ध) हो जाता है। इस समय जो निराकुल सुख उसे प्राप्त होता है वह आत्माके द्वारा आत्मामें ही उत्पन्न किया गया आत्मीक सुख है जो शाश्वतिक (अविनश्वर) है। इस प्रकार यहां यह उपदेश दिया गया है कि हे आत्मन्! तू अनादि कालसे बहिरात्मा (मिथ्यादृष्टि) रहा है। उस समय तूने न्याय-अन्यायका विचार न करके जो मनमाना आचरण किया है उसके कारण अनेक दुःखोंको सहा है। इसलिये अब तू सम्यग्दर्शनको प्राप्त करके अन्तरात्मा बन जा और जो व्रत-संयम आदि आत्माके हितकारक हैं उनमें प्रवृत्त होकर परमात्मा बननेका प्रयत्न कर। ऐसा करनेपर ही तुझे वास्तविक सुख प्राप्त हो सकेगा ॥ १९३ ॥ पूर्व समयमें इस शरीरने तुझे संसारमें बहुत काल तक दासके समान घुमाया है। इसलिये तू आज इस घृणित शरीरको हाथमें आये हुए शत्रुके समान जब तक कि वह नष्ट नहीं होता है तब तक अनशन, ऊनोदर एवं रसपरित्याग आदिरूप विशेष तपोंके द्वारा क्रमसे कृश कर ॥ विशेषार्थ— लोकमें जो जिसका अहित करता है वह उसका शत्रु माना जाता है। इस स्वरूपसे तो यह शरीर ही अपना वास्तविक शत्रु सिद्ध होता है। कारण यह कि शत्रु तो कभी किसी विशेष समयमें ही प्राणीको कष्ट देता है, परन्तु यह

क्रमेण विलयावधि स्थिरतपोविशेषैरिदं
कदर्थय शरीरकं रिपुमिवाद्य हस्तागतम् ॥ १९४ ॥
आदौ तनोर्जननमत्र हतेन्द्रियाणि
काङ्क्षन्ति तानि विषयान् विषयाश्च मानं-
हानिप्रयासभयपापकुयोनिदाः स्यु-
र्मूलं ततस्तनुरनर्थपरंपराणाम् ॥ १९५ ॥

शरीरेण । सामिभक्तम् अवमोदर्यम् । विलयावधि मरणपर्यन्तम् । शरीरकं[2] कुत्सितं शरीरम् । अद्य सांप्रतम् ॥ १९४ ॥ अत्र संसारे या काचित् अनर्थपरंपरा तस्याः साक्षात् परंपरया वा शरीरमेव कारणमतस्तदुक्तप्रकारेण कदर्थनीयमेवेत्याह— आदावित्यादि । आदौ प्रथमम् । तत्र तनौ । हतेन्द्रियाणि निकृष्टेन्द्रियाणि ॥ १९५ ॥ एवंविधं शरीरं पोषयित्वा किं

शरीर तो जीवको अनादि कालसे अनेक योनियोंमें परिभ्रमण कराता हुआ कष्ट देता रहा है। अतएव जिस प्रकार वह लोकप्रसिद्ध शत्रु जब मनुष्यके हाथमें आ जाता है तब वह उसे पूर्ण भोजन आदि न दे करके अथवा अनिष्ट भोजन आदिके द्वारा संतप्त करके नष्ट करनेका प्रयत्न करता है उसी प्रकार तू भी इस शरीरको उस शत्रुसे भी भयानक समझकर उसे अनशनादि तपोंके द्वारा क्षीण करनेका प्रयत्न कर। इस प्रकारसे तू उसके नष्ट होनेके पूर्वमें अपने प्रयोजन (मोक्षप्राप्ति) को सिद्ध कर सकेगा। और यदि तूने ऐसा न किया तथा वह बीचमें ही नष्ट हो गया तो वह तुझे फिर भी अनेक योनियोंमें परिभ्रमण कराकर दुखी करेगा। अभिप्राय यह है कि जब यह दुर्लभ मनुष्यशरीर प्राप्त हो गया है तो इसे यों ही नष्ट नहीं कर देना चाहिये, किन्तु उससे जो अपना अभीष्ट सिद्ध हो सकता है— संयमादिके द्वारा मुक्तिलाभ हो सकता है— उसे अवश्य सिद्ध कर लेना चाहिये ॥ १९४ ॥ प्रारम्भमें शरीर उत्पन्न होता है, इस शरीरमें दुष्ट इन्द्रियां होती हैं, वे अपने अपने विषयोंको चाहती हैं; और वे विषय मानहानि (अपमान), परिश्रम, भय, पाप एवं दुर्गतिको देनेवाले हैं। इस प्रकारसे समस्त अनर्थोंकी परम्पराका मूल कारण वह शरीर ही है ॥ १९५ ॥ अज्ञानी जन शरीरको पुष्ट

१ मु (जै.) मानं, मु (नि.) मानः । २ अ स अवमोदर्यं तं शरीरकं ।

शरीरमपि पुष्णन्ति सेवन्ते विषयानपि।
नास्त्यहो दुष्करं नृणां विषाद्वाञ्छन्ति जीवितुम् ॥ १९६ ॥
इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथा मृगाः।
वनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः ॥ १९७ ॥
वरं गार्हस्थ्यमेवाद्य तपसो भाविजन्मनः।
श्वः स्त्रीकटाक्षलुण्टाकलोप्यवैराग्यसंपदः ॥ १९८ ॥

कुर्वन्तीत्याह— शरीरमित्यादि। पुष्णन्ति पोषयन्ति ॥ १९६ ॥ शरीरं च कदर्थयन्तो गिरिगह्वरादीनि कायक्लेशस्थानानि परित्यज्य कालवशेन ग्रामसमीपे मुनयो वसन्ति इति दर्शयन्नाह— इत इत्यादि। विभावर्यां रात्रौ। उपग्रामं ग्रामसमीपे। कलौ पञ्चमकाले ॥१९७॥ तथा कलौ तपो गृहीत्वा स्त्रीवशवर्तिनां गृहस्थावस्थैव श्रेष्ठेत्याह— वरमित्यादि। वरं श्रेष्ठम्। किं तत्। गार्हस्थ्यमेव गृहस्थरूपतैव। कस्मात्। तपसः पञ्चमहाव्रतादिरूपात्। किंविशिष्टात्। भाविजन्मनः प्रवर्धमानसंसारात्। 'भाविजन्म यत्' इति पाठः, तत्र गार्हस्थ्यविशेषणमिदम्। पुनः कथंभूतादित्याह— श्व इत्यादि। अयमर्थः– अद्य गृहीतात्तपसः श्वः प्रातः स्त्रीकटाक्षा एव लुण्टाकाश्चौराः तैर्लोप्यवैराग्यसंपदः तपसः। ततो गार्हस्थ्यमेव वर-

---

करते हैं और विषयोंका भी सेवन करते हैं। ठीक है– ऐसे मनुष्योंको कोई भी कार्य दुष्कर नहीं है– वे सब ही अकार्य कर सकते हैं। वे वैसा करते हुए मानो विषसे जीवित रहनेकी इच्छा करते हैं ॥ १९६ ॥ जिस प्रकार हिरण वनमें इधर उधर दुखी होकर– सिंहादिकोंसे भयभीत होकर– रात्रिमें उस वनसे गावके निकट आ जाते हैं उसी प्रकार इस पंचम कालमें मुनिजन भी वनमें इधर उधर दुखी होकर– हिंसक एवं अन्य दुष्ट जनोंसे भयभीत होकर– रात्रिमें वनको छोड़कर गांवके समीप रहने लगे हैं, यह खेदकी बात है ॥ १९७ ॥ आज जो तप ग्रहण किया गया है वह यदि कल स्त्रियोंके कटाक्षोंरूप लुटेरोंके द्वारा वैराग्यरूप सम्पत्तिसे रहित किया जाता है तो जन्मपरम्परा (संसार) को बढ़ानेवाले उस तपकी अपेक्षा तो कहीं गृहस्थ जीवन ही श्रेष्ठ था ॥ विशेषार्थ— अभिप्राय यह है कि जिसने पूर्वमें विषयोंसे विरक्त होकर समस्त परिग्रहके परित्यागपूर्वक तपको स्वीकार किया है वह यदि पीछे

स्वार्थभ्रंशं त्वमविगणयंस्त्यक्तलज्जाभिमानः
संप्राप्तोऽस्मिन् परिभवशतैर्दुःखमेतत्कलत्रम् ।
नान्वेति त्वां पदमपि पदाद्विप्रलब्धोऽसि भूयः
सख्यं साधो यदि हि मतिमान् मा ग्रहीर्विग्रहेण ॥ १९९ ॥

मिति ॥ १९८ ॥ अस्तु तर्हि इदं चेत्याह— स्वार्थेत्यादि । स्वस्यार्थः प्रयोजनं तपः तस्य भ्रंशं विनाशम् । अविगणयन् अमन्यमानः । अस्मिन् शरीरे सति परिभवः मानखण्डनम् । दुःखं[१] सकलदुःखहेतुत्वात् । कलत्रं भार्या । नान्वेति त्वां नानुगच्छति त्वया सह । विप्रलब्धः वञ्चितः । सख्यं मैत्रीम् अभेदरूपताम् ॥ १९९ ॥ मूर्तानामपि हि पदार्थानामन्योन्यस्वरूपस्वीकारेणा-

स्त्रियोंके कटाक्षपात एवं हाव-भावादिसे पीड़ित होकर उस वैराग्यरूप सम्पत्तिको नष्ट करता है और अनुरागको प्राप्त होता है तो वह अतिशय निन्दाका पात्र बनता है । इससे तो कहीं वह गृहस्थ ही बना रहता तो अच्छा था । कारण कि इससे उसकी संसारपरम्परा तो न बढ़ती जो कि गृहीत तपको छोड़ देनेसे अवश्य ही बढ़नेवाली है । ॥ १९८ ॥ हे भव्य ! इस शरीरके होनेपर ही तूने इस दुखदायक स्त्रीको स्वीकार किया है और ऐसा करते हुए तूने लज्जा और स्वाभिमानको छोड़कर— निर्लज्ज एवं दीन बनकर— उसके निमित्तसे होनेवाले न तो सैकड़ों तिरस्कारोंको गिना और न अपने आत्मप्रयोजनसे—– तप-संयमादिको धारण करके उसके द्वारा प्राप्त होनेवाले मोक्षसुखसे— भ्रष्ट होनेको भी गिना । वह शरीर और स्त्री तेरे साथ निश्चयसे एक पद (कदम) भी जानेवाले नहीं हैं । इनसे अनुराग करके तू फिरसे भी धोखा खावेगा । इसलिये हे साधो ! यदि तू बुद्धिमान् है तो उस शरीरसे मित्रताको न प्राप्त हो— उसके विषयमें ममत्वबुद्धिको छोड़ दे ॥ १९९ ॥ कोई भी अन्य गुणवान् किसी अन्य गुणवान्के साथ अभेदस्वरूपताको नहीं प्राप्त होता है । परन्तु तू (अरूपी) किसी कर्मके वश उन रूपी शरीरादिके साथ अभेदको प्राप्त हो रहा है । जिन शरी-रादिको तू अभिन्न मानता है वे वास्तवमें तुझ स्वरूप नहीं हैं । इसीलिये

१ ज परिभवमानखंडनां दुःखं ।

न कोऽप्यन्योऽन्येन व्रजति समवायं गुणवता
गुणी केनापि त्वं समुपगतवान् रूपिभिरमा ।
न ते रूपं ते यानुपव्रजसि तेषां गतमतिः
ततश्छेद्यो भेद्यो भवसि बहुदुःखो भववने ॥ २०० ॥

भेदरूपता न प्रतीता, किं पुनर्मूर्तामूर्तयोः सा भविष्यतीत्याह— नेत्यादि । न कोऽपि घटादिर्गुणी । अन्यो भिन्नः । अन्येन भिन्नेन पटादिना गुणवता । समवायम् एकत्वं व्रजति । केनापि कर्मणा । रूपिभिः शरीरादिपुद्गलैः । अमा सह । समवायत्वं समुपगतवान् समाश्रितवान् । न ते रूपं ते तव न ते पुद्गलाः रूपं स्वरूपम् । यान् शरीरादिपुद्गलान् । उपव्रजसि अभेदबुद्धया प्रतिपद्यसे । कथंभूतः । तेषां गतमतिः तेषु आसक्तमतिः । ततः तदभेदप्रतिपत्तेः तदासक्तमतेश्च ॥ २०० ॥ तथा यदीदृग्भूतं शरीरं तत्रस्था बुद्धिरपि

तू उनमें ममत्वबुद्धिको प्राप्त होकर आसक्त रहनेसे इस संसाररूप वनमें छेदा भेदा जाकर बहुत दुखी होता है ॥ विशेषार्थ— लोकमें जो भी घट-पटादि भिन्न भिन्न वस्तुएं देखनेमें आती हैं वे मूर्तिकरूपसे समान होकर भी एक दूसरेके साथ अभेदरूपताको प्राप्त नहीं होती हैं । परन्तु यह अज्ञानी प्राणी स्वयं अमूर्तिक होकर भी अपनेसे भिन्न स्त्री-पुत्र एवं धन-सम्पत्ति आदि मूर्तिक पदार्थोंसे अभेदको प्राप्त होता है— उन्हें अपना मानता है । यह उसके कर्मोदयका प्रभाव समझना चाहिये । जब जीव स्वयं रूप-रसादिसे रहित (अमूर्तिक) एवं चैतन्यस्वरूप है तब उसकी एकता रूपादिसहित (मूर्तिक) एवं जडस्वरूप उन स्त्री पुत्रादिके साथ भला कैसे हो सकती है ? नहीं हो सकती है । फिर जो यह अपनी अज्ञानतासे उक्त भिन्न पदार्थोंको अपना समझकर उनके साथ अनुरागको प्राप्त होता है उसका फल यह होगा कि उसे नरक और तिर्यंच गतियोंमें जाकर छेदने भेदने आदिके दुस्सह दुःखोंको सहना पड़ेगा ॥ २०० ॥ इस शरीरकी उत्पत्ति तो माता है, मरण पिता है, आधि (मानसिक दुख) एवं व्याधि (शारीरिक दुख) सहोदर (भाई) हैं, तथा अन्तमें प्राप्त होनेवाला बुढ़ापा पासमें रहनेवाला मित्र है; फिर भी उस निन्द्य शरीरके

माता जातिः पिता मृत्युराधिव्याधी सहोद्गतौ।
प्रान्ते जन्तोर्जरा मित्रं तथाप्याशा शरीरके॥ २०१॥
शुद्धोऽप्यशेषविषयावगमोऽप्यमूर्तो-
ऽप्यात्मन् त्वमप्यतितरामशुचीकृतोऽसि।

कथमित्याह— मातेत्यादि। जातिः उत्पत्तिः। मृत्युः पूर्वानन्तरभवे प्राणत्यागः। आधिः मनःपीडा। सहोद्गतौ भ्रातरौ। प्रान्ते अवसाने। तथापि एवंविधदुःखहेतुसामग्रीसमन्वितोऽपि ॥ २०१॥ तथा शुद्धादिस्वरूपोऽपि त्वं शरीरेण अशुद्धादिरूपतां नीतोऽसीत्याह— शुद्धोऽपीत्यादि। शुद्धोऽपि अमलिनोऽपि। अशेषविषयावगमोऽपि हेयोपादेयतत्त्वपरिज्ञानवानपि। अमूर्तोऽपि निरुपलेपोऽपि। हे आत्मन्। इत्थंभूतस्त्वमपि येन शरीरेण अतितरां

विषयमें प्राणी आशा करता है ॥ विशेषार्थ— यदि किसी कुटुम्बमें स्थित व्यक्तिके माता-पिता, भाई-बन्धु एवं मित्र आदि सब ही प्रतिकूल स्वभाववाले हों तो ऐसे कुटुम्बसे सम्बन्ध रखनेवाले उस व्यक्तिसे किसीको भी अनुराग नहीं रहता है। परन्तु आश्चर्यकी बात है कि यह अज्ञानी प्राणी ऐसे प्रतिकूल कुटुम्बके बीचमें रहनेवाले शरीरसे भी कुछ आशा रखता हुआ उससे अनुराग करता है। उस शरीरके कुटुम्बमें उत्पत्ति (जन्म) माता और मरण पिता है जो परस्पर खूब अनुराग रखते हैं– एकके विना दूसरा नहीं रहना चाहता है। जीवको जो शारीरिक एवं मानसिक कष्ट होते हैं वे उस शरीरके सहोदर हैं– उसके साथमें ही उत्पन्न होनेवाले हैं। बुढ़ापा उसका प्यारा मित्र है। अभिप्राय यह है कि जिस शरीरके साथ जीवको निरन्तर जन्म-मरण, रोग, चिन्ता एवं बुढ़ापा आदिके दुःसह दुख सहने पड़ते हैं उससे अनुराग न रखकर उसे सदाके लिये ही छोड़ देने (मुक्त होने) का प्रयत्न करना चाहिये ॥ २०१॥ हे आत्मन्! तू स्वभावसे शुद्ध, समस्त विषयोंका ज्ञाता और रूप-रसादिसे रहित (अमूर्तिक) हो करके भी उस शरीरके द्वारा अतिशय अपवित्र किया गया है। ठीक है– वह मूर्तिक, सदा अपवित्र और जड़ शरीर

मूर्तं सदाशुचि विचेतनमन्यदत्र
किं वा न दूषयति धिग्धिगिदं शरीरम् ॥ २०२ ॥
हा हतोऽसि तरां जन्तो येनास्मिंस्तव सांप्रतम् ।
ज्ञानं कायाशुचिज्ञानं तत्त्यागः किल साहसम् ॥ २०३ ॥

अशुचीकृतः असि तच्छरीरं मूर्तं सदा अशुचि विचेतनं सत्। अत्र संसारे। अन्यत् कुङ्कुमकर्पूरादि किं न[1] दूषयति। अपि तु दूषयति अशुचीकरोत्येव। अतो धिक् ॥२०२॥ अतिशयेन निन्द्यमिदं शरीरम्, तत्र अनिन्द्यत[त्व]बुद्धया त्वं नष्टोऽसीत्याह— हेत्यादि। हा कष्टम्। हतोऽसि तराम् अतिशयेन नष्टोऽसि। येन कारणेन। अस्मिन् शरीरे। साम्प्रतम् इदानीम्। उक्तशरीररूपावगमे तव युक्तं ज्ञानं प्रमाणम्। किंविशिष्टम्। कायाशुचिज्ञानं कायः अशुचिरिति ज्ञानं परिच्छित्तिर्यत्र। तत्त्यागस्तस्य ज्ञानस्य त्यागः कार्यः [कायः] शुचिरिति विपरीतज्ञानम्। किल अहो। साहसम् अत्यद्भुतं कर्म। अथ वा हतोऽसि कदर्थितोऽसि। येन शरीरेण। अस्मिन् संसारे। साम्प्रतं तव ज्ञानं युक्तम्। कथंभूतम्। कायाशुचिज्ञानम्। एतच्च न साहसम्। तत्त्यागस्तस्य शरीरस्य त्यागः किल साहसम् ॥२०३॥

यहां कौन-सी पवित्र वस्तु (गन्ध विलेपनादि) को मलिन नहीं करता है ? अर्थात् सबको ही वह मलिन करता है। इसलिये ऐसे इस शरीर को वार वार धिक्कार है ।। २०२ ।। हे प्राणी ! तू चूंकि इस शरीरके विषयमें अतिशय दुखी हुआ है इसीलिये उस शरीरके सम्बन्धमें जो तुझे इस समय अपवित्रताका ज्ञान हुआ है वह योग्य है। अब उस शरीरका परित्याग करना, यह तेरा अतिशय साहस होगा ।। विशेषार्थ— अभिप्राय यह है कि जो शरीर अत्यन्त अपवित्र है उसे पवित्र मानकर यह अज्ञानी प्राणी अब तक दुखी रहा है। इसलिये उसका कर्तव्य है कि उक्त शरीरके विषयमें प्रथम तो वह 'यह अपवित्र है' ऐसे सम्यग्ज्ञानको प्राप्त करे और तत्पश्चात् उसे साहसपूर्वक छोड़नेका प्रयत्न करे। इस प्रकारसे वह शरीरके निमित्तसे जो दुख सह रहा था उससे छुटकारा पा जावेगा ।। २०३ ।। साधु अतिशय वृद्धिको प्राप्त हुए भी रोगादिकोंके

१ ज कर्पूरादिकं न।

अपि रोगादिभिर्वृद्धैर्न यतिः[1] खेदमृच्छति ।
उडुपस्थस्य कः क्षोभः प्रवृद्धेऽपि नदीजले ॥ २०४ ॥
जातामयः प्रतिविधाय तनौ वसेद्वा
नो चेत्तनुं त्यजतु वा द्वितयी गतिः स्यात् ।
लग्नाग्निमावसति वह्निमपोह्य गेहं
निर्याय[2] वा व्रजति तत्र सुधीः किमास्ते ॥ २०५ ॥

ननु अस्तु कायेऽशुचिविज्ञानम् उचितम्, तथापि प्रबलरोगाद्युदयाच्चित्तविक्षेपो भविष्यतीत्याशङ्क्य अपीत्यादिश्लोकद्वयमाह— अपीत्यादि । वृद्धैरपि महद्भिः अपि । उडुपस्थस्य नावि स्थितस्य ज्ञानस्थस्य च ॥ २०४ ॥ जातामय इत्यादि । जातः उत्पन्नः आमयो व्याधिः यस्य । प्रतिविधाय औषधादिना रोगप्रतीकारं कृत्वा । नो चेत् औषधादिना रोगा-

द्वारा खेदको नही प्राप्त होता है । ठीक है— नावमें स्थित प्राणीको नदीके जलमें अधिक वृद्धि होनेपर भी कौन-सा भय होता है ? अर्थात् उसे किसी प्रकारका भी भय नहीं होता है ॥ विशेषार्थ— जिस प्रकार स्थिर नावमें बैठे हुए मनुष्यको नदीमें जलके बढ़ जानेपर भी किसी प्रकारका खेद नहीं होता है । कारण कि वह यह समझता है कि नदीके जलमें वृद्धि होनेपर भी मैं इस नावके सहारेसे उसके पार जा पहुँचूगा । ठीक उसी प्रकारसे जिसको शरीरका स्वभाव ज्ञात हो चुका है कि वह अपवित्र, रोगादिका घर तथा नश्वर है; वह विवेकी साधु उक्त शरीरके कठिन रोगसे व्याप्त जानेपर भी किसी प्रकारसे खेदको नहीं प्राप्त होता है ॥ २०४ ॥ रोगके उत्पन्न होनेपर उसका औषधादिके द्वारा प्रतीकार करके उस शरीरमें स्थित रहना चाहिये । परन्तु यदि रोग असाध्य हो और उसका प्रतीकार नहीं किया जा सकता हो तो फिर उस शरीरको छोड़ देना चाहिये, यह दूसरी अवस्था है । जैसे— यदि घर अग्निसे व्याप्त हो चुका है तो यथासम्भव उस अग्निको बुझाकर प्राणी उसी घरमें रहता है । परन्तु यदि वह अग्नि नहीं बुझाई जा सकती है तो फिर उसमें रहनेवाला प्राणी उस घरसे निकलकर चला जाता है । क्या कोई बुद्धिमान् प्राणी उस जलते हुए घरमें रहता है ? अर्थात् नहीं रहता

[1] मु मुनिः । [2] मु निर्गाय ।

शिर स्थं भारमुत्तार्य स्कन्धे कृत्वा सुयत्नतः।
शरीरस्थेन भारेण अज्ञानी मन्यते सुखम् ॥ २०६ ॥
यावदस्ति प्रतीकारस्तावत्कुर्यात्प्रतिक्रियाम्।
तथाप्यनुपशान्तानामनुद्वेगः प्रतिक्रिया ॥ २०७ ॥

प्रतीकारे ॥२०५॥ प्रेक्षावतामुद्वेग कर्तुमनुचित इत्याह— ॥२०६॥ तदेवाह— यावदित्यादि। अनुपशान्ताना व्याधीनाम्। अनुद्वेग शरीरे उदासीनता ॥ २०७ ॥ कुतस्तत्रोदासीनता

है ॥ २०५ ॥ शिरके ऊपर स्थित भारको उतार कर और उसे प्रयत्नपूर्वक कन्धेके ऊपर करके अज्ञानी प्राणी उस शरीरस्थ भारसे सुखकी कल्पना करता है ॥ विशेषार्थ— जिस प्रकार कोई मनुष्य शिरके ऊपर रखे हुए बोझसे पीड़ित होता हुआ उसे प्रयत्नपूर्वक शिरसे उतारकर कन्धेके ऊपर रखता है और उस अवस्थामें अपनेको सुखी मानता है। परन्तु वह अज्ञानी प्राणी यह नहीं सोचता कि वह बोझा तो अभी भी शरीरके ही ऊपर स्थित है। भेद इतना ही हुआ है कि उसे शिरसे उतारकर कन्धेपर रख लिया है और ऐसा करनेसे उसके कष्टमें कुछ थोडी सी कमी अवश्य हुई है। परन्तु वास्तवमें इससे उसे सुखका लेश भी नहीं प्राप्त हुआ है। ठीक इसी प्रकारसे यह अविवेकी प्राणी भी शरीरमें उत्पन्न हुए रोगको यथायोग्य औषधि आदिसे नष्ट करके अपनेको सुखी मानता है। परन्तु वह यह नहीं विचार करता कि रोगोंका घर जो शरीर है उसका सयोग तो अभी भी बना है, ऐसी अवस्थामें सुख भला कैसे प्राप्त हो सकता है? सच्चा सुख तो तब ही प्राप्त हो सकेगा जब कि उसका शरीरके साथ सदाके लिये सम्बन्ध छूट जायगा। उसकी उपर्युक्त सुखकी कल्पना तो ऐसी है जैसे कि शिरसे बोझको उतारकर उसे कन्धेके ऊपर रखनेवाला मनुष्य सुखकी कल्पना करता है ॥ २०६ ॥ जब तक रोगोंका प्रतीकार हो सकता है तब तक उसे करना चाहिये। परन्तु फिर भी यदि वे नष्ट नहीं होते हैं तो इससे खेदको प्राप्त नहीं होना चाहिये। यही वास्तवमें उन रोगोंका प्रतीकार है ॥ २०७ ॥

यदादाय [1]भवेज्जन्मी त्यक्त्वा मुक्तो भविष्यति ।
शरीरमेव तत्त्याज्यं किं शेषैः क्षुद्रकल्पनैः ॥ २०८ ॥
नयेत् सर्वाशुचिप्रायः[2] शरीरमपि पूज्यताम् ।
सोऽप्यात्मा येन न स्पृश्यो दुश्चरित्रं धिगस्तु तत् ॥ २०९ ॥

कर्तव्येति चेत्परित्यागत्वात् । एतदेवाह— यदित्यादि । यच्छरीरम् आदाय गृहीत्वा । जन्मी संसारी । क्षुद्रकल्पनैः लघुविकल्पैः ॥ २०८ ॥ उपकारकेऽप्यात्मनि प्रतिकूलप्रवृत्तित्वाच्चेदं शरीरं त्याज्यमित्याह— नयदित्यादि । येन शरीरेण । न स्पृश्यो नानुकृतः सुविशुद्धचेतनत्वादिधर्मैः । दुश्चरित्रं तत्प्रसिद्धं चेष्टितं यस्य दुश्चरित्रं अथवा दुःखं चरित्रं मिथ्यानुष्ठानं तत्प्रसिद्धम् । यन दुश्चरित्रेण ॥२०९॥ एवंविधशरीरादिभागत्रयसमन्वितः संसारीति दर्शयन्

जिस शरीरको ग्रहण करके प्राणी जन्मवान् अर्थात् ससारी बना हुआ है तथा जिसको छोड़कर वह मुक्त हो जावेगा उस शरीरको ही छोड़ देना चाहिये । अन्य क्षुद्र विचारोंसे क्या प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है ? कुछ भी नहीं ॥ २०८ ॥ जो आत्मा प्राय. करके सब ओरसे अपवित्र ऐसे उस शरीरको भी पूज्य पदको प्राप्त कराता है उस आत्माको भी जो शरीर स्पर्श के योग्य भी नहीं रहने देता है उसको धिक्कार है ॥ विशेषार्थ— जीव जब संयम और तप आदिको धारण करता है तब उसका शरीर लोकवन्द्य बन जाता है । इस प्रकारसे जो आत्मा उस घृणित एवं अपवित्र शरीरको लोकपूज्य बनाता है उसका अनुकरण न कर वह शरीर उसे निन्द्य चाण्डालादि पर्यायमें प्राप्त कराकर स्पर्श करनेके योग्य भी नहीं रहने देता है । इस तरह उस शरीरको देव-मनुष्यादिके द्वारा पूज्य बनाकर आत्मा तो उसका उपकार करता है, परन्तु वह शरीर कृतघ्न होकर उस उपकारी आत्माके साथ इतना दुष्टतापूर्ण आचरण करता है कि उसे निन्द्य पर्यायमें प्राप्त कराकर ऐसा हीन बना देता है कि विवेकी जन उसका स्पर्श भी नहीं करना चाहते हैं । अभिप्राय यह है कि जब आत्मा उस शरीरके सम्बन्धसे ही लोकनिन्द्य होकर अनेक प्रकारके दुःखोंको सहता है तब ऐसे अहितकर शरीरके सम्बन्धको सदाके लिये छोड़ देना चाहिये ॥ २०९ ॥ संसारी प्राणीका रस आदि सात धातुओं-

१ मु यदा यदा भवे° । २ मु प्रायं ।

रसादिराद्यो भागः स्याज्ज्ञानावृत्यादिरन्वतः[1]।
ज्ञानादयस्तृतीयस्तु[2] संसार्येवं त्रयात्मकः ॥ २१० ॥
भागत्रयमयं नित्यमात्मानं बन्धवर्तिनम्।
भागद्वयात्पृथक् कर्तुं यो जानाति स तत्त्ववित् ॥ २११ ॥
करोतु न चिरं घोरं तपः क्लेशासहो भवान्।
चित्तसाध्यान् कषायारीन् न जयेद्यत्तदज्ञता ॥ २१२ ॥

रसादिरित्यादिश्लोकद्वयमाह— रसादिरिति। रसादिः सप्तधातुमयो देहः। आद्यः प्रथमः। ज्ञानावृत्त्यादिरष्टप्रकारः। अतो रसादिभागात्। अनु पश्चात्। द्वितीयो भागः स्यात् ॥२१०॥ भागेत्यादि। बन्धवर्तिनं कर्मबन्धसहितम्। भागद्वयात् शरीर-ज्ञानावरणादिलक्षणात् ॥२११॥ ननु भागद्वयात्पृथक्करणमात्मनो दुर्धरतपोऽनुष्ठानात् तच्च दुःशक्यमित्याह— करोत्वि-

रूप पहिला भाग है, इसके पश्चात् ज्ञानावरणादि कर्मोंरूप उसका दूसरा भाग है, तथा तीसरा भाग उसका ज्ञानादिरूप है; इस प्रकारसे संसारी जीव तीन भागस्वरूप है ॥ २१० ॥ इस प्रकार इन तीन भागोंस्वरूप व कर्मबन्धसे सहित नित्य आत्माको जो प्रथम दो भागोंसे पृथक् करनेके विधानको जानता है उसे तत्त्वज्ञानी समझना चाहिये ॥ विशेषार्थ— ऊपर संसारी जीवको जिन तीन भागोंस्वरूप बतलाया है उनमें प्रथम दो भाग— सप्तधातुमय शरीर और कार्मण शरीर— आत्मस्वरूपसे भिन्न, जड़ एवं पौद्गलिक हैं तथा तीसरा भाग जो ज्ञानादिस्वरूप है वह आत्म-स्वरूप चेतन है और वही उपादेय है। इस प्रकार जो जानता है तथा तदनुरूप आचरण भी करता है वह तत्त्वज्ञ है। इसके विपरीत जो प्रथम दो भागोंको ही आत्मा समझता है और इसीलिये जो उनसे आत्माको पृथक् करनेका प्रयत्न नहीं करता है वह अज्ञानी है ॥ २११ ॥ यदि तू कष्टको न सह सकनेके कारण घोर तपका आचरण नहीं कर सकता है तो न कर। परन्तु जो कषायादिक मनसे सिद्ध करने योग्य हैं— जीतने योग्य हैं— उन्हें भी यदि नहीं जीतता है तो वह तेरी अज्ञानता है ॥ विशेषार्थ— तपश्चरणमें भूख आदिके दुखको सहना पडता है, इसलिये यदि अनशन आदि तपोंको नहीं किया जा सकता है तो न भी किया

१ प °रन्वितः। २ ज स त्रितयस्तु।

हृदयसरसि यावन्निर्मलेऽप्यत्यगाधे
वसति खलु कषायग्राहचक्रं समन्तात् ।
श्रयति गुणगणोऽयं तन्न तावद्विशङ्कं
सयमशमविशेषैस्तान् विजेतुं यतस्व ॥ २१३ ॥
हित्वा हेतुफले किलात्र सुधियस्तां सिद्धिमामुत्रिकीं
वाञ्छन्तः स्वयमेव साधनतया शंसन्ति शान्तं मनः ।

त्यादि । क्लेशासहो यनः । चित्तसाध्यान् मनसा निर्जेतुं शक्यान् ॥ २१२ ॥ कषायाणामजये मुक्तिहेतुगुणानां उत्तमक्षमादीनां प्राप्तिरतिदुर्लभा इत्याह— हृदयेत्यादि । हृदयसरसि हृदयसरोवरे । गुणगणः उत्तमक्षमादिगुणसंघातः । अयं मोक्षहेतुतयाभिप्रेतः । तत् हृदयसरः । विशङ्कं निःशङ्कम् । सयमशमविशेषैः सह यमेन व्रतेन वर्तन्ते इति सयमास्ते च ते शमविशेषाश्च तीव्र-मन्द-मध्यमा उपशमभेदाः । यतस्व उद्यतो भव ॥ २१३ ॥ कषायविजयं मोक्षहेतुतया स्वयं प्रतिपाद्य पुनः कषायाधीनतां गतानुपहसन्नाह— हित्वेत्यादि । हित्वा त्यक्त्वा । के । हेतुफले विषय-तत्सुखे, अथवा हेतुर्निःसंगत्वादिः फलं तत्कार्यं शान्तं मनः ।

जाय। परन्तु जो राग, द्वेष, एवं क्रोधादि आत्माका अहित करनेवाले हैं उनको तो भले प्रकारसे जीता जा सकता है। कारण कि उनके जीतनेमें न तो तपके समान कुछ कष्ट सहना पड़ता है और न मनके अतिरिक्त किसी अन्य सामग्रीकी अपेक्षा भी करनी पड़ती है। इसलिये उक्त राग-द्वेषादिको तो जीतना ही चाहिये। फिर यदि उनको भी प्राणी नहीं जीतना चाहता है तो यह उसकी अज्ञानता ही कही जावेगी ॥ २१२ ॥ निर्मल और अथाह हृदयरूप सरोवरमें जब तक कषायोंरूप हिंस्र जल-जन्तुओंका समूह निवास करता है तब तक निश्चयसे यह उत्तम क्षमादि गुणोंका समुदाय निःशंक होकर उस हृदयरूप सरोवरका आश्रय नहीं लेता है। इसीलिये हे भव्य! तू व्रतोंके साथ तीव्र-मध्यमादि उपशमभेदोंसे उन कषायोंके जीतनेका प्रयत्न कर ॥ २१३ ॥ जो विद्वान् परिग्रहके त्यागरूप हेतु तथा उसके फलभूत मनकी शान्तिको छोड़कर उस पारलौकिक सिद्धिकी अभिलाषा करते हुए स्वयं ही उसके साधनस्वरूपसे शान्त मनकी प्रशंसा करते हैं उनका यह कार्य आखु-बिडालिकाके समान

तेषामाखुबिडालिकेति तदिदं धिग्धिक्कलेः प्राभवं
येनैतेऽपि फलद्वयप्रलयनाद् दूरं विपर्यासिताः ॥ २१४ ॥
उद्युक्तस्त्वं तपस्यस्यधिकमभिभवं त्वामगच्छन् कषायाः
प्राभूद्बोधोऽप्यगाधो जलमिव जलधौ किं तु दुर्लक्ष्यमन्यैः ।

किलेत्यस्त्वौ । आमुत्रिकीं पारलौकिकीम् । शंसन्ति श्लाघन्ते । शान्तं मनः उपशान्तं चित्तम् । अथ च कषायवशवर्तनं न परित्यजन्ति तेषामाखुबिडालिकेति— आखुश्च मूषकः बिडालश्च तयोरिव वैरम् । प्राभवं[1] प्रभुत्वम् । येन प्राभवेन[2] । एतेऽपि सुधियोऽपि । फलद्वयप्रलयनात् ऐहिक-पारत्रिकफलद्वयविनाशात् । दूरं विपर्यासिताः अतिशयेन वञ्चिताः ॥ २१४ ॥ कषायविनिग्रहं च कुर्वता त्वया सातिशयतपोज्ञानसंपन्नेन मात्सर्यलेशोऽप्युन्मूलयितव्य इति

है। यह सब कलि कालका प्रभाव है, उसके लिये धिक्कार हो। इस कलिकालके प्रभावसे ये विद्वान् भी इस लोक और परलोक सम्बन्धी फलको नष्ट करनेसे अतिशय ठगे जाते हैं ।। विशेषार्थ— जिन्होंने न तो परिग्रहको छोड़ा है और न कषायोंको भी उपशान्त किया है वे विद्वान् पारलौकिक सिद्धिकी अभिलाषा करके उसके साधनभूत अपने शान्त मनकी केवल प्रशंसा करते हैं। उनके इन दोनों कार्योंमें बिल्ली और चूहेके समान परस्पर जातिविरोध है। कारण कि जब तक परिग्रह और राग-द्वेषादिका परित्याग नहीं किया जाता है तब तक मन शान्त हो ही नहीं सकता। ऐसे लोग इस लोक और परलोक दोनों ही लोकोंके सुखको नष्ट करते हैं। इस लोकके सुखसे तो वे इसलिये वंचित हुए कि उन्होंने बाह्य विषयोंको छोड़ दिया है। साथ ही चूंकि वे अपने मनको शान्त कर नहीं सके हैं, इसलिये पाप कर्मका उपार्जन करनेसे परलोकके भी सुखसे वंचित होते हैं ॥ २१४ ॥ हे भव्य ! तू तपश्चरणमें उद्यत हुआ है, कषायोंका तूने अतिशय पराभव कर दिया है, तथा समुद्रमें स्थित अगाध जलके समान तेरेमें अगाध ज्ञान भी प्रगट हो चुका

१ ज स प्रभावं । २ ज स प्रभावेन ।

निर्व्यूढेऽपि प्रवाहे सलिलमिव मनाग्निम्नदेशेष्ववश्यं
मात्सर्यं ते स्वतुल्ये भवति परवशाद् दुर्जयं तज्जहीहि ॥ २१५ ॥
चित्तस्थमप्यनवबुद्ध्य हरेण जाड्यात्
क्रुद्ध्वा बहिः किमपि दग्धमनङ्गबुद्ध्या।
घोरामवाप स हि तेन कृतामवस्थां
क्रोधोदयाद्भवति कस्य न कार्यहानिः ॥ २१६ ॥

शिक्षां प्रयच्छन्नाह— उद्युक्त इत्यादि। उद्युक्तः उद्यतः। अधिकम् अभिभवम् अतिशयेन नाशम्। प्राभूद्बोधोऽप्यगाधः उत्पन्नो बोधोऽपि महान्। दुर्लक्ष्यं मात्सर्यम्। मनाक् ईषत्। परवशात् कर्मवशात् ॥ २१५ ॥ ननु कषायेषु सत्सु जीवस्य कोऽपकारः स्याद्येनावश्यं ते जेतव्याः इत्याशङ्क्य क्रोधोदयेऽपकारं दर्शयंश्चित्तस्थमित्याह— चित्तस्थेत्यादि। चित्तस्थमपि अनङ्गम्। घोरां बहुतरापमानकरीम्। अवाप प्रापितवान्। स हि— स हरः, हि स्फुटम्।

है; तो भी जैसे प्रवाहके सूख जानेपर भी कुछ नीचेके भागमें पानी अवश्य रह जाता है जो कि दूसरोंके द्वारा नहीं देखा जा सकता है, वैसे ही कर्मके वशसे जो अपने समान अन्य व्यक्तिमें तेरे लिये मात्सर्य (ईर्ष्या भाव) होता है वह दुर्जय तथा दूसरोंके लिये अदृश्य है। उसको तू छोड़ दे ।। विशेषार्थ— जो जीव घोर तपश्चरण कर रहा है, कषायोंको शान्त कर चुका है, तथा जिसे अगाध ज्ञान भी प्राप्त हो चुका है, फिर भी उसके हृदयमें अपने समान गुणवाले अन्य व्यक्तिके विषयमें जब कभी मात्सर्यभावका प्रादुर्भाव हो सकता है जो कि दूसरोंके द्वारा नहीं देखा जा सकता है। जैसे— जलप्रवाहके सूख जानेपर भी कुछ नीचेके भागोंमें जल शेष रह जाता है। उस मात्सर्य भावको भी छोड़ देनेका यहां उपदेश दिया गया है ।। २१५ ।। जिस महादेवने क्रोधके वश होते हुए अज्ञानतासे चित्तमें स्थित भी कामदेवको न जानकर उस कामदेवके भ्रमसे किसी बाह्य वस्तुको जला दिया था वह महादेव उक्त कामके द्वारा की गई भयानक अवस्थाको प्राप्त हुआ है। ठीक है— क्रोधके कारण किसके कार्यकी हानि नहीं होती है ? अर्थात् उसके कारण सब ही जनके

चक्रं विहाय निजदक्षिणबाहुसंस्थं
यत्प्राव्रजन्ननु तदैव स तेन मुञ्चेत्[1] ।
क्लेशं तमाप किल बाहुबली चिराय
मानो मनागपि हतिं महतीं करोति ॥ २१७ ॥

तेन अनङ्गेन ॥ २१६ ॥ मानोऽप्येऽपकारं दर्शयन्नाह— [चक्रं] विहायेत्यादि । विहाय त्यक्त्वा । स तेन– स बाहुबली, तेन प्रव्रजनेन तपसा वा । मुञ्चेत् मुक्तो भवेत् । चिराय

कार्यकी हानि होती है ॥ विशेषार्थ— जब महादेव तपस्या कर रहे थे तब उनको प्रसन्न करनेके लिये पार्वती कामदेवके साथ वहां पहुंची और नृत्यादिके द्वारा उन्हें प्रसन्न करनेका प्रयत्न करने लगी, इधर कामदेवने भी वसन्त ऋतुका निर्माण कर उनके ऊपर पुष्पबाणोंको छोड़ना प्रारम्भ कर दिया। इससे क्रोधित होकर महादेवने तीसरे नेत्रसे अग्निको प्रगट कर उक्त कामदेवको भस्म ही कर दिया। ऐसी कथा महाकवि कालिदासकृत कुमारसम्भव आदिमें प्रसिद्ध है। इसी कथाको लक्ष्यमें रखकर यहां बतलाया है कि महादेवने जिस कामदेवको क्रोधके वश होकर भस्म किया था वह तो वास्तवमें कामदेव नहीं था, सच्चा कामदेव तो उनके हृदयमें स्थित था जिसे उन्होंने जाना ही नहीं। इसीलिये उस कामदेवने पीछे पार्वतीके साथ विवाह हो जानेपर उनकी वह दुरवस्था की थी। यह सब अनर्थ एक क्रोधके कारण हुआ। अतएव ऐसे अनर्थकारी क्रोधका परित्याग ही करना चाहिये ॥ २१६ ॥ अपनी दाहिनी भुजाके ऊपर स्थित चक्रको छोड़कर जिस समय बाहुबलीने दीक्षा ग्रहण की थी उसी समय उन्हें उस तपके द्वारा मुक्त हो जाना चाहिये था। परन्तु वे चिरकाल तक उस क्लेशको प्राप्त हुए। ठीक है– थोड़ा-सा भी मान बड़ी भारी हानिको करता है ॥ विशेषार्थ— भरत चक्रवर्ती जब भरत क्षेत्रके छहों खण्डोंको जीतकर वापिस अयोध्या आये तब उनका चक्ररत्न अयोध्या नगरीके मुख्य द्वारपर ही रुक गया– वह उसके भीतर प्रविष्ट न हो सका। कारणका पता लगानेपर भरतको यह ज्ञात हुआ कि मेरा

1 मु (जै. नि.) मुक्तः ।

बहुतरकालम् ॥ २१७ ॥ गुणमहत्त्वपरंपरां पश्यतां च विवेकिनां न मानो मनागपि

छोटा भाई बाहुबली मेरी अधीनता स्वीकार नहीं करता है। एतदर्थ भरतने अपने दूतको भेजकर बाहुबलीको समझानेका प्रयत्न किया, किन्तु वह निष्फल हुआ– बाहुबलीने भरतकी अधीनता स्वीकार नहीं की। अन्तमें युद्धमें निरर्थक होनेवाले प्राणिसंहारसे डर कर उन दोनोंके बुद्धिमान् मंत्रियों द्वारा भरत और बाहुबलीके बीच जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध और बाहुयुद्ध ये जो तीन युद्ध निर्धारित किये गये थे उन तीनों ही युद्धोंमें भरत तो पराजित हुए और बाहुबली विजयी हुए। इस अपमानके कारण क्रोधित होकर भरतने चक्ररत्नका स्मरण कर उसे बाहुबलीके ऊपर चला दिया। परन्तु वह उनका घात न करके उनके हाथमें आकर स्थित हो गया। इस घटनासे बाहुबलीको विरक्ति हुई। तब उन्होंने समस्त परिग्रहको छोड़कर जिनदीक्षा धारण करली। उस समय उन्होंने एक वर्षका प्रतिमायोग धारण किया। तब तक वे भोजनादिका त्याग करके एक ही आसनसे स्थित होते हुए ध्यान करते रहे। इस प्रतिमा-योगके समाप्त होनेपर भरत चक्रवर्तीने आकर उनकी पूजा की और तब उन्हें केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई। इसके पूर्व उनके हृदयमें कुछ थोड़ी-सी ऐसी चिन्ता रही कि मेरे द्वारा भरत चक्रवर्ती संक्लेशको प्राप्त हुआ है। इसीलिये सम्भवतः तब तक उन्हें केवलज्ञान नहीं प्राप्त हुआ और भरत चक्रवर्तीके द्वारा पूजित होनेपर वह केवलज्ञान उन्हें तत्काल प्राप्त हो गया (देखिये महापुराण पर्व ३६)। पउमचरिउ (५, १३, १९) के अनुसार 'मैं भरतके क्षेत्र (भूमि) में स्थित हूं' ऐसी थोड़ी-सी कषायके विद्यमान रहनेसे तब तक उन्हें केवलज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई। बाहुबलीका हृदय मानकषायसे कलुषित रहा, ऐसा उल्लेख

देहादिचत्तसंगो माणकसाएण कलुसिओ धीर। अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्तियं कालं ॥४४

इस भावप्राभृतकी गाथामें भी पाया जाता है। इस प्रकार देखिये कि थोड़ा-सा भी अभिमान कितना भारी हानिको प्राप्त कराता है ॥ २१७ ॥

सत्यं वाचि मतौ श्रुतं हृदि दया शौर्यं भुजे विक्रमे[1]
लक्ष्मीर्दानमनूनम र्थिनिचये मार्गो[2] गतौ निर्वृतेः[3]।
येषां प्रागजनीह तेऽपि निरहंकाराः श्रुतेर्गोचराः
चित्रं संप्रति लेशतोऽपि न गुणास्तेषां तथाप्युद्धताः ॥ २१८ ॥

कर्तुमुचित इति दर्शयन् सत्यमित्यादिश्लोकद्वयमाह— अनूनं[4] परिपूर्णम्। अर्थिनिचये याचकसंघाते। मार्गः सम्यग्दर्शनादिः। गतौ गत्यर्थः। प्रागजनि एतत्सर्वं पूर्वं संजातम्। चित्रम् आश्चर्यम्। तेषां प्रागुक्तानाम्। संबन्धिनो गुणाः उद्धता गर्विताः ॥ २१८ ॥ वसतीत्यादि। अन्यैर्घनवातादिभिः। सा च भूः। ते च वायवः। अपरस्य आकाशस्य। तदपि

पूर्वमें यहां जिन महापुरुषोंके वचनमें सत्यता, बुद्धिमें आगम, हृदयमें दया, बाहुमें शूरवीरता, पराक्रममें लक्ष्मी, प्रार्थी जनोंके समूहको परिपूर्ण दान तथा मुक्तिके मार्गमें गमन; ये सब गुण रहे हैं वे भी अभिमानसे रहित थे; ऐसा आगम (पुराणों) से जाना जाता है। परन्तु आश्चर्य है कि इस समय उपर्युक्त गुणोंका लेश मात्र भी न रहनेपर मनुष्य अतिशय गर्वको प्राप्त होते हैं ॥ २१८ ॥ जिस पृथिवीके ऊपर सब ही पदार्थ रहते हैं वह पृथिवी भी दूसरोंके द्वारा– घनोदधि, घन और तनु वातवलयोंके द्वारा— धारण की गई है। वह पृथिवी और वे तीनों ही वातवलय भी आकाशके मध्यमें प्रविष्ट हैं, और वह आकाश भी केवलियों-के ज्ञानके एक कोनेमें विलीन है। ऐसी अवस्थामें यहां दूसरा अपनेसे अधिक गुणवालोंके विषयमें कैसे गर्व धारण करता है ? ॥ विशेषार्थ— व्यक्ति जिस विषयमें अभिमान करता है उस विषयमें उसका अभिमान तभी उचित कहा जा सकता है जब कि वह प्रकृत विषयमें परिपूर्णताको प्राप्त हो। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि लोकमें प्रत्येक विषयमें एकसे दूसरा और दूसरेसे तीसरा इस क्रमसे अधिकाधिक पाया जाता है। जैसे– पृथिवी महा प्रमाणवाली है, उसमें जगत्की सब ही वस्तुएं समायी हुई हैं। परन्तु वह विशाल पृथिवी भी वातवलयोंके आश्रित है। उस

१ मु (जै. नि.) विक्रमो। २ ज मु (जै. नि.) मार्गे। ३ मु (जै. नि.) गतिर्निर्वृते। ४ ज अन्यूनं।

वसति भुवि समस्तं सापि संधारितान्यैः
उदरमुपनिविष्टा सा च ते वा परस्य ।
तदपि किल परेषां ज्ञानकोणे निलीनं
वहति कथमिहान्यो गर्वमात्माधिकेषु ॥ २१९ ॥

आकाशमपि । वहति करोति धरति वा ॥ २१९ ॥ मायाकषायादपकारं दर्शयन् यशो मारीचीय-

पृथिवी और उन वातवलयोंसे भी महान् आकाश है जो उन सबको भी अपने भीतर धारण करता है । तथा इस आकाशसे भी महान् प्रमाणवाला सर्वज्ञका ज्ञान है जो उस अनन्त आकाशको भी अपने विषय स्वरूपसे ग्रहण करता है । इस प्रकारसे सर्वत्र ही जब उत्कर्षकी तरतमता पायी जाती है तब कोई भी किसी विषयमें पूर्णताका अभिमान नहीं कर सकता है ॥ २१९ ॥ यह मरीचिकी कीर्ति सुवर्णमृगके कपटसे मलिन की गई है, 'अश्वत्थामा हतः' इस वचनसे युधिष्ठिर स्नेही जनोंके बीचमें हीनताको प्राप्त हुए, तथा कृष्ण वामनावतारमें कपटपूर्ण बालकके वेषसे श्यामवर्ण हुए– अपयशरूप कालिमासे कलंकित हुए । ठीक है– थोड़ा-सा भी वह कपटव्यवहार महान् दूधमें मिले हुए विषके समान घातक होता है ॥ विशेषार्थ— मायाव्यवहारके कारण प्राणियोंको किस प्रकारका दुख सहना पड़ता है यह बतलाते हुए यहां मरीचि, युधिष्ठिर और कृष्णके उदाहरण दिये गये हैं । इनमें इन्हीं गुणभद्राचार्यके द्वारा विरचित उत्तरपुराणमें (देखिये पर्व ६८) मरीचिका वह कथानक इस प्रकार पाया जाता है– अयोध्यापुरीमें महाराज दशरथ राजा राज्य करते थे । किसी समय अवसर पाकर रामचन्द्र और लक्ष्मणने प्रार्थना की कि वाराणसी पुरी पूर्वमें हमारे आधीन रही है । इस समय उसका कोई शासक नहीं है । अतएव यदि आप आज्ञा दें तो हम दोनों उसे वैभवसे परिपूर्ण कर दें । इस प्रकार उनके अतिशय आग्रहको देखकर दशरथ राजाने कष्टपूर्वक उन्हें वाराणसी जानेकी आज्ञा दे दी । वाराणसी जाते

यशो मारीचीयं कनकमृगमायामलिनितं
हतोऽश्वत्थामोक्त्या प्रणयिलघुरासीद्यमसुतः।

मित्यादिश्लोकत्रयमाह— यश इत्यादि। मरीचेरिदं मारीचीयम्। प्रणयिलघुः प्रणयिनां

समय दशरथने रामचन्द्रको राजपद और लक्ष्मणको युवराजपद प्रदान किया। वे दोनों वहां जाकर न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करते हुए उसके स्नेहभाजन बन गये। उधर लंकामें प्रतापी रावण राज्य कर रहा था। उसे तीन खण्डोंके अधिपति होनेका बड़ा अभिमान था। उसके पास एक दिन नारदजी जा पहुंचे। रावण द्वारा आगमनका कारण पूछनेपर वे बोले कि मैं आज वाराणसीसे आरहा हूं। वहां दशरथ राजाका पुत्र रामचन्द्र राज्य करता है। उसे मिथिलाके स्वामी राजा जनकने यज्ञके बहाने वहां बुलाकर अपनी रूपवती सौभाग्यशालिनी कन्या दी है। वह आपके योग्य थी। राजा जनकने आप जैसे तीन खण्डोंके अधिपतिके होते हुए भी रामचन्द्रको कन्या देकर आपका अपमान किया है। यह मुझे सहन नहीं हुआ। इसीलिये स्नेहवश इधर चला आया। यह सुनकर रावण कामसे संतप्त हो उठा। तब उसने अपने मारीच नामक मंत्रीको बुलाकर उससे कहा कि दशरथ राजाके पुत्र राम और लक्ष्मण बहुत अभिमानी हो गये हैं, वे मेरे पदको प्राप्त करना चाहते हैं। अतएव उन दोनोंको मारकर रामचन्द्रकी पत्नी सीताके हरणका कोई उपाय सोचो। इसपर मारीचने रावणको बहुत कुछ समझाया। पर जब वह न माना तो सीताकी इच्छा जाननेके लिये उसके पास सूर्पणखाको भेजा गया। उस समय वसन्त ऋतुका समय होनेसे रामचन्द्र सीताके साथ चित्रकूट नामके उद्यानमें जाकर क्रीड़ा कर रहे थे। वहां जब वह सूर्पणखा वृद्धा स्त्रीका रूप धारण कर सीताके पास पहुंची तब अन्य रानियां उसकी हंसी करने लगीं। यह देखकर वह उनसे बोली कि आप सब बहुत सौभाग्यशालिनी

सकृष्णः कृष्णोऽभूत्कपटबटुवेषेण नितरा-
मपि च्छद्माल्पं तद्विषमिव हि दुग्धस्य महतः ॥ २२० ॥

स्नेहिनां मध्ये लघुः । सकृष्णः मषीवर्णः । कृष्णः वासुदेवः । कपटबटुः मायाबटुः । अपि

हैं । आप लोगोंने पूर्वमें कौन-सा पुण्यकार्य किया है, उसे मुझे बतलाइये । मैं भी तदनुसार अनुष्ठान करके इस राजाकी पत्नी होना चाहती हूं। यह सुनकर स्त्री-पर्यायकी निन्दा करते हुए सीताने जो उसे उपदेश दिया उससे हतोत्साह होकर वह वापिस चली गई । उसे निश्चय हो गया कि कदाचित् सुमेरु विचलित हो सकता है, पर सीताका मन विचलित नहीं हो सकता है । सूर्पणखासे यह समाचार जानकर रावण उसके ऊपर क्रोधित होता हुआ मारीचके साथ पुष्पक विमानपर आरूढ हुआ और उधर चल दिया । इस प्रकार चित्रकूट उद्यानमें जाकर उसने मारीचको मणिमय सुन्दर हरिण बनकर सीताके सामनेसे जानेकी आज्ञा दी। तदनुसार उसके सीताके सामनेसे निकलनेपर उसे देखकर सीताकी उत्सुकता बढ गई । उसकी उत्सुकताको देखकर रामचन्द्र उसे पकड़नेके लिये उसके पीछे चल पड़े । इस प्रकार बहुत दूर जानेपर वह कपटी हरिण आकाशमें उड़कर चला गया । उधर रावण रामचन्द्रके वेषमें सीताके पास पहुंचा और बोला कि हे प्रिये ! मैंने उस हरिणको पकड़-कर भेज दिया है । अब सन्ध्या हो गई है, इसलिये पालकीमें सवार होकर नगरको वापिस चलें । यह कहते हुए उसने मायासे पुष्पक विमानको पालकीके रूपमें परिणत कर दिया और अपने आपको इस प्रकार दिखलाया जैसे रामचन्द्र घोड़ेपर चढ़कर पृथिवीपर चल रहे हों । इस प्रकार भोली सीता अज्ञानतासे उसपर चढ गई और तब रावण उसे लंका ले गया । इस प्रकार सीताके अपहरणका कारण मारीचका वह कपटपूर्ण व्यवहार ही था जिसके कारण पृथिवीपर उसका अपयश फैला ।

'अश्वत्थामा हतः' इस वाक्यका उच्चारण करनेवाले युधिष्ठिरका

छद्मात्यं छद्म माया। अल्पमपि तत् छद्म। विषमिव दूषणकं भवति ॥ २२० ॥ मेयमित्यादि।

वह वृत्तान्त महाभारत (द्रोण पर्व अध्याय १९०–९२) में इस प्रकार पाया जाता है— महाभारत युद्धमें जब पाण्डव द्रोणाचार्यके बाणोंसे बहुत त्रस्त हो गये थे और उन्हें जयकी आशा नहीं रही थी तब उन्हें पीड़ित देखकर कृष्ण अर्जुनसे बोले कि द्रोणाचार्यको संग्राममें इन्द्रके साथ देव भी नहीं जीत सकते हैं। उन्हें युद्धमें मनुष्य तब ही जीत सकते हैं जब कि वे शस्त्रसंन्यास ले लें। इसके लिये हे पाण्डवो! धर्मको छोड़कर कोई उपाय करना चाहिये। मेरी समझसे अश्वत्थामाके मर जानेपर वे युद्ध न करेंगे और इस प्रकारसे तुम सबकी रक्षा हो सकती है। इसके लिये कोई मनुष्य युद्धमें उनसे अश्वत्थामाके मरनेका वृत्तान्त कहे। यह कृष्णकी सम्मति अर्जुनको नहीं रुची, युधिष्ठिरको वह कष्टके साथ रुचा, परन्तु अन्य सबको वह खूब रुची। तब भीमने मालव इन्द्रवर्माके अश्वत्थामा नामक भयंकर हाथीको अपनी गदाके प्रहारसे मार डाला और युद्धमें द्रोणाचार्यके सामने जाकर 'अश्वत्थामा हतः— अश्वत्थामा मर गया' इस वाक्यका जोरसे उच्चारण किया। उस समय चूंकि अश्वत्थामा नामका हाथी मर ही गया था, अतः ऐसा मनमें सोचकर भीमने यह मिथ्या भाषण किया। इस वाक्यको सुनकर यद्यपि द्रोणाचार्यको खेद तो बहुत हुआ फिर भी अपने पुत्रके पराक्रमको देखते हुए उस वाक्यके विषयमें संदिग्ध होकर उन्होंने धैर्यको नहीं छोड़ा। उस समय उन्होंने धृष्टद्युम्नके ऊपर तीक्ष्ण बाणोंकी वर्षा की। यह देखकर बीस हजार पंचालोंने युद्धमें उन्हें बाणोंसे ऐसा व्याप्त कर दिया जैसे कि वर्षा ऋतुमें मेघोंसे सूर्य व्याप्त हो जाता है। तब द्रोणाचार्यने क्रोधित होकर उन सबके बधके लिये ब्रह्म अस्त्र उत्पन्न किया और उन हजारों सुभटोंके साथ दम

हजार हाथियों और इतने ही घोड़ोंको मारकर उनके शवोंसे पृथिवीको व्याप्त कर दिया। इस प्रकार द्रोणाचार्यको क्षत्रियोंसे रहित पृथिवीको करते हुए देखकर अग्निको आगे करते हुए विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, वसिष्ठ, कश्यप और अत्रि आदि ऋषि उन्हें ब्रह्मलोकमें ले जानेकी इच्छासे वहां शीघ्र ही आ पहुंचे। वे सब उनसे बोले कि हे द्रोण! तुमने अधर्मसे युद्ध किया है, अब तुम्हारी मृत्यु निकट है, अतएव तुम युद्धमें शस्त्रको छोड़कर यहां स्थित हम लोगोंकी ओर देखो। अब इसके पश्चात् तुम्हें ऐसा अतिशय क्रूर कार्य करना योग्य नहीं है। तुम वेद-वेदांगके वेत्ता और सत्य धर्ममें लवलीन हो। इसलिये और विशेषकर ब्राह्मण होनेसे तुम्हें यह कृत्य शोभा नहीं देता। तुमने शस्त्रसे अनभिज्ञ मनुष्योंको ब्रह्मास्त्रसे दग्ध किया है। हे विप्र! यह जो तुमने दुष्कृत्य किया है वह योग्य नहीं है। अब तुम युद्धमें आयुधको छोड़ दो। इस प्रकार उन महर्षियोंके वचनोंको सुनकर तथा भीमसेनके वाक्य (अश्वत्थामा हतः) का स्मरण करके द्रोणाचार्य युद्धकी ओरसे उदास हो गये। तब उन्होंने भीमके वचनमें सन्दिग्ध होकर अश्वत्थामाके मरने व न मरने बावत युधिष्ठिरसे पूछा। कारण यह कि उन्हें यह दृढ़ विश्वास था युधिष्ठिर कभी असत्य नहीं बोलेगा। इधर कृष्णको जब यह ज्ञात हुआ कि द्रोणाचार्य पृथिवीको पाण्डवोंसे रहित कर देना चाहते हैं तब वे दुखित होकर धर्मराज (युधिष्ठिर) से बोले कि यदि द्रोणाचार्य क्रोधित होकर आधे दिन भी युद्ध करते हैं तो मैं सच कहता हूं कि तुम्हारी सब सेना नष्ट हो जावेगी। इसलिये आप हम लोगोंकी रक्षा करें। इस समय सत्यकी अपेक्षा असत्य बोलना कहीं अधिक प्रशंसनीय होगा। जो जीवितके लिये असत्य बोलता है वह असत्यजनित पापसे लिप्त नहीं होता है। कृष्ण और युधिष्ठिरके इस उपर्युक्त वार्तालापके समय भीमसेन युधिष्ठिरसे बोला कि हे महाराज! द्रोणाचार्यके बधके उपायको सुनकर मैंने मालव इन्द्रवर्माके अश्वत्थामा

नामसे प्रसिद्ध हाथीको मार डाला और तब द्रोणाचार्यसे कह दिया कि हे ब्रह्मन् ! अश्वत्थामा मर गया है, अब तुम युद्धसे विमुख हो जाओ। परन्तु उन्होंने मेरे कहनेपर विश्वास नहीं किया। अब आप कृष्णके वचनोंको मानकर विजयकी इच्छासे द्रोणाचार्यसे अश्वत्थामाके मर जाने बाबत कह दें। हे राजन् ! आपके वैसा कह देनेसे द्रोणाचार्य कभी भी युद्ध नहीं करेंगे। कारण कि आप तीनों लोकोंमें सत्यवक्ताके रूपमें प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार भीमसेनके कथनको सुनकर और कृष्णकी प्रेरणा पाकर युधिष्ठिर वैसा कहनेको उद्यत हो गये। तब उन्होंने 'अश्वत्थामा हतः' इस वाक्यांशको जोरसे कहकर पीछे अस्पष्ट स्वरसे यह भी कह दिया कि 'उत कुञ्जरो हतः – अश्वत्थामा मरा है अथवा हाथी मरा है'। जब तक युधिष्ठिरने उक्त वाक्यका उच्चारण नहीं किया था तब तक उनका रथ पृथिवीसे चार अंगुल ऊंचा था। परन्तु जैसे ही उन्होंने उसका उच्चारण किया कि वैसे ही उनके उस रथके घोड़े पृथिवीका स्पर्श करने लगे। उधर युधिष्ठिरके मुखसे उस वाक्यको सुनकर द्रोणाचार्य पुत्रके मरणसे संतप्त होते हुए जीवनकी ओरसे निराश हो गये। उस समय वे ऋषियोंके कथनानुसार अपनेको महात्मा पाण्डवोंका अपराधी समझने लगे। इस प्रकार वे पुत्रमरणके समाचारसे उद्विग्न एवं विमनस्क होकर धृष्टद्युम्नको देखते हुए भी उससे युद्ध करनेके लिये समर्थ नहीं हुए।

यह कथानक संक्षेपमें कुछ थोड़े-से परिवर्तनके साथ श्री शुभचन्द्रविरचित पाण्डवपुराण (पर्व २०, श्लोक २१८-२३३) तथा देवप्रभसूरिविरचित पाण्डवचरित्र (१३, ४९८-५१४) में भी पाया जाता है।

कृष्णके कपटपूर्ण बटुवेषका उपाख्यान वामनपुराण (अ. ३१) में इस प्रकार पाया जाता है– विरोचनका पुत्र एक बलि नामका दैत्य था, जो अतिशय प्रतापी था। उसके अशना नामकी पत्नीसे सौ पुत्र उत्पन्न हुए थे। एक समय वह यज्ञ कर रहा था। उस समय अकस्मात् पर्वतोंके साथ समस्त

पृथिवी क्षुभित हो उठी थी। पृथिवीको इस प्रकारसे क्षुभित देखकर बलिने शुक्राचार्यको नमस्कार कर उनसे इसका कारण पूछा। उत्तरमें वे बोले कि भगवान् कृष्णने वामनके रूपमें कश्यपके यहां अवतार लिया है। वे तुम्हारे यज्ञमें आ रहे हैं। उनके पादप्रक्षेपसे पृथिवी विचलित हो उठी है। यह उस जगद्धाता कृष्णकी माया है। शुक्राचार्यके इन वचनोंको सुनकर बलिको बहुत हर्ष हुआ, उसने अपनेको अतिशय पुण्यशाली समझा। उनका यह वार्तालाप चल ही रहा था कि उसी समय कृष्ण वामनके वेषमें वहां आ पहुंचे। तब बलिने अर्घ लेकर उनकी पूजा करते हुए कहा कि मेरे पास सुवर्ण, चांदी, हाथी, घोड़े, स्त्रियां, अलंकार एवं गायें आदि सब कुछ हैं, इनमेंसे जो कुछ भी मागो उसे मैं दूंगा। इसपर हंसकर कृष्णने वामनके रूपमें कहा कि तुम मुझे तीन पाद मात्र पृथिवी दो। सुवर्ण आदि तो उनको देना जो उनके ग्रहणकी इच्छा करते हों। इसे स्वीकार करते हुए बलिने उनके हाथपर जलधारा छोड़ी। उस जलधाराके गिरते ही कृष्णने वामनाकारको छोड़कर अपने सर्व देवमय विशाल रूपको प्रकट कर दिया। इस प्रकारसे कृष्णने तीन लोकोंको जीतकर और प्रमुख असुरोंका संहार कर उन तीनों लोकोंको इन्द्रके लिये दे दिया। इसके साथ ही उन्होंने सुतल नामक पाताल बलिके लिये भी दिया। उस समय वे बलिसे बोले कि तुमने जलधारा दी है और मैंने उसे हाथसे ग्रहण किया है, अतएव तुम्हारी आयु कल्प प्रमाण हो जावेगी, वैवस्वत मनुके पश्चात् सावर्णिक मनुके प्रादुर्भूत होनेपर तुम इन्द्र होओगे, इस समय मैंने समस्त लोक इन्द्रको दे दिया है। जब तुम देवों और ब्राह्मणोंसे विरोध करोगे तब तुम वरुणके पाशसे बांधे जाओगे। इस समय जो तुमने बहुत दानादि सत्कार्य किये हैं वे उस समय अपना फल देंगे। इस प्रकार कृष्णने मायापूर्ण व्यवहारसे बलि पर विजय पायी थी, अतएव वे अपयशरूप कालिमासे लिप्त हुए ॥ २२० ॥

भेयं मायामहागर्तान्मिथ्याघनतमोमयात्।
यस्मिंल्लीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादिविषमाहयः ॥ २२१ ॥
प्रच्छन्नकर्म मम[1] कोऽपि न वेत्ति धीमान्
ध्वंसं गुणस्य महतोऽपि हि मेति मंस्थाः।

भेयं भयं कर्तव्यम्। मायामहागर्तात् मायैव महागर्तः अन्धकूपः तस्मात्। कथंभूतात्। मिथ्याघनतमोमयात् मिथ्या असत्यं तदेव घनं निबिडं तमस्तेन निर्वृत्तात्[2]। यस्मिन् मायामहागर्ते। लीनास्तिरोहिताः। क्रोधादिविषमाहयः क्रोधादय एव विषमा रौद्रा अहयः सर्पाः ॥ २२१ ॥ प्रच्छन्नेत्यादि। प्रच्छन्नम् अप्रकटम्। ध्वंसं विनाशम्। मेति मंस्थाः इत्येवं मा बुध्यस्व। कामम् अत्यर्थम्। धवलदीधितीत्यादि– धवलदीधितिभिः शुभ्रकिरणैः

जो मायाचाररूप बडा गड्ढा मिथ्यात्वरूप सघन अन्धकारसे परिपूर्ण है तथा जिसके भीतर छिपे हुए क्रोधादि कषायोंरूप भयानक सर्प देखनेमें नहीं आते हैं उस मायारूप गड्ढेसे भयभीत होना चाहिये ।। विशेषार्थ— जिस प्रकार सघन अन्धकारसे परिपूर्ण एवं सर्पादिकोंसे व्याप्त गहरे गड्ढेमें यदि कोई प्राणी असावधानीसे गिर जाता है तो उससे उसका उद्धार होना अशक्य है– सर्पादिकोंके द्वारा काटनेसे वहां ही वह मरणको प्राप्त होता है। उसी प्रकार यह मायाचार भी एक प्रकारका गहरा गड्ढा ही है– गड्ढा यदि अन्धकारसे पूर्ण होता है तो वह मायाचार भी असत्य-सम्भाषणादिरूप अन्धकारसे पूर्ण है तथा गड्ढेमें जहां दुष्ट सर्पादि छिपे रहते हैं वहां मायाचारमें भी उक्त सर्पोंके समान कष्टप्रद क्रोधादि कषायें छिपी रहती हैं। अतएव आत्महितैषी जीवोंको उस भयानक मायाचाररूप गड्ढेसे दूर ही रहना चाहिये ।। २२१ ।। हे भव्य ! कोई भी बुद्धिमान् मेरे गुप्त पापकर्मको तथा मेरे महान् गुणके नाशको भी नहीं जानता है, ऐसा तू न समझ। ठीक है– अपनी धवल किरणोंके द्वारा प्राणियोंके संतापको दूर करनेवाले चन्द्रको अतिशय ग्रसित करनेवाला गुप्त

---

१ मुद्रितप्रतिपाठोऽयम्, ज प प्रच्छन्नपापमम, स प्रच्छन्नपापममि।
२ ज स निवृत्तात्।

कामं गिलन् धवलदीधितिधौतदाहं[1]
गूढोऽप्यबोधि न विधुं[2] स विधुन्तुदः कैः ॥ २२२ ॥
वनचरभयाद्धावन् दैवाल्लताकुलबालधिः
किल जडतया[3] लोलो बालव्रजेऽविचलं स्थितः ।

धौतः स्फेटितो दाहो येन विधुना तम् । गूढः दुर्लक्ष्यः । अबोधिः । विधुं[4] चन्द्रम् ॥ २२२ ॥ लोभकषायादपकारं दर्शयन्नाह—वनेत्यादि । वनचरः भिल्लः व्याघ्रादिर्वा । लताकुलबालधिः लतायां आलग्नपुच्छः । जल्लतया जडतया । लोलः लोभवान् । क ।

भी वह राहु किनके द्वारा नहीं जाना गया है? अर्थात् वह सभीके द्वारा देखा जाता है ॥ विशेषार्थ— मायावी मनुष्य प्रायः यह समझता है कि मैं जो यह कपटपूर्ण आचरण कर रहा हूं न उसे ही कोई जानता देखता है और न उसके कारण होनेवाली गुणकी हानिको भी। परन्तु यह समझना उसकी भूल है। देखो, जो चन्द्र अपनी निर्मल शीतल किरणोंसे संसारके संतापको दूर करके उसे आल्हादित करता है उसे राहु कितनी भी गुप्त रीतिसे क्यों न ग्रसित करे, परन्तु वह लोगोंकी दृष्टिमें आ ही जाता है– वह छिपा नहीं रहता है। अभिप्राय यह है कि मनुष्य जो कपटपूर्ण व्यवहार करता है वह तत्काल भले ही प्रगट न हो, किन्तु कालान्तरमें वह प्रगट हो ही जाता है। अतएव ऐसा समझकर मायापूर्ण व्यवहार कभी भी न करना चाहिये ॥२२२॥ बनमें संचार करनेवाले सिंहादि अथवा भीलके भयसे भागते हुए जिस चमर मृगकी पूँछ दुर्भाग्यसे लतासमूहमें उलझ गई है तथा जो अज्ञानतासे उस पूँछके बालोंके समूहमें लोभी होकर वहींपर निश्चलतासे खड़ा हो गया है, वह मृग खेद है कि उक्त सिंहादि अथवा व्याधके द्वारा प्राणोंसे भी रहित किया जाता है। ठीक है— जिनकी तृष्णा वृद्धिंगत

१ मु (जै. नि.) दाहो। २ मु (जै. नि) विधुः। ३ ज स अबोधि बुधः [बुधैः] विधुं। ४ प मु (जै. नि.) जडतया।

बत स चमरस्तेन प्राणैरपि प्रवियोजितः
परिणततृषां प्रायेणैवंविधा हि विपत्तयः ॥ २२३ ॥
विषयविरतिः संगत्यागः कषायविनिग्रहः
शमयमदमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यमः ।
नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषु दयालुता
भवति कृतिनः संसाराब्धेस्तटे निकटे सति ॥ २२४ ॥

बालव्रजे बालसमूहे । अविचलं यथा भवत्येवं स्थितः । तेन वनचरेण । प्राणैरपि— न केवलं बालव्रजेन, अपि तु प्राणैरपि स प्रकर्षेण प्रवियोजितः । परिणततृषा प्रवृद्धतृष्णानाम् । विपत्तयः आपदः ॥ २२३ ॥ तस्मात्कषायानेवंविधापकारकान् विनिर्जित्य आसन्नभव्यः एवंविधा सामग्रीं लभते इति दर्शयन् विषयेत्यादिश्लोकद्वयमाह— विषयेत्यादि । संगः परिग्रहः । तत्त्वाभ्यासः सप्ततत्त्वभावना । नियमिता नियन्त्रिता ॥२२४॥ यमनियमेत्यादि—

है उनके लिये प्रायः करके ऐसी ही विपत्तियां प्राप्त होती हैं ॥ विशेषार्थ — लोभी प्राणीको कैसा कष्ट भोगना पड़ता है, इसका उदाहरण देते हुए यहां यह बतलाया है कि देखो जो चमर मृग दौड़नेमें अतिशय प्रवीण होता है उसकी पूँछ जब व्याधादिके भयसे दौड़ते हुए लताओंमें फंस जाती है तब वह बालोंके लोभसे— मेरी पूँछके सुन्दर बाल टूट न जावे इस विचारसे — दौड़ना बंद करके वहींपर रुक जाता है और इसीलिये वह व्याधादिके द्वारा केवल उन बालोंसे ही रहित नहीं किया जाता है, किन्तु उनके साथ प्राणोंसे भी रहित किया जाता है। इसी प्रकार सभी लोभी जीवोंको उक्त लोभके कारण दुःसह दुख सहना पड़ता है ॥ २२३ ॥ इन्द्रियविषयोंसे विरक्ति, परिग्रहका त्याग, कषायोंका दमन, राग-द्वेषकी शान्ति, यम-नियम, इन्द्रियदमन, सात तत्त्वोंका विचार, तपश्चरणमें उद्यम, मनकी प्रवृत्तिपर नियन्त्रण, जिन भगवान्में भक्ति, और प्राणियोंपर दयाभाव; ये सब गुण उसी पुण्यात्मा जीवके होते हैं जिसके कि संसाररूप समुद्रका किनारा निकटमें आ चुका है ॥ २२४ ॥

यमनियमनितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्मा
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकम्पी ।
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः ॥ २२५ ॥
समधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः
स्वहितनिहितचित्ताः शान्तसर्वप्रचाराः ।
स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः
कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः ॥ २२६ ॥

यम-नियमनितान्तः यमो यावज्जीवं व्रतम्, नियमो नियतकालव्रतम्, तयोर्नितान्तः तत्परः। शान्तबाह्यान्तरात्मा शान्तः उपशान्तः व्यावृत्तो बाह्ये वस्तुनि अन्तरात्मा मनो यस्य। परिणमितसमाधिः स्थिरता गतसमाधिः। सर्वसत्त्वानुकम्पी सर्वप्राणिषु कारुणिकः। विहित-हितमिताशी विहितम् आगमोक्तं हितं परिणामपथ्यं मितं स्तोकम् अश्नातीत्येवंशीलः। क्लेशजालं क्लेशसंघातः[-तं]। समूलं तत्कारणभूतकर्मणा सह। निश्चिताध्यात्मसारः अनुभूत-शुद्धात्मस्वरूपः ॥ २२५ ॥ ये चैवंविधगुणसंपन्ना मुनयः ते मुक्तेर्भाजनं भवन्त्येवेत्याह— समधिगतेत्यादि। समधिगतं परिज्ञातं समस्तं हेयोपादेयतत्त्वं यैः। स्वहितनिहितचित्ताः स्वहिते रत्नत्रये निहितं स्थापितं चित्तं यैः। शान्तसर्वप्रचाराः शान्ता उपशमं गताः सर्वे-प्रचाराः सर्वेन्द्रियप्रवृत्तयः येषाम्। स्व-परसफलजल्पाः स्व-परयोः सफलः उपकारकः जल्पो वचनव्यापारो येषाम्। विमुक्ता मुनयः ॥ २२६ ॥ मुक्तिभाजनतामात्मनो वाञ्छता भवता

जो यम– यावज्जीवन धारण किये गये व्रत, तथा नियममें– परिमित कालके लिये धारण किये गये व्रतमें– उद्यत है, जिसकी अन्तरात्मा (अन्तःकरण) बाह्य इन्द्रियविषयोंसे निवृत्त हो चुकी है, जो ध्यानमें निश्चल रहता है, सब प्राणियोंके विषयमें दयालु है, आगमोक्त विधिसे हितकारक (पथ्य) एवं परिमित भोजनको ग्रहण करनेवाला है, निद्रासे रहित है, तथा जो अध्यात्मके रहस्यको जान चुका है; ऐसा जीव समस्त क्लेशोंके समूहको जड़मूलसे नष्ट कर देता है ॥ २२५ ॥ जो समस्त हेय-उपादेय तत्त्वके जानकार हैं, सब प्रकारकी पापक्रियाओंसे रहित हैं, आत्महितमें मनको लगाकर समस्त इन्द्रियव्यापारको शान्त करनेवाले हैं, स्व और परके लिये हितकर वचनका व्यवहार करते हैं, तथा सब संकल्प-विकल्पोंसे रहित हो चुके हैं; ऐसे वे मुनि यहां कैसे मुक्तिके पात्र न होंगे? अवश्य होंगे ॥ २२६ ॥ जो विषयरूप राजाकी दासताको प्राप्त हुए हैं तथा जिनका

दासत्वं विषयप्रभोर्गतवतामात्मापि येषां परस्-
तेषां भो गुणदोषशून्यमनसां किं तत्पुनर्नश्यति ।
भेतव्यं भवतैव यस्य भुवनप्रद्योति रत्नत्रयं
भ्राम्यन्तीन्द्रियतस्कराश्च परितस्त्वां तन्मुहुर्जागृहि ॥ २२७ ॥

रत्नत्रयवता तद्विलोपे भयं कर्तव्यम्, [न] पुनर्विषयासक्तजनवत्तत्र निर्भयेन भवितव्यमित्याह— दासत्वमित्यादि। परः पराधीनः। परितस्त्वां तव समन्तात्। मुहुर्जागृहि इन्द्रियचौरैर्यथा नाभिभूयसे तथा पुनः पुनर्दत्तावधानो भव ॥ २२७ ॥ विषयेषु विगतव्यामोहेन च भवता

आत्मा भी पर (पराधीन) है ऐसे उन गुण-दोषके विचारसे रहित मनवाले प्राणियोंका भला वह क्या नष्ट होता है ? अर्थात् उनका कुछ भी नष्ट नहीं होता है। परन्तु हे साधो ! चूंकि तेरे पास लोकको प्रकाशित करनेवाले अमूल्य तीन (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) रत्न विद्यमान हैं अतएव तुझको ही डरना चाहिये। कारण कि तेरे चारों ओर इन्द्रियरूप चोर घूम रहे हैं। इसलिये तू निरन्तर जागता रह ॥ विशेषार्थ— लोकमें देखा जाता है कि जिनके पास कुछ भी नहीं है उन्हें चोर आदिका कुछ भी भय नहीं रहता। वे रात्रिमें निश्चिन्त होकर गाढ़ निद्रामें सोते हैं। किन्तु जिनके पास धन-सम्पत्ति आदि होती है वे सदा भयभीत रहते हैं। उन्हें चोर-डाकू आदिसे उसकी रक्षा करनी पड़ती है। इसीलिये वे रात्रिमें सदा सावधान रहते हैं— निश्चिन्ततासे नहीं सोते हैं। यदि कोई धनवान् निश्चिन्ततासे सोता है तो चोरों द्वारा उसका धन लूट लिया जाता है। इसी प्रकारसे जो प्राणी विषयोंके दास बने हुए हैं उनके पास तो बहुमूल्य सम्पत्ति (सम्यग्दर्शनादि) कुछ भी नहीं है। इसीलिये वे चाहे सावधान रहें और चाहे असावधान, दोनों ही अवस्थायें उनके लिये समान हैं। परन्तु जिसके पास सम्यग्दर्शनादिरूप अमूल्य सम्पत्ति है तथा जिसे चुरानेके लिये उसके चारों ओर इन्द्रियरूप चोर भी घूम रहे हैं उसे तो उसकी रक्षा करनेके लिये सदा ही सावधान रहना चाहिये। कारण यह कि यदि उसने इस विषयमें थोड़ी-सी भी असावधानी की तो उसकी यह बड़े परिश्रमसे प्राप्त की गई सम्पत्ति उक्त चोरोंके द्वारा अवश्य लूट ली जावेगी— नष्ट कर दी जावेगी। इसीलिये यहां ऐसे ही साधुको लक्ष्य करके यह

रम्येषु वस्तुवनितादिषु वीतमोहो
मुह्येद् वृथा किमिति संयमसाधनेषु।
धीमान् किमामयभयात्परिहृत्य भुक्तिं
पीत्वौषधिं व्रजति जातुचिदप्यजीर्णम् ॥ २२८ ॥

कमण्डलुपिच्छिकाद्युपकरणेष्वपि व्यामोहो न कर्तव्य इति शिक्षां प्रयच्छन्नाह— रम्येष्वित्यादि। वीतमोहः विनष्टमोहः। मुह्येत् मोहं गच्छेत्। संयमसाधनेषु पिच्छिकाद्युपकरणेषु। आमयेत्यादि। यो हि व्याधिभयाद् भुक्तिं परिहरति स किं व्याधिप्रतीकारार्थं तथा मात्राधिकम् औषधम्। जातुचित् कदाचिदपि पिबति येन अजीर्णं भवति ॥ २२८ ॥ सर्वत्र विगत-

प्रेरणा की गई है कि तू सदा सावधान रहकर अपने रत्नत्रयकी रक्षा कर ॥ २२७ ॥ हे भव्य! जब तू रमणीय बाह्य अचेतन वस्तुओं एवं चेतन स्त्री-पुत्रादिके विषयमें मोहसे रहित हो चुका है तब फिर संयमके साधनभूत पीछी-कमण्डलु आदिके विषयमें क्यों व्यर्थमें मोहको प्राप्त होता है? क्या कोई बुद्धिमान् रोगके भयसे भोजनका परित्याग करता हुआ औषधिको पीकर कभी अजीर्णको प्राप्त होता है? अर्थात् नहीं प्राप्त होता है ॥ विशेषार्थ— जो बुद्धिमान् मनुष्य रोगके भयसे भोजनका परित्याग करता है वह कभी औषधिको अधिक मात्रामें पीकर उसी रोगको निमंत्रण नहीं देता है। और यदि वह ऐसा करता है तो फिर वह बुद्धिमान् न कहला कर मूर्ख ही कहा जावेगा। इसी प्रकार जो बुद्धिमान् मनुष्य चेतन (स्त्री-पुत्रादि) और अचेतन (धन-धान्यादि) पदार्थोंसे मोहको छोड़कर महाव्रतोंको स्वीकार करता है वह कभी संयमके उपकरणस्वरूप पीछी एवं कमण्डलु आदिके विषयमें अनुरागको नहीं प्राप्त होता है। और यदि वह ऐसा करता है तो समझना चाहिये कि वह अतिशय अज्ञानी है। कारण कि इस प्रकारसे उसका परिग्रहको छोड़कर मुनिधर्मको ग्रहण करना व्यर्थ ठहरता है। इसीलिये यहा यह उपदेश दिया गया है कि हे साधो! जब तू स्त्री आदि समस्त बाह्य वस्तुओंसे अनुराग छोड़ चुका है तो फिर पीछी कमण्डलु आदिके विषयमें भी व्यर्थमें अनुराग न कर। अन्यथा तू इस लोकके सुखसे तो रहित हो ही चुका है, साथ ही वैसा करनेसे परलोकके भी सुखसे वंचित हो जावेगा ॥ २२८ ॥ बाहिर उत्पन्न

तपः श्रुतमिति द्वयं बहिरुदीर्यं रूढं यदा
कृषीफलमिवालये समुपलीयते[1] स्वात्मनि ।
कृषीवल इवोज्झितः करणचौरबाधादिभिः
तदा हि मनुते यतिः स्वकृतकृत्यतां धीरधीः ॥ २२९ ॥

मोहोऽपि मुनिरित्थं कृतार्थतामात्मनो मन्यते इत्याह— तप इत्यादि । उदीर्य प्रकाश्य । रूढं प्रवृद्धम् । कृषीवलः कुटुम्बिकः । उज्झितस्त्यक्तः ॥ २२९ ॥ श्रुतज्ञानेन अशेषार्थव-

होकर वृद्धिंगत हुई कृषीके फल (अनाज) को जब चोर आदिकी बाधाओंसे सुरक्षित रखकर घर पहुंचा दिया जाता है तब जिस प्रकार धीरबुद्धि किसान अपनेको कृतकृत्य (सफलप्रयत्न) मानता है उसी प्रकार बाह्यमें उत्पन्न होकर वृद्धिको प्राप्त हुए तप और आगमज्ञान इन दोनोंको इन्द्रियोंरूप चोरोंकी बाधाओंसे सुरक्षित रखकर जब अपनी आत्मामें स्थिर करा देता है तब धीरबुद्धि साधु भी अपनेको कृतकृत्य मानता है ।। विशेषार्थ— जिस प्रकार साहसी किसान पहिले योग्य भूमिमें बीजको बोता है और जब वह अंकुरित हो जाता है तो वह उसकी पशु आदिसे रक्षा करता है । इस क्रमसे उसके पक जानेपर जब किसान उसे चोरों आदिसे बचाकर अपने घर पहुंचा देता है तब ही वह अपने परिश्रमको सफल मानकर हर्षित होता है । इसी प्रकारसे जो साधु बाह्यमें तपश्चरण करता है तथा आगमका अभ्यास भी करता है उसके ये दोनों कार्य उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होकर जब इन्द्रियोंकी बाधाओंसे सुरक्षित रहते हुए आत्मामें स्थिरताको प्राप्त हो जाते हैं तब ही उसे अपना परिश्रम सफल समझना चाहिये । ऐसी अवस्थामें ही वह अपने साध्य (मोक्ष) को सिद्ध कर सकता है, अन्यथा नहीं । यहां श्लोकमें जो ' धीरधी ' (धीरबुद्धि) विशेषण दिया गया है उसका यह भाव है कि जिस प्रकार किसान बीज बोते समय अधीर होकर यह कभी

१ मु (जै. नि.) समुपनीयते ।

दृष्टार्थस्य न मे किमप्ययमिति ज्ञानावलेपादमुं
नोपेक्षस्व जगत्त्रयैकडमरं निःशेषयाशाद्विषम् ।
पश्याम्भोनिधिमप्यगाधसलिलं बाबाध्यते वाडवः
क्रोडीभूतविपक्षकस्य जगति प्रायेण शान्तिः कुतः ॥ २३० ॥

गमान्मम न किंचित्कर्तुं समर्थोऽयमित्याशा-शत्रौ नोपेक्षा कर्तव्येति शिक्षां प्रयच्छन् दृष्टेत्याह— दृष्टार्थस्य ज्ञातार्थस्य । न मे किमप्ययम्— अयम् आशा-द्विट् न मे किमपि कर्तुं समर्थः । अवलेपात् गर्वात् । जगत्त्रयैकडमरं जगत्त्रयस्य एकम् अद्वितीयं डमरं भयं क्षोभो वा यस्मात् । निःशेषय स्फेटय । आशा-द्विषम् आशा-शत्रुम् । अगाधसलिलमपि । बाबाध्यते अतिशयेन बाधते । क्रोडीभूतविपक्षकस्य स्वीकृतशत्रोः ॥ २३० ॥ आशा-शत्रुं निर्मूलयता

विचार नहीं करता है कि यदि फसल अच्छी तैयार न हुई तो मुझे बीजकी हानि सहनी पड़ेगी, किन्तु इसके विपरीत वह साहस रखकर फलप्राप्तिकी आशासे ही उसे बोता है। उसी प्रकार जो समस्त बाह्य परिग्रहको छोड़कर तपश्चरणको स्वीकार करता है उसे भी अधीर होकर कभी ऐसा विचार नहीं करना चाहिये कि जिस तपके फल (स्वर्ग-मोक्ष) की प्राप्तिकी आशासे मैं वर्तमान सुखको छोड़कर उसे स्वीकार कर रहा हूं वह फल यदि न प्राप्त हुआ तो मुझे व्यर्थ ही कष्ट सहना पड़ेगा। किन्तु इसके विपरीत उसे यही निश्चय करना चाहिये कि तपका फल जो स्वर्ग-मोक्षकी प्राप्ति है वह मुझे प्राप्त होगा ही। तदनुसार उसे साहसके साथ उसकी प्रतीक्षा भी करनी चाहिये ॥ २२९ ॥ मैं पदार्थोंके स्वरूपको जान चुका हूं, इसलिये यह आशारूप शत्रु मेरा कुछ बिगाड़ नहीं कर सकता है; इस प्रकार ज्ञानके अभिमानसे तू तीनों लोकोंमें अतिशय भयको उत्पन्न करनेवाले उस आशारूप शत्रुकी उपेक्षा न करके उसे निर्मूल नष्ट कर दे। देखो, अथाह जलसे परिपूर्ण भी समुद्रको वाडवाग्नि अतिशय बाधा पहुंचाती है। ठीक है– जिसकी गोदमें (समीपमें) शत्रु स्थित है उसे भला संसारमें प्रायः शान्ति कहांसे प्राप्त हो सकती है ? अर्थात् नहीं प्राप्त हो सकती है ॥ २३० ॥ जिसका हृदय स्नेह (राग)

स्नेहानुबद्धहृदयो ज्ञानचरित्रान्वितोऽपि न श्लाघ्यः।
दीप इवापादयिता कज्जलमलिनस्य कार्यस्य ॥ २३१ ॥
रतेररतिमायातः पुना रतिमुपागतः।
तृतीयं पदमप्राप्य बालिशो बत सीदसि ॥ २३२ ॥

च भवता निर्मोहतैव कर्तव्येत्याह— स्नेहानुबद्धहृदयः अनुरागयुक्तहृदयः। अन्वितोऽपि सहितोऽपि। आपादयिता कर्ता। कज्जलमलिनस्य दुःकर्मणः ॥ २३१ ॥ तदनुबद्धहृदयश्च भवानिष्टानिष्टविषये रत्यरतिभ्यां क्लिश्यतीत्याह— रतेरित्यादि। रतेः अनुरागात्। अरतिं द्वेषम्। तृतीयं परम् उदासीनतालक्षणम्। बालिशः अज्ञः। सीदसि दुःखितो भवसि ॥ २३२ ॥

से सम्बद्ध है वह ज्ञान और चारित्रसे युक्त होकर भी चूंकि स्नेह (तेल) से सम्बद्ध दीपकके समान कज्जल जैसे मलिन कर्मोंको उत्पन्न करता है अतएव वह प्रशंसाके योग्य नहीं है ।। विशेषार्थ— जिस प्रकार दीपक स्नेह (तेल) से सम्बन्ध रखकर निकृष्ट काले कज्जलको उत्पन्न करता है उसी प्रकार जो साधु स्नेहसे सम्बन्ध रखता है– हृदयमें बाह्य वस्तुओंसे अनुराग करता है– वह ज्ञान और चारित्रसे युक्त होता हुआ भी उक्त अनुरागके वश होकर कज्जलके समान मलिन पाप कर्मोंको उत्पन्न करता है। अतएव उसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती है। हां, यदि वह उक्त स्नेहसे रहित होकर– राग-द्वेषको छोड़कर– उन ज्ञान और चारित्रको धारण करता है तो फिर वह चूंकि उक्त मलिन कर्मोंको नहीं बांधता है– उनकी केवल निर्जरा ही करता है– अतएव वह लोकका वंदनीय हो जाता है। दीपक भी जब स्नेहसे रहित हो जाता है– उसका तेल जल-कर नष्ट हो जाता है– तब वह कज्जलरूप कार्यको नहीं उत्पन्न करता है ।। २३१ ।। हे भव्य ! तू रागसे हटकर द्वेषको प्राप्त होता है और तत्पश्चात् उससे भी रहित होकर फिरसे उसी रागको प्राप्त होता है। इस प्रकार खेद है कि तू तीसरे पदको– राग-द्वेषके अभावरूप समताभावको– न प्राप्त करके यों ही दुखी होता है ।। २३२ ।। हे भव्य !

तावद् दुःखाग्नितप्तात्मायःपिण्डः सुखसीकरैः[1]।
निर्वासि निर्वृताम्भोधौ यावत्त्वं न निमज्जसि ॥ २३३ ॥
मङ्क्षु मोक्षं सुसम्यक्त्वसत्यंकारस्वसात्कृतम्।
ज्ञानचारित्रसाकल्यमूल्येन स्वकरे कुरु ॥ २३४ ॥

दुःखसंतप्तस्वरूपश्च त्वं मोक्षसुखाप्राप्तौ विषयसुखलवेन सुखिनमात्मानं मन्यसे इत्याह— तावदित्यादि। तावद्दुःखाग्नितप्तात्मा सन् अयःपिण्ड इव तावत्त्वं सुखसीकरैः इन्द्रियप्रभव-सुखलवैः। [न]निर्वासि न सुखीभवसि। निर्वृताम्भोधौ मोक्षसुखसमुद्रे ॥ २३३ ॥ तत्र निमज्जन च तत्स्वीकारे सति भवतीत्यतो ज्ञानादिमूल्येन तत्स्वीकारः क्रियतामित्याह— मङ्क्ष्वित्यादि। मङ्क्षु शीघ्रम्। मोक्ष स्वकरे कुरु गृहाण। कथंभूतम्। सुसम्यक्त्वसत्यंकार-

जब तक तू मोक्षसुखरूप समुद्रमें नहीं निमग्न होता है तब तक तू दुखरूप अग्निसे तपे हुए लोहेके गोलेके समान विषयजनित क्षणिक लेशमात्र सुखसे सुखी नहीं हो सकता है ॥ विशेषार्थ— जिस प्रकार अग्निसे संतप्त लोहेके गोलेको यदि थोड़े-से पानीमे डाला जाय तो वह उतने मात्रसे शान्त (शीतल) नहीं होता है, किन्तु जब उसे अधिक पानीके भीतर पूरा डुबा दिया जाता है तब ही वह शान्त होता है। इसी प्रकार जन्म-मरणादिके अनेक दु खोंसे संतप्त प्राणीको यदि थोड़ा-सा विषयजन्य क्षणिक सुख प्राप्त होता है तो इससे वह वास्तवमें सुखी नहीं हो सकता है। वह पूर्णतया सुखी तो तब ही हो सकता है जब कि कर्मबन्धनसे रहित होकर अनन्त शाश्वतिक सुखको प्राप्त कर ले ॥ २३३ ॥ हे भव्य ! तू निर्मल सम्यग्दर्शनरूप ब्याना देकर अपने आधीन किये हुए मोक्षको सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप पूरा मूल्य देकर शीघ्र ही अपने हाथमें करले ॥ विशेषार्थ— लोकव्यवहारमें जब कोई किसी वस्तुको खरीदना चाहता है तो वह इसके लिये पहिले कुछ ब्याना (मैं निश्चित ही इसे खरीदूंगा, इस प्रकारका बायदा करते हुए उसके मूल्यका कुछ भाग जो पूर्वमें दिया जाता है) देकर उक्त वस्तुको अपने आधीन कर लेता है, जिससे कि उक्त

१ मु (जै. नि.) पिण्ड इव सीदसि।

अशेषमद्वैतमभोग्यभोग्यं निवृत्तिवृत्त्योः परमार्थकोट्याम् ।
अभोग्यभोग्यात्मविकल्पबुद्ध्या निवृत्तिमभ्यस्यतु मोक्षकांक्षी ॥

स्वसात्कृतं सम्यक्त्वमेव सत्यंकारः संचकारः तेन स्वसात्कृतम् आत्माधीनं कृतम् । साकल्य-मूल्येन परिपूर्णमूल्येन ॥ २३४ ॥ सराग-वीतरागप्रकृष्टप्रवृत्ति-निवृत्त्यपेक्षया कीदृशमिदं जगदित्याह— अशेषमित्यादि । अशेषं जगत् । अद्वैतम् एकरूपम् । अभोग्यभोग्यं सत् । कस्यां सत्यामित्याह— निवृत्तीत्यादि । अयमर्थः— निवृत्तेः परमार्थकोट्यां परमप्रकर्षे सर्वं जगत् अभोग्यरूपमेव । वृत्तेः प्रवृत्तेः परमार्थकोट्यां सर्वं जगत् भोग्यरूपमेव । ततो यदि

वस्तुका स्वामी उसे किसी अन्य व्यक्तिको न वेच सके । तत्पश्चात् वह उक्त वस्तुका पूरा मूल्य देकर उसे अपने हाथमें कर लेता है । ठीक इसी प्रकारसे जो भव्य जीव मोक्षको प्राप्त करना चाहता है उसे पहिले ब्यानाके रूपमें सम्यक्त्वको देना चाहिये– धारण करना चाहिये । तत्पश्चात् सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप पूर्ण मूल्यके द्वारा उक्त मोक्षको अपने हाथमें कर लेना चाहिये । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार ब्याना देनेसे अभिलषित वस्तु उस ब्याना देनेवालेके लिये निश्चत हो जाती है उसी प्रकार सम्यक्त्वकी प्राप्तिसे अर्धपुद्गलपरावर्तन प्रमाण कालके भीतर मोक्षका लाभ भी निश्चित हो जाता है । इतने कालके भीतर जब भी वह पूर्ण मूल्यके समान सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको प्राप्त कर लेता है तब ही उसे अपने अभीष्ट उक्त मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है ॥ १३४ ॥ यह समस्त संसार एकरूप है– वास्तवमें भोग्य और अभोग्यकी कल्पनासे रहित है । फिर भी वह प्रवृत्ति और निवृत्तिकी अतिशय प्रकर्षतामें प्रवृत्तिकी अपेक्षा भोग्य और निवृत्तिकी अपेक्षा अभोग्य होता है । जो भव्य प्राणी मोक्षकी इच्छा करता है उसे भोग्य और अभोग्यरूप विकल्पबुद्धिसे निवृत्तिका अभ्यास करना चाहिये ॥ विशेषार्थ— विश्व एक रूप ही है । किन्तु जो जीव राग-द्वेषसे सहित है वह जिसे इष्ट समझता है उसके तो ग्रहण करनेमें प्रवृत्त होता है तथा जिसे वह अनिष्ट समझता है उसके छोड़नेमें प्रवृत्त होता है । इस प्रकार वह समस्त विश्वको ही भोगना चाहता है । परन्तु

निवृत्तिं भावयेद्यावन्निवृत्यं तदभावतः।
न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदमव्ययम्॥ २३६॥
रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम्।
तौ च बाह्यार्थसंबद्धौ[1] तस्मात्तान् सुपरित्यजेत्॥ २३७॥

मोक्षाभिलाषी भवान् तदा निवृत्तिमभ्यस्यतु। कस्याः। अभोग्यभोग्यात्मविकल्पबुद्धया अभोग्यभोग्यरूपभेदबुद्धेः॥ २३५॥ तन्निवृत्त्यभ्यासश्च कियत्काल कर्तव्य इत्याह— निवृत्तिमित्यादि। यावन्निवृत्त्यर्थं वस्तु विद्यते तावन्निवृत्तिं भावयेत्। तदभावतः न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदम् अव्ययम्॥ २३६॥ अथ का प्रवृत्तिः का वा निवृत्तिः किं विषया वा सेत्याह— रागेत्यादि। तान् बाह्यार्थान्॥ २३७॥ तत्परित्याग च कुर्वन्नहमित्थं भावनां

जो विवेकी जीव राग-द्वेषसे रहित होता है उसे इष्ट-अनिष्टकी कल्पना ही नहीं होती। इसीलिये वह एक मात्र अपने चैतन्यस्वरूपको छोड़कर अन्य सभी बाह्य वस्तुओंसे निवृत्त रहता है— उसे सब ही अभोग्य प्रतीत होता है। यही निवृत्तिमार्ग उपादेय है। मोक्षसुखाभिलाषी जीवको प्रवृत्तिमार्गसे अलग रहकर इस निवृत्तिमार्गका ही अभ्यास करना चाहिये॥ २३५॥ जब तक छोड़नेके योग्य शरीरादि बाह्य वस्तुओंसे सम्बन्ध है तब तक निवृत्तिका विचार करना चाहिये और जब छोड़नेके योग्य कोई वस्तु शेष नहीं रहती है तब न तो प्रवृत्ति रहती है और न निवृत्ति भी। वही अविनश्वर मोक्ष पद है॥ विशेषार्थ— जब तक बाह्य वस्तुओंसे अनुराग है तब तक निवृत्तिका अभ्यास करना चाहिये। तत्पश्चात् जब उन बाह्य वस्तुओंसे अनुराग नष्ट हो जाता है तब उनका संयोग भी हट जाता है और इसीलिये उस समय प्रवृत्ति और निवृत्तिसे रहित अविनश्वर मोक्ष पद प्राप्त हो जाता है॥ २३६॥ राग और द्वेषका नाम प्रवृत्ति तथा इन दोनोंके अभावका नाम ही निवृत्ति है। चूंकि वे दोनों (राग और द्वेष) बाह्य वस्तुओंसे सम्बन्ध रखते हैं अतएव उन बाह्य वस्तुओंका ही परित्याग करना चाहिये॥ २३७॥ मैंने संसाररूप

[1] ज स संबंधौ।

भावयामि भवावर्ते भावनाः प्रागभाविताः ।
भावये भाविता नेति भवाभावाय भावनाः ॥ २३८ ॥
शुभाशुभे पुण्यपापे सुखदुःखे च षट् त्रयम् ।
हितमाद्यमनुष्ठेयं शेषत्रयमथाहितम् ॥ २३९ ॥

भावयामीत्याह— भावयामीत्यादि । भावनाः पुनः पुनः चेतसि चिन्तनम् । प्रागभाविताः सम्यग्दर्शनादिभावनाः । भाविताः प्रागनुष्ठिताः मिथ्यादर्शनादिभावनाः । इत्यनेन प्रकारेण भावनाः भावये । भवाभावाय संसारविनाशाय ॥ २३८ ॥ भावनाविषयभूतं वस्तु किमात्मनो हितं किं वा अहितम् इत्याह— शुभेत्यादि । शुभाशुभे प्रशस्ताप्रशस्तौ वाक्-काय-मनो-व्यापारौ । त्रयमाद्यं शुभं पुण्यं सुखं च । हितमुपकारकम् । अनुष्ठेयं कर्तव्यम् ॥ २३९ ॥

भँवरमें पड़कर पहिले कभी जिन सम्यग्दर्शनादि भावनाओंका चिन्तन नहीं किया है उनका अब चिन्तन करता हूं और जिन मिथ्यादर्शनादि भावनाओंका वार वार चिन्तन कर चुका हूं उनका अब मैं चिन्तन नहीं करता हूं । इस प्रकार मैं अब पूर्वभावित भावनाओंको छोड़कर उन अपूर्व भावनाओंको भाता हूं, क्योंकि, इस प्रकारको भावनायें संसार-विनाशकी कारण होती हैं ॥ २३८ ॥ शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप तथा सुख और दुख; इस प्रकार ये छह हुए । इन छहोंके तीन युगलोंमेंसे आदिके तीन– शुभ, पुण्य और सुख– आत्माके लिये हितकारक होनेसे आचरणके योग्य हैं । तथा शेष तीन– अशुभ, पाप और दुख– अहित-कारक होनेसे छोड़नेके योग्य हैं ।। विशेषार्थ— अभिप्राय यह है कि जिनपूजनादिरूप शुभ क्रियाओंके द्वारा पुण्य कर्मका बन्ध होता है और उस पुण्य कर्मके उदयमें प्राप्त होनेपर उससे सुखकी प्राप्ति होती है । इसके विपरीत हिंसा एवं असत्यसंभाषणादिरूप अशुभ क्रियायोंके द्वारा पापका बन्ध होता है और उस पाप कर्मके उदयमें प्राप्त होनेपर उससे दुखकी प्राप्ति होती है । इसीलिये उक्त छहमेंसे शुभ, पुण्य और सुख ये तीन उपादेय तथा अशुभ, पाप और दुख ये तीन हेय हैं ।। २३९ ।। पूर्व श्लोकमें जिन तीनको– शुभ, पुण्य और सुखको– हितकारक बतलाया है

तत्राप्याद्यं परित्याज्यं शेषौ न स्तः स्वतः स्वयम् ।
शुभं च शुद्धे त्यक्त्वान्ते प्राप्नोति परमं पदम् ॥ २४० ॥

शुभादित्रयेऽपि त्यागक्रमं दर्शयन्नाह— तत्रेत्यादि । तत्रापि त्रये हिते । आद्यं शुभम् । शेषौ पुण्य-सुखपदार्थौ कारणाभावे कार्यानुत्पत्तेः [न] भवतः । शुद्धे उदासीने भावे स्थित्वा

उनमें भी प्रथमका (शुभका) परित्याग करना चाहिये। ऐसा करनेसे शेष रहे पुण्य और सुख ये दोनों स्वयं ही नहीं रहेंगे, इस प्रकार शुभको छोड़कर और शुद्ध स्वभावमें स्थित होकर जीव अन्तमें उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है ।। विशेषार्थ— ऊपर जो इस श्लोकका अर्थ लिखा गया है वह संस्कृत टीकाकार श्री प्रभाचन्द्राचार्यके अभिप्रायानुसार लिखा गया है । उपर्युक्त श्लोकका अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है– श्लोक २३९ में जो अशुभ, पाप और दुख ये तीन अहितकारक बतलाये गये हैं उनमें भी प्रथम अशुभका ही त्याग करना चाहिये। कारण यह कि ऐसा होनेपर शेष दोनों पाप और दुख– स्वयमेव नहीं रह सकेंगे, क्योंकि, इनका मूल कारण अशुभ ही है । इस प्रकार जब मूल कारणभूत वह अशुभ न रहेगा तब उसका साक्षात् कार्यभूत पाप स्वयमेव नष्ट हो जावेगा, और जब पाप ही न रहेगा तो उसके कार्यभूत दुखकी भी कैसे सम्भावना की जा सकती है– नहीं की जा सकती है । इस प्रकार उक्त अहितकारक तीनके नष्ट हो जानेपर शेष तीन जो शुभादि हितकारक रहते हैं वे भी वास्तवमें हितकारक नहीं हैं (देखिये आगे श्लोक २६२)। उनको जो हितकारक व अनुष्ठेय बतलाया गया है वह अतिशय अहितकारी अशुभादिकी अपेक्षा ही बतलाया गया है। यथार्थमें तो वे भी परतन्त्रताके ही कारण हैं । भेद इतना ही है कि जहां अशुभादिक जीवको नारक एवं तिर्यंच पर्यायमें प्राप्त कराकर केवल दुखका ही अनुभव कराते हैं वहां वे शुभादिक उसको मनुष्यों और देवोंमें उत्पन्न कराकर दुखमिश्रित सुखका अनुभव कराते हैं। इसीलिये यहां यह बतलाया है कि उन अशुभादिक तीनको छोड़ देनेके पश्चात् शुद्धोपयोगमें स्थित

अस्त्यात्मास्तमितादिबन्धनगतस्तद्बन्धनान्यास्रवैः
ते क्रोधादिकृताः प्रमादजनिताः क्रोधादयस्तेऽव्रतात् ।

शुभं त्यक्त्वा । अन्ते शुभावसाने । परमं पदं मोक्षम् ॥ २४० ॥ ननु आत्मनि सिद्धे तस्य परमपदप्राप्तिः सिद्ध्येत् । स चासिद्धो गर्भादिमरणपर्यन्तं चैतन्यव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽसंभवात् इति चार्वाकाः । सदैवात्मनो मुक्तत्वात् शुभं त्यक्त्वा परमं पदं प्राप्नोतीत्ययुक्तमिति सांख्याः । तान् प्रत्याह— अस्तीत्यादि । सर्वदा विद्यते आत्मा, जातिस्मरणदर्शनात्[1]

होकर उस शुभको भी छोड़ देना चाहिये । इस प्रकार अन्तमें उस शुभके अविनाभावी पुण्य व सांसारिक सुखके भी नष्ट हो जानेपर जीव उस निर्बाध मोक्ष पदको प्राप्त कर लेता है जो कि अनन्त काल तक स्थिर रहनेवाला है ॥ २४० ॥ आत्मा है और वह अनादि परम्परासे प्राप्त हुए बन्धनोंमें स्थित है । वे बन्धन मन, वचन एवं शरीरकी शुभाशुभ क्रियाओं-रूप आस्रवोंसे प्राप्त हुए हैं; वे आस्रव क्रोधादि कषायोंसे किये जाते हैं; वे क्रोधादि प्रमादोंसे उत्पन्न होते हैं, और वे प्रमाद मिथ्यात्वसे पुष्ट हुई अविरतिके निमित्तसे होते हैं । वही कर्म-मलसे सहित आत्मा किसी विशिष्ट पर्यायमें कालादिलब्धिके प्राप्त होनेपर क्रमसे सम्यग्दर्शन, व्रत, दक्षता अर्थात् प्रमादोंका अभाव, कषायोंका विनाश और योगनिरोधके द्वारा उपर्युक्त बन्धनोंसे मुक्ति पा लेता है ॥ विशेषार्थ— चार्वाक आत्माका अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं । उनका अभिप्राय है कि जिस प्रकार कोयला, अग्नि, जल एवं वायु आदिके संयोगसे जो प्रबल वाष्प उत्पन्न होता है वह भारी रेल गाड़ी आदिके भी चलानेमें समर्थ होता है उसी प्रकार पृथिवी आदि चार भूतोंके संयोगसे वह शक्ति उत्पन्न होती है जो शरीरकी गमनागमनादि क्रियाओं एवं पदार्थोंके जानने-देखने आदिमें सहायक होती है । उसे ही चेतना शब्दसे कहा जाता है । और वह जब तक उन भूतोंका संयोग रहता है तभी तक (जन्मसे मरण पर्यन्त) रहती है, न कि उससे पूर्व और पश्चात् भी ।

१ ज स जातिस्मरदर्शनात् ।

मिथ्यात्वोपचितात्स एव समलः कालादिलब्धौ क्वचित्
सम्यक्त्वव्रतदक्षताकलुषतायोगैः क्रमान्मुच्यते ॥ २४१ ॥

भूतग्रहादेश्च स्व-परपूर्वभवप्रतिपादकत्वप्रतीतेः। स च अस्तमितादिबन्धनगतः अस्तमितो नष्टः आदिर्येषां तानि च तानि बन्धनानि तत्र गतः अनादिकर्मबन्धनबद्धः इत्यर्थः। स्तिमिताबन्धनमत[1] [इत्यर्थः। स्तिमितादिबन्धनगतः] इति च पाठः। तत्र स्थित्यादिबन्धनस्थितिरित्यर्थः। तद्बन्धनानि अस्तमितादिबन्धनानि। आस्रवैः काय-वाङ्-मनोव्यापारैः।

उनके इस मतके निराकरणार्थ यहां श्लोकमें सबसे पहिले 'अस्त्यात्मा' कहकर यह प्रमाणित किया है कि आत्मा नामसे प्रसिद्ध कोई वस्तु अवश्य है। यदि आत्मा न होता तो बहुतोंको जो अपने पूर्व जन्मका स्मरण हो जाता है वह नहीं होना चाहिये। इसके अतिरिक्त भूत-पिशाचादिकोंको भी अपने और दूसरोंके पूर्वभवोंको बतलाते हुए देखा जाता है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा नामकी कोई वस्तु अवश्य है जो विवक्षित जन्मके पूर्वमें भी थी और मरणके पश्चात् भी रहती है। इसी प्रकार सांख्य आत्माको स्वीकार करके भी उसे सर्वदा शुद्ध– कर्मसे अलिप्त मानते हैं। उसके निराकरणार्थ यहां उस आत्माको अनादिबन्धनगत निर्दिष्ट किया है। इसका अभिप्राय यह है कि शुद्ध स्वभावकी अपेक्षा यद्यपि प्रत्येक आत्मा कर्मसे अलिप्त होकर अपने ही शुद्ध चैतन्यरूप द्रव्यमें अवस्थित है। स्वभावसे एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पडता है। जैसे– सुवर्णमें यदि तांबेका मिश्रण भी हो तो भी सुवर्णपरमाणु सुवर्णस्वरूपसे और तांबेके परमाणु तत्स्वरूपसे ही अपनी पृथक् पृथक् स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। यही कारण है जो सुनारके द्वारा उन दोनोंको पृथक् कर दिया जाता है। किन्तु यह द्रव्यके उस शुद्ध स्वभावकी अपेक्षा ही सम्भव है, न कि वर्तमान अशुद्ध पर्यायकी अपेक्षा भी। पर्यायकी अपेक्षा तो संसारी आत्मा अनादि सन्तति स्वरूपसे आनेवाले नवीन नवीन कर्मोंके बन्धसे सम्बद्ध ही रहता है। और जब वह पर्यायकी अपेक्षा कर्मबन्धनमें बद्ध होकर अपने शुद्ध चैतन्य स्वभावको छोडता हुआ राग-द्वेषादिरूप

[1] प अमितादिबन्धनगतः।

प्रमादः अप्रयत्नपरता । स प्रमादः अव्रतात् हिंसादिपरिणतेः । मिथ्यात्वोपचितात् मिथ्यात्वेन उपचित पुष्टं मिथ्यात्वं वा उपचित पुष्टं यत्र । स एव आत्मैव, न प्रकृतिः । क्वचित् मनुष्यभवे । दक्षता विवेकः । अकलुषता क्रोधादिरहितता । अयोगैः कषाया[काया]द्यव्यापारैः कृत्वा । क्रमात् क्रमेण । सम्यक्त्वादिकृतां कर्मनिर्जरामाश्रित्य मुच्यते ॥ २४१ ॥ यः शरीरादै

विभावमें परिणत होता है तब उसको अपने शुद्ध स्वभावमें स्थिर रखनेके लिये प्रयत्न करना भी– तपश्चरण आदि करना भी– उचित है। यदि वह द्रव्यके समान पर्यायसे भी शुद्ध हो तो फिर तपश्चरणादि व्यर्थ ठहरते हैं। अतएव यही समझना चाहिये कि वह आत्मा जिस प्रकार स्वभावसे शुद्ध है उसी प्रकार पर्यायकी अपेक्षा वह अशुद्ध भी है। अब जब वह पर्यायसे अशुद्ध या कर्मबन्धसे सहित है तब यह प्रश्न उठता है कि कबसे वह कर्मबन्धनमें बद्ध है तथा किस प्रकार वह उससे छूट सकता है। इसके उत्तरमें यहां यह बतलाया है कि वह अनादिसे उस कर्मबन्धनमें बद्ध है। उसके इस कर्मबन्धनके कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग हैं। इनमें पूर्व पूर्व कारणके रहनेपर उत्तर उत्तर कारण अवश्य रहते हैं। जैसे– यदि मिथ्यात्व है तो आगेके अविरति आदि चार कारण अवश्य रहेंगे, इसी प्रकार यदि अविरति है तो उसके आगेके प्रमाद आदि तीन कारण अवश्य रहेंगे। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये। यही बात यहां प्रकारान्तरसे प्रकृत श्लोकमें निर्दिष्ट की गई है। यह बन्धकी परम्परा बीज और अंकुरके समान अनादिसे है– जिस प्रकार बीजसे अंकुर व उससे पुनः बीज उत्पन्न होता है, इस प्रकारसे जैसे इनकी परम्परा अनादि है उसी प्रकार उपर्युक्त मिथ्यात्वादिसे कर्मबन्ध और फिर उससे पुनः मिथ्यत्वादि उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार यह बन्धपरम्परा भी आनादि है। परन्तु जिस प्रकार बीज या अंकुरमेंसे किसी एकके नष्ट हो जानेपर वह अनादि भी बीजांकुरकी परम्परा नष्ट हो जाती है उसी प्रकार उन मिथ्यत्वादिके विपरीत क्रमसे सम्यग्दर्शन, व्रत, दक्षता (अप्रमाद), अकलुषता (अकषाय) और अयोग अवस्थाके प्राप्त हो जानेपर वह अनादि बन्धपरम्परा भी नष्ट हो जाती है। इस प्रकारसे वह आत्मा मुक्तिको प्राप्त करता है ॥२४१॥ 'यह मेरा है और मैं इसका

ममेदमहमस्येति प्रीतिरीतिरिवोत्थिता।
क्षेत्रे क्षेत्रीयते यावत्तावत्काशा तपःफले ॥ २४२ ॥
मामन्यमन्यं मां मत्वा भ्रान्तो भ्रान्तौ भवार्णवे।
नान्योऽहमहमेवाहमन्योऽन्योऽहमस्ति न ॥ २४३ ॥

निःस्पृहः स निःस्पृहः, नान्यतः इत्याह— ममेत्यादि। ईतिरिव उपद्रवकारिणी मूषकादि-संभूतिरिव। क्षेत्रे आत्मनि। क्षेत्रीयते क्षेत्रिणमिव आत्मानमाचरति। प्रीतिः कर्त्री। काशा न काचिदपि आशा। तपःफले मोक्षे ॥ २४२ ॥ प्रीतिवशाच्च अभेदबुद्धिः संसारहेतुः, तदभावान्मुक्तिरिति दर्शयन्नाह— मामित्यादि। माम् आत्मानम् अन्यं भिन्नं कायादिकं मत्वा, अन्यं कायादिकं भिन्नं माम् आत्मानं मत्वा। भ्रान्तौ सत्याम्। भ्रान्तः पर्यटितः भवार्णवे। न अन्योऽहम् अन्यः कायादिर्नाहम्। अहमेव अहम् आत्मैव अहम्। अन्यः

हूं' इस प्रकारका अनुराग जब तक ईतिके समान खेत (शरीर)के विषयमें उत्पन्न होकर खेतके स्वामीके समान आचरण करता है तब तक तपके फलभूत मोक्षके विषयमें भला क्या आशा की जा सकती है? नहीं की जा सकती है ।। विशेषार्थ— अतिवृष्टि, अनावृष्टि, शलभ(टिड्डी), चूहा, तोता, स्वचक्र और परचक्र (अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभा मूषका शुकाः। स्वचक्रं परचक्रं च सप्तैता ईतयाः स्मृताः ।।) ये सात ईति मानी जाती हैं। जिस प्रकार इन ईतियोंमेंसे कोई भी ईति यदि खेतके मध्यमें उत्पन्न होती है तो वह उस खेतको (फसलको) नष्ट कर देती है। इससे वह कृषक कृषीके फल (अनाज) को नहीं प्राप्त कर पाता है। इसी प्रकार तपस्वीको यदि शरीरके विषयमें अनुराग है और इसीलिये यदि वह यह समझता है कि यह शरीर मेरा है और मैं इसका स्वामी हूं तो उसका वह अनुराग ईतिके समान उपद्रवकारी होकर तपके फलको— मोक्षको— नष्ट कर देता है ।। २४२ ।। मुझको (आत्माको) अन्य शरीरादिरूप तथा शरीरादि-को मैं (आत्मा) समझकर यह प्राणी उक्त भ्रमके कारण अब तक संसाररूप समुद्रमें घूमा है। वास्तवमें मैं अन्य नहीं हूं— शरीरादि नहीं हूं, मैं मैं ही हूं; और अन्य (शरीरादि) अन्य ही है, अन्य मैं नहीं

बन्धो जन्मनि येन येन निबिडं निष्पादितो वस्तुना
बाह्यार्थैकरतेः पुरा परिणतप्रज्ञात्मनः सांप्रतम्।
तत्तत्तन्निधनाय साधनमभूद्वैराग्यकाष्ठास्पृशो
दुर्बोधं हि तदन्यदेव विदुषामप्राकृतं कौशलम् ॥ २४४ ॥

कायादिः। अन्यो भिन्नः। अन्योऽहमस्ति न कायादिः आत्मा भवति न। अभ्रान्ताविति च पाठः। अभ्रान्तो भवार्णवे अभ्रान्तौ ॥ २४३ ॥ कायादिमनुरागबुद्धया वैराग्यबुद्धया च पश्यतः कर्मबन्धाय तद्विनाशाय भवतीति दर्शयन्नाह— बन्ध इत्यादि। बाह्यार्थैकरतेः बाह्यार्थे एका अद्वितीया रतिर्यस्य आत्मनः। पुरा पूर्वम्। परिणतप्रज्ञात्मनः परिणता यथावत्पदार्थपरिच्छेदिका प्रज्ञा आत्म[आत्मा]स्वरूपं यस्य। तन्निधनाय बन्धविनाशाय।

हूं; इस प्रकार जब अभ्रान्त ज्ञान (विवेक) उत्पन्न होता है तब ही प्राणी उक्त संसाररूप समुद्रके परिभ्रमणसे रहित होता है ।। विशेषार्थ— अभिप्राय यह है कि जीव जब तक शरीरको ही आत्मा मानता है– शरीरसे भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्माको उससे पृथक् नहीं मानता है– तब तक वह इस भ्रमके कारण पर पदार्थोंमें राग-द्वेष करके कर्मोदयसे संसारमें परिभ्रमण करता हुआ दुख सहता है। और जब उसका उपर्युक्त भ्रम हट जाता है– वह आत्माको आत्मा एवं शरीरादि पर पदार्थोंको पर मानने लगता है– तब वह राग-द्वेषसे रहित होकर उक्त संसारपरिभ्रमणसे छूट जाता है ।। २४३ ।। संसारके भीतर बाह्य पदार्थोंमें अतिशय अनुराग रखनेवाले जीवके पहिले जिस जिस वस्तुके द्वारा दृढ बन्ध उत्पन्न हुआ था उसीके इस समय यथार्थज्ञानसे परिणत होकर वैराग्यकी चरम सीमाको प्राप्त होनेपर वह वह वस्तु उक्त बन्धके विनाशका कारण हो रही है। विद्वानोंकी वह अलौकिक कुशलता अनुपम ही है जो दुर्बोध है– बड़े कष्टसे जानी जाती है ।। विशेषार्थ— बन्धके कारण राग-द्वेष हैं। जीवके जब तक आत्म-परविवेक प्रगट नहीं होता है तब तक उसके राग-द्वेषकी विषयभूत हुई पर वस्तुओंके निमित्तसे बन्ध ही हुआ करता है। परन्तु जब उसके वह आत्म-परविवेक आविर्भूत हो जाता है तब वह पूर्वमें जिन वस्तुओंसे राग-द्वेष करके दृढ कर्मबन्ध करता था वे ही अब उसकी चूंकि उपेक्षाकी विषयभूत हो

अधिकः क्वचिदाश्लेषः क्वचिद्धीनः क्वचित्समः ।
क्वचिद्विश्लेष एवायं बन्धमोक्षक्रमो मतः ॥ २४५ ॥

काष्ठास्पृशः प्रकर्षं प्राप्तस्य । दुर्बोधं महता कष्टेन बुध्यते । तदन्यदेव तत्कौशलम् अन्यदेव अपूर्वमेव । अप्राकृतम् अलौकिकम् ॥ २४४ ॥ बन्धन-तद्विनाशयोर्यथासंभवं क्रमं दर्शयन्नाह— अधिक इत्यादि । क्वचित् अभव्ये । अधिकः आश्लेषः कर्मबन्धः । क्वचित् आसन्नभव्ये । हीनः कर्मबन्धः । क्वचिद् दूरभव्ये । समः कर्मबन्धः उदयकारणसद्भावात् । क्वचिदतीव आसन्नमुक्तिके । विश्लेष एव कर्मबन्धाभाव एवेति । नानात्मापेक्षयेदं व्याख्यानम् । एकात्मापेक्षयापि— क्वचित् मिथ्यात्वादिगुणस्थाने अधिकः कर्मबन्धः । क्वचित् अविरतसम्यग्दृष्ट्यादौ हीनः कर्मबन्धः । क्वचिन्मिश्रगुणस्थाने ,समः कर्मबन्धः । क्वचित्क्षीणकषायादौ विश्लेष एव ॥ २४५ ॥

जाती हैं अतएव उन्हींके निमित्तसे अब उक्त बन्धका विनाश– संवर और निर्जरा– होने लगती है। यह ज्ञान और वैराग्यका ही माहात्म्य है ॥ २४४ ॥ किसी जीवके अधिक कर्मबन्ध होता है, किसीके अल्प कर्मबन्ध होता है, किसीके समान ही कर्मबन्ध होता है, और किसीके कर्मका बन्ध न होकर केवल उसकी निर्जरा ही होती है। यह बन्ध और मोक्षका क्रम माना गया है ॥ विशेषार्थ— बन्ध और निर्जराकी हीनाधिकता परिणामोंके ऊपर निर्भर है। यथा– अभव्य जीवके परिणाम चूंकि निरन्तर संक्लेशरूप रहते हैं, अतः उसके बन्ध अधिक और निर्जरा कम होती है। आसन्नभव्यके परिणाम निर्मल होनेसे उसके बन्ध कम और निर्जरा अधिक होती है। दूरभव्यके मध्यम जातिके परिणाम होनेसे उसके बन्ध और निर्जरा दोनों समानरूपमें होते हैं। तथा जीवन्मुक्त अवस्थामें बन्धका अभाव होकर केवल निर्जरा ही होती है। यह बन्ध और निर्जरा का क्रम नाना जीवोंकी अपेक्षासे है। यदि उसका विचार एक जीवकी अपेक्षासे करें तो वह इस प्रकारसे किया जा सकता है– मिथ्यात्व गुणस्थानमें बन्ध अधिक और निर्जरा कम होती है, अविरतसम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानोंमें बन्ध कम और निर्जरा अधिक होती है, मिश्र गुणस्थानमें बन्ध और निर्जरा दोनों समानरूपमें होते हैं, तथा क्षीणकषायादि गुणस्थानोंमें बन्धका– स्थिति व अनुभाग बन्धका– अभाव होकर केवल निर्जरा ही होती है। वहां जो बन्ध होता है वह एक मात्र साता वेदनीयका होता है, सो भी केवल प्रकृति और प्रदेशरूप ॥ २४५ ॥ जिस

यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलति स्वयम्।
स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरास्रवः॥ २४६॥
महातपस्तडागस्य संभृतस्य गुणाम्भसा।
मर्यादापालिबन्धेऽल्पामप्युपेक्षिष्ट मा क्षतिम्॥ २४७॥
दृढगुप्तिकपाटसंवृतिर्धृतिभित्तिर्मतिपादसंभृतिः।
यतिरल्पमपि प्रपद्य रन्ध्रं कुटिलैर्विक्रियते गृहाकृतिः॥ २४८॥

यस्य च कर्मणा स्वकार्यमकुर्वतामेव विश्लेषो भवति स एव योगीत्याह— यस्येत्यादि। यस्य परमवीतरागस्य। निःफल स्वकार्यम् अकुर्वत् सत्। गलति उग्रतपःसामर्थ्यादुदयमानीय जीर्यते। न पुनरास्रवो न पुनः कर्मणामागमनम्, संवर एव भवतीत्यर्थः॥ २४६॥ स च संवरः प्रतिज्ञातव्रतप्रतिपालनाद्भवतीत्याह— महेत्यादि। महातपः पञ्चमहाव्रतानि। सभृतस्य पूर्णस्य। गुणाम्भसा सम्यग्दर्शनादिगुणजलेन। मर्यादा प्रतिज्ञा। उपेक्षिष्ट उपेक्षय॥ २४७॥ क्षतिहेतवश्च मुनेरीदृशस्य एते भवन्तीत्याह— दृढेत्यादि। दृढा अविचला सा चासौ गुप्तिश्च

वीतरागके पुण्य और पाप दोनों फलदानके विना स्वयं अविपाक निर्जरास्वरूपसे निर्जीर्ण होते हैं वह योगी कहा जाता है और उसके कर्मोंका मोक्ष होता है, किन्तु आस्रव नहीं होता है॥ २४६॥ हे साधो! गुणरूप जलसे परिपूर्ण महातपरूप तालावके प्रतिज्ञारूप पालिबन्ध (बांध)के विषयमें तू थोड़ी-सी भी हानिकी उपेक्षा न कर॥ विशेषार्थ— मुनिधर्म एक तालाबके समान है। जिस प्रकार तालाब जलसे परिपूर्ण होता है उसी प्रकार वह मुनिधर्म सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे परिपूर्ण होता है। यदि तालाबका बाध कहीं थोड़ा-सा भी गिर जाता है तो उसमें फिर पानी स्थिर नहीं रह सकता है। इसीलिये बुद्धिमान् मनुष्य सावधानीके साथ उसको ठीक करा देता है। ठीक इसी प्रकारसे यदि साधुधर्ममें भी की गई व्रतपरिपालनकी प्रतिज्ञामें कुछ त्रुटि होती है तो बुद्धिमान् साधुको उसकी उपेक्षा न करके उसे शीघ्र ही प्रायश्चित्त आदिके विधानसे सुधार लेना चाहिये। अन्यथा उसके सम्यग्दर्शनादि गुण स्थिर न रह सकेंगे॥ २४७॥ दृढ गुप्तियों (मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति) रूप किवाड़ोंसे सहित, धैर्यरूप भित्तियोंके आश्रित और बुद्धिरूप नीवसे परिपूर्ण, इस प्रकार गृहके आकारको धारण करनेवाला मुनिपद थोड़े-से भी छिद्रको पाकर कुटिल

स्वान् दोषान् हन्तुमुद्युक्तस्तपोभिरतिदुर्धरैः।
तानेव पोषयत्यज्ञः परदोषकथाशनैः ॥ २४९ ॥

सैव कपाटं तेन संवृतिः पिधानं यस्य। पादसंभूतिः गर्तापूरः। रन्ध्रं छिद्र दोषश्च। कुटिलैः सर्पैः रागादिभिश्च। विक्रियते दूष्यते। गृहाकृतिः गृहस्येवाकृतिराकारो यस्य ॥ २४८ ॥ तांश्च रागादिदोषान् निर्जेतुमुद्यतः परपरिवादैः पुष्टान् करोतीत्याह— स्वानित्यादि।

राग-द्वेषादिरूप सर्पोंके द्वारा विकृत कर दिया जाता है ॥ विशेषार्थ— मुनिपद एक प्रकारका घर है। मुनि जिन तीन गुप्तियोंको धारण करते हैं वे ही इस घरके किवाड हैं, धैर्य जो है वही इस घरकी भित्ति है, तथा घर जहा दृढ़ नीवके अश्रित होता है वहा वह मुनिपद भी बुद्धिरूप नीवके आश्रित होता है। इस प्रकार मुनिपदमें घरकी समानताके होनेपर जिस प्रकार दृढ़ किवाड़ों आदिसे संयुक्त भी घरमें यदि कहीं कोई छोटा-सा भी छिद्र रह जाता है तो उसके द्वारा कुटिल सर्पादिक उसके भीतर प्रविष्ट होकर उसे भयानक बना देते हैं। इसी प्रकार उक्त घरके समान यदि मुनिपदमें भी कहीं कोई छोटा-सा भी छिद्र (दोष) रहता है तो उक्त छिद्रके द्वारा उस मुनिपदमें भी उन विषैले सर्पोंके समान कुटिल राग-द्वेषादि प्रवेश करके उस मुनिपदको भी नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। अतएव मोक्षाभिलाषी साधुको यदि अज्ञानता या प्रमादसे कोई दोष उत्पन्न होता है तो उसे शीघ्र ही नष्ट कर देनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ २४८ ॥
जो साधु अतिशय दुष्कर तपोंके द्वारा अपने जिन दोषोंके नष्ट करनेमें उद्यत है वह अज्ञानतावश दूसरोंके दोषोंके कथन (परनिन्दा) रूप भोजनोंके द्वारा उन्हीं दोषोंको पुष्ट करता है ॥ विशेषार्थ— यदि कोई व्यक्ति अजीर्णादि रोगोंको शान्त करनेके लिये औषधि तो लेता है, किन्तु भोजन छोड़ता नहीं है— उसे वह बराबर चालू ही रखता है तो ऐसी अवस्थामें जिस प्रकार उसके वे अजीर्णादि रोग कभी शान्त नहीं हो सकते हैं उसी प्रकार जो साधु रागादि दोषोंको शान्त करनेकी इच्छासे घोर तपश्चरण तो करता

दोषः सर्वगुणाकरस्य महतो दैवानुरोधात्कचि-
ज्जातो यद्यपि चन्द्रलाञ्छनसमस्तं द्रष्टुमन्धोऽप्यलम्।

परदोषकथा एव अशनानि आहारास्तैः ॥ २४९ ॥ दोषान् निर्जित्य व्रतमनुतिष्ठतो मुनेः कर्मवशात्कदाचित्समुत्पन्नं दोषं तद्गुणप्रकटितमुद्भावयतो न कश्चिद् गुणातिशयो भवतीत्याह— दोष इत्यादि। आकरस्य आधारस्य उत्पत्तिहेतोर्वा। महतो गुणोत्कृष्टस्य भवतः। दैवानु-

है, किन्तु परनिन्दारूप भोजनको छोड़ता नहीं है; उसके वे रागादि दोष भी कभी नष्ट नहीं हो सकते हैं। कारण कि परनिन्दा करनेवाला ईर्ष्यालु मनुष्य मान कषायके वश हो करके दूसरेमें न रहनेवाले दोषोंको प्रगट करता है तथा जो गुण अपनेमें नहीं हैं उन्हे वह प्रकाशित किया करता है। इस प्रकार उसके वे राग-द्वेषादि घटनेके बजाय बढ़ते ही हैं ॥२४९॥ समस्त गुणोंके आधारभूत महात्माके यदि दुर्भाग्यवश कहीं चारित्र आदिके विषयमें कोई दोष उत्पन्न हो जाता है तो चन्द्रमाके लांछनके समान उसको देखनेके लिये यद्यपि अन्धा (मन्दबुद्धि) भी समर्थ होता है तो भी वह दोषदर्शी इतने मात्रसे कुछ उस महात्माके स्थानको नहीं प्राप्त कर लेता है। जैसे— अपनी ही प्रभासे प्रगट किये गये चन्द्रके कलंकको समस्त संसार देखता है, परन्तु क्या कभी कोई उक्त चन्द्रकी पदवीको प्राप्त हुआ है? अर्थात् कोई भी उसकी पदवीको नहीं प्राप्त हुआ है। विशेषार्थ— जहां अनेक गुणोंका समुदाय होता है वहां कभी एक आध दोष भी उत्पन्न हो सकता है। जैसे चन्द्रमें आह्लादजनकत्व आदि अनेक गुण हैं, फिर भी उनके साथ उसमें एक दोष भी है जो कलंक कहा जाता है। वह दोष भी उसकी ही प्रभा (चांदनी) के द्वारा प्रगट किया जाता है, अन्यथा वह उक्त चन्द्रके पास तक न पहुंच सकनेके कारण किसीकी दृष्टिमें ही नहीं आ सकता था। इसी प्रकार जिस साधुमें अनेक गुणोंके साथ यदि कोई एक आध दोष भी विद्यमान है तो वह अन्य साधारण प्राणियोंकी भी दृष्टिमें अवश्य आ जाता है। परन्तु ऐसा होनेपर भी कोई साधु उसके

द्रुप्राप्नोति न तावतास्य पदवीमिन्दोः कलङ्कं जगद्
विश्वं पश्यति तत्प्रभाप्रकटितं किं कोऽप्यगात्तत्पदम् ॥ २५० ॥
यद्यदाचरितं पूर्वं तत्तदज्ञानचेष्टितम् ।
उत्तरोत्तरविज्ञानाद्योगिनः प्रतिभासते ॥ २५१ ॥

रोत्रात् कर्मवशात् । क्वचित् चारित्रादौ । अन्धोऽपि स्थूलदृष्टिरपि । तावता दोषदर्शनमात्रेण । अस्य सर्वगुणाकरस्य । पदवीं पदम् । जगत् कर्तृ । विश्वं समस्तम् । तत्प्रभा इन्दुप्रभा । अगात् गतः । तत्पदम् इन्दुपदम् ॥ २५० ॥ यत्र असूयादिना परस्य दोषोद्भावनं स्वस्य च पूजाद्यर्थमष्टोपवासादिकमाचरितं[1] तदुत्तरोत्तरपरिणतौ कीदृशं प्रतिभातीत्याह— यद्य-दित्यादि । यद्यत् परदोषोद्भावनं स्वगुणख्यापनादिकम् । आचरितं कृतम् । कदा । उत्तरो-

उस दोषको देखकर यदि अन्य जनोंके समक्ष उसकी निन्दा करता है तो इससे कुछ वह उस महात्माके समान उत्कृष्ट नहीं बन जाता है, बल्कि इसके विपरीत उसके अन्य उत्तमोत्तम गुणोंके ऊपर दृष्टिपात न करके केवल दोषग्रहणके कारण वह हीन ही अधिक होता है। जैसे कि चन्द्रमाके दोषको (कलंकको) देखनेवाले तो बहुत हैं, किन्तु उनमें ऐसा कोई भी नहीं है जो कि उसके समान विश्वको आह्लादित करनेवाला हो सके। अभिप्राय यह है कि दूसरोंके दोषोंको देखने और उनका प्रचार करनेसे कोई भी जीव अपनी उन्नति नहीं कर सकता है। कारण कि वह आत्मोन्नति तो आत्मदोषोंको देखकर उन्हें छोड़ने और दूसरोंके प्रशस्त गुणोंको देखकर उन्हें ग्रहण करनेसे ही हो सकती है। जैसा कि कवि वादीभसिंहने भी कहा है— अन्यदीयमिवात्मीयमपि दोषं प्रपश्यता। कः समः खलु मुक्तोऽयं युक्तः कायेन चेदपि ॥ अर्थात् जो जीव अन्य प्राणियोंके समान अपने भी दोषको देखता है उसके समान कोई दूसरा नहीं हो सकता है। वह यद्यपि शरीरसे संयुक्त है, फिर भी वह मुक्तके ही समान है ॥ २५० ॥ पूर्वमें जो जो आचरण किया है— दूसरेके दोषोंको और अपने गुणोंको जो प्रगट किया है— वह सब योगीके लिये आगे आगे विवेकज्ञानकी वृद्धि होनेसे अज्ञानतापूर्ण किया गया प्रतीत होता है ॥ विशेषार्थ— अभिप्राय यह है कि जब तक विवेकबुद्धिका उदय नहीं होता है तब तक ही

१ ज आचरति ।

अपि सुतपसामाशावल्लीशिखा तरुणायते
भवति हि मनोमूले यावन्ममत्वजलार्द्रता ।
इति कृतधिय कृच्छारम्भैश्चरन्ति निरन्तरं
चिरपरिचिते देहेऽप्यस्मिन्नतीव गतस्पृहाः ॥ २५२ ॥

स्वरविज्ञानात् उत्तरोत्तरप्रकृष्टविवेकात् । योगिन तत्तत् अज्ञानवेष्टितमिति प्रतिभासते ॥ २५१ ॥ विशिष्टज्ञानपरिणतिरहितानाम् उत्कृष्टतपोयुक्तानामपि शरीरादौ ममेदं बुद्धिसद्भावे किं भवतीत्याह— अपीत्यादि । केषाम् । सुतपसामपि । तरुणायते तरुणमिवात्मानमाचरति । इति हेतो । कृतधिय विवेकिन कृच्छारम्भै कष्टसाध्यै त्रिकालादिभि । चिरपरिचिते देहेऽपि, न केवल पुत्रकलत्रादौ ॥ २५२ ॥ अमुमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेण समर्थय

व्यक्ति दूसरेकी निन्दा और आत्मप्रशसा आदिरूप हीन आचरण करता है । किन्तु आगे ज्यों ज्यों उसका विवेक बढता है त्यों त्यों उसे वह अपना पूर्व आचरण अज्ञानतावश किया गया स्पष्ट प्रतीत होने लगता है । इसीलिये तब वह दूसरोके दोषोंपर ध्यान न देकर अपने आत्मगुणोंके विकासका ही अधिकाधिक प्रयत्न करता है ।। २५१ ।। जब तक मनरूपी जडके भीतर ममत्वरूप जलसे निर्मित गीलापन रहता है तब तक महा-तपस्वियोंकी भी आशारूप बेलकी शिखा जवान सी रहती है । इसीलिये विवेकी जीव चिर कालसे परिचित इस शरीरमें भी अत्यन्त नि स्पृह होकर— सुख-दुख एव जीवन-मरण आदिमे समान होकर— निरन्तर कष्टकारक आरम्भोंमें— ग्रीष्मादि ऋतुओंके अनुसार पर्वतकी शिला, वृक्षमूल एव नदीतट आदिके ऊपर स्थित होकर किये जानेवाले ध्यानादि कार्योंमें— प्रवृत्त रहते हैं ।। विशेषार्थ— जिस प्रकार बेलकी जडमें जब तक जलके सिंचनसे गीलापन रहता है तब तक वह अपनी जवानीमें रहती है— हरी-भरी बनी रहती है, उसी प्रकार मनमें भी जब तक ममत्वभाव रहता है तब तक बडे बडे तपस्वियोंकी भी आशा (विषयवांछा) तरुण रहती है— अतिशय प्रबल होती है । इसीलिये विवेकी जीव इस सत्यको जानकर अनादि कालसे साथमें रहनेवाले इस शरीरसे भी जब अनुराग छोड देते हैं तब भला प्रत्यक्षमें भिन्न दिखनेवाले स्त्री-पुत्रादिसे उनका अनुराग कैसे रह सकता है ? नहीं रह सकता । इस कारण उनकी वह आशा-लता

क्षीरनीरवदभेदरूपतस्तिष्ठतोरपि च देहदेहिनो ।
भेद एव यदि भेदवत्स्वलं बाह्यवस्तुषु वदात्र का कथा ॥ २५२ ॥
तप्तोऽह देहसंयोगाज्जलं वानलसंगमात् ।
इति देह परित्यज्य शीतीभूता शिवैषिण ॥ २५४ ॥
अनादिचयसवृद्धो महामोहो हृदि स्थित ।
सम्यग्योगेन यैर्वान्तस्तेषामूर्ध्वं विशुद्धयति ॥ २५५ ॥

मान प्राह— क्षीरेत्यादि । अभेदरूपत अभेदरूपेण । भेदवत्सु आत्मनो व्यतिरिक्तेषु । अलम् अत्यर्थेन । बाह्यवस्तुषु पुत्रकलत्रादिषु ॥ २५३ ॥ शरीरसयोगादात्मनो यज्ञान तद्दर्शयन्नाह— तप्त इत्यादि । जल वा जलमिव । शातीभूताः सुखाभूता । सुखैषिण [शिवैषिण] मोक्षार्थिन मुनय ॥ २५४ ॥ शरीरादौ ममेदभावकारणस्य महामोहस्य त्यागोपायम ह— अनादीत्यादि । अनादिश्चासौ चयश्च उपचय तेन सवृद्ध पुष्ट । महामोह

मुरझा कर सूख जाती ह ।।२५२।। जब कि दूध आर पानीके समान अभेद-स्वरूपसे रहनेवाले शरीर आर शरीरधारी(आत्मा) इन दोनोंमें ही अत्यन्त भेद हे तब भिन्न बाह्य वस्तुओंकी– स्त्री, पुत्र, मित्र एव धन सम्पत्ति आदिकी– तो बात ही क्या हे, बताओ। अर्थात् वे तो भिन्न हैं ही ।। २५३ ।। जिस प्रकार अग्निके सयोगसे जल सतप्त होता है उसी प्रकार मैं शरीरके सयोगसे सतप्त हुआ हू– दुखी हुआ हू। इसी कारण मोक्षकी अभिलाषा करनेवाल भव्य जीव इस शरीरको छोड करके सुखी हुए हैं ।। २५४ ।। हृदयमे स्थित जो महान् मोह अनादि कालसे समान वृद्धिके द्वारा वृद्धिको प्राप्त हुआ हे उसको जिन महापुरुषोंने समीचीन समाधिके द्वारा वान्त कर दिया ह– नष्ट कर दिया है– उनका आगेका भव विशुद्ध होता है ।।

विशेषार्थ— किसी व्यक्तिके उदरमें यदि बहुत कालसे सचित होकर मलकी वृद्धि हो जाती है तो उसका शरीर अस्वस्थ हो जाता है। ऐसी अवस्थामे यदि वह बुद्धिमान् है तो योग्य औषधिके द्वारा वमन विरेचन आदि करके उस सचित मलको नष्ट कर देता है। इससे वह स्वस्थ हो जाता हे और उसका आगेका समय भी स्वस्थताके साथ आनन्दपूर्वक

एकैश्वर्यमिहैकताममिमतावाप्तिं शरीरच्युतिं
दुःखं दुःकृतिनिष्कृतिं सुखमलं संसारसौख्योज्झनम्।
सर्वत्यागमहोत्सवव्यतिकरं प्राणव्ययं पश्यतां
किं तद्यन्न सुखाय तेन सुखिनः सत्यं सदा साधवः ॥ २५६ ॥

शरीरादौ ममेदंभावः। सम्यग्योगेन स्वस्वरूपे चित्तनिरोधेन औषधसंयोगेन च। ऊर्ध्वं परलोकः, अन्यत्र इत्यादुपरि ॥ २५५ ॥ महामोहाभावे सत्येतदित्थं पश्यतां मुनीनामिह किं तद्यन्न सुखायेत्याद्याह— एकेत्यादि। एकैश्वर्यं चक्रवर्तित्वम्। इह जगति। एकताम् एकाकित्वम्। अभिमतावाप्तिं वाञ्छितप्राप्तिम्। शरीरच्युतिं शरीरविनाशम्। दुःखं दुःकृतिनिःकृतिं दुष्कृतेर्दुःकर्मणः निष्कृतिं निर्जराम्। सुखं संसारसौख्योज्झनं विषयसुखत्यागः। सर्वत्यागमहोत्सवव्यतिकरं सर्वत्याग एव महोत्सवः परमकल्याणं तस्य व्यतिकरं प्रघट्टकम्। प्राणव्ययं प्राणत्यागम्। किं तत् यन्न सुखाय— एकाकित्वादीनां मध्ये किं तद्यन्न सुखाय सुखनिमित्तं भवति। तेन कारणेन ॥ २५६ ॥ ननु कर्मोदयप्रभवदुःखमनुभवतां चित्तखेदो-

बीतता है। ठीक इसी प्रकारसे सब संसारी जीवोंके अनादि कालसे महामोहकी वृद्धि हो रही है। इससे वे निरन्तर दुखी रहते हैं। उनमें जो विवेकी जीव हैं वे बाह्य वस्तुओंसे राग और द्वेषको छोड़कर तपका आचरण करते हुए उस मोहको कम करते हैं। इस प्रकार अन्तमें समीचीन ध्यान (धर्म व शुक्ल) के द्वारा उस महामोहको सर्वथा नष्ट करके वे भविष्यमें अविनश्वर अनुपम सुखका अनुभव करते हैं ॥२५५॥ जो साधुजन संसारमें एकाकीपनको— अकेले रहनेको— साम्राज्यके समान सुखप्रद समझते हैं, शरीरके नाशको इच्छित वस्तुकी प्राप्तिके समान आनन्ददायक मानते हैं, दुष्ट कर्मोंकी निर्जराको— उससे प्राप्त होनेवाले क्षणिक विषयसुखको— दुखरूप ही जानते हैं, सांसारिक सुखके परित्यागको अतिशय सुखकारक समझते हैं, तथा जो प्राणोंके नाशको सब कुछ देकर किये जानेवाले महोत्सवके समान आनन्ददायक मानते हैं; उन साधु पुरुषोंके लिये ऐसी कौन-सी वस्तु है जो सुखकर न प्रतीत होती हो ! अर्थात् राग-द्वेषसे रहित हो जानेके कारण उन्हें सब ही अनुकूल व प्रतिकूल सामग्री सुखकर ही प्रतीत होती है। इसी कारण सचमुचमें वे साधु ही निरन्तर सुखी हैं ॥ २५६ ॥ जो विद्वान् साधु पीछे उदयमें आने योग्य कर्मस्वरूप

आकृष्योग्रतपोबलैरुदयगोपुच्छं यदानीयते
तत्कर्म स्वयमागतं यदि विदः को नाम खेदस्ततः।
यातव्यो विजिगीषुणा यदि भवेदारम्भकोऽरिः स्वयं
वृद्धिः प्रत्युत नेतुरप्रतिहता तद्विग्रहे कः क्षयः॥ २५७॥
एकाकित्वप्रतिज्ञाः सकलमपि समुत्सृज्य सर्वंसहत्वाद्
भ्रान्त्याचिन्त्याः सहायं तनुमिव सहसालोच्य किंचित्सलज्जाः।

स्त्तिसंभवात् कथं सुखित्वमित्याह— आकृष्येत्यादि। आकृष्य हठात्। उदयगोपुच्छं उदयावलिम्। स्वयमागतं स्वयम् उदयप्राप्तम्। विदः विवेकिनः। ततः स्वयम् आगतात् कर्मणः। यातव्यः विग्रहितव्यः। विजिगीषुणा शत्रुणा। आरम्भकः विग्रहप्रारम्भकरः। नेतुः विजिगीषोः॥ २५७॥ कर्मोदये खेदमकुर्वन्तो मुनयः इत्थंभूताः कर्मनिर्जरां कुर्वन्तः शरीरमपि त्यक्तुं यतन्ते इत्याह— एकाकित्वेत्यादि। भ्रान्त्या कर्त्र्या। अचिन्त्याः अविषयीकृताः। सहायमिव। किंचित् मनाक्। सज्जीभूताः प्रगुणीभूताः। स्वकार्ये मोक्षे। तदपगमविधिं

उदयगोपुच्छको— गायकी पूंछके समान उत्तरोत्तर हीनताको प्राप्त होनेवाले कर्मपरमाणुओंको— तीव्र तपके प्रभावसे स्थितिका अपकर्षण करके वर्तमानमें उदयको प्राप्त कराता है वह कर्म यदि स्वयं ही उदयको प्राप्त हो जात है तो इससे उस साधुको क्या खेद होनेवाला है? कुछ भी नहीं। ठीक है— जो सुभट विजयकी अभिलाषासे शत्रुके ऊपर आक्रमण करनेके लिये उद्यत हो रहा है उसका वह शत्रु यदि स्वयं ही आकर युद्ध प्रारम्भ कर देता है तो इससे उस सुभटको विना किन्हीं विघ्न-बाधाओंके अपने आप विजय प्राप्त होती है। वैसी अवस्थामें उसके साथ युद्ध करनेमें भला उसकी क्या हानि होनेवाली है? कुछ भी नहीं॥ २५७॥ जिन योगियोंने सब परिषहोंके सहनेमें समर्थ होते हुए सब ही बाह्याभ्यन्तर परिग्रहको छोड़कर एकाकी (असहाय) रहनेकी प्रतिज्ञा कर ली है, जिनके विषयमें भ्रान्ति कुछ सोच ही नहीं सकती है अर्थात् जो सब प्रकारकी भ्रान्तिसे रहित हैं, जो शरीर जैसे सहायकको सहसा समीक्षा करके कुछ लज्जाको प्राप्त हुए हैं— अर्थात् जो वस्तुतः असहायक शरीरको अब तक सहायक समझनेके कारण कुछ लज्जाका अनुभव करते हैं, तथा

सज्जीभूता. स्वकार्ये तदपगमविधिं बद्धपल्यङ्कबन्धा.
ध्यायन्ति ध्वस्तमोहा गिरिगहनगुहागुह्यगेहे नृसिंहा ॥ २५८ ॥
येषां भूषणमङ्गसंगतरज. स्थानं शिलायास्तलं
शय्या शर्करिला मही सुविहिता[1] गेहं गुहा द्वीपिनाम् ।
आत्मात्मीयविकल्पवीतमतयस्त्रुट्यत्तमोग्रन्थय.
ते नो ज्ञानधना मनांसि पुनता मुक्तिस्पृहा निस्पृहाः ॥ २५९ ॥
दूरारूढतपोऽनुभावजनितज्योति समुत्सर्पणैर्
अन्तस्तत्त्वमद. कथं कथमपि प्राप्य प्रसादं गताः ।

तस्य शरीरस्य अपगमस्त्यागस्तस्य विधिं विधीयते शरीरापगमो येनासौ विधि परमात्मस्वरूप रत्नत्रय वा । गुह्यगेहे एकान्तप्रदेशे । नृसिंहा पुरुषप्रधाना ॥ २५८ ॥ तदपगमविधिं ध्यायन्त स्वयम् एवविधगुणसपन्नास्तेऽस्माक पवित्रतानिमित्त भवन्तु इत्याह— येषा-मित्यादि । अङ्गसगत शरीरसबन्धम् [मबद्धम्] । शर्करिला शर्करायुक्ता । सुविहिता सुनिष्पन्ना । द्वीपिना व्याघ्राणाम् । आत्मेत्यादि– आत्मात्मीयविकल्पा वीता विनष्टा मती यषाम् । तमोग्रन्थय अज्ञानविवर्ता । नि स्पृहा यतय ॥ २५९ ॥ पुनरपि कथभूतास्ते इत्याह— दूरेत्यादि । दूरारूढ परमप्रकर्षमाप्त तच्च तत्तपश्च तस्य अनुभाव माहात्म्य तेन जानत च ज्योतिश्च ज्ञान तस्य समुत्सर्पणै ममाचीनप्रवर्तनै । अन्तस्तत्त्व शरीरातिरिक्त आत्मरूपम् ।

जो अपने कार्यमें (मुक्तिप्राप्तिमें) तत्पर हो चुके हैं, वे मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी योगी मोहसे रहित होकर पर्वत, भयानक वन और गुफा जैसे एकान्त स्थानमें पल्यक आसनसे स्थित होते हुए उस शरीरके नष्ट करनेके उपायका– परमात्माके स्वरूप या रत्नत्रयका– ध्यान करते हैं ॥ २५८ ॥ शरीरमें लगी हुई धूलि ही जिनका भूषण है, स्थान जिनका शिलाका तलभाग है, शय्या जिनकी ककरीली भूमि है, भलीभाति रची गई (प्रकृतिसिद्ध) सिंहोंकी गुफा ही जिनका घर है, जो आत्मा और आत्मीय रूप विकल्पबुद्धिसे– ममत्वबुद्धिसे– रहित हो चुके हैं, जिनके अज्ञानकी गाठ खुल चुकी है, तथा जो मुक्तिके सिवाय अन्य किसी बाह्य वस्तुकी इच्छा नहीं रखते हैं, ऐसे ज्ञानरूप धनके धारक वे साधु हमारे मनको पवित्र करे ॥ २५९ ॥ जो अतिशय वृद्धिंगत तपके प्रभावसे उत्पन्न हुई ज्ञानरूप ज्योतिके प्रसारसे येन केन प्रकारेण (कष्टपूर्वक) इस आत्मस्वरूपको प्राप्त करके– जान करके– प्रसन्नताको प्राप्त हुए हैं तथा जो

१ मु (नि) सुविहितं ।

विश्रब्धं हरिणीविलोलनयनैरापीयमाना वने
धन्यास्ते गमयन्त्यचिन्त्यचरितैर्धीराश्चिरं वासरान् ॥ २६० ॥
येषां बुद्धिरलक्ष्यमाणभिदयोराशात्मनोरन्तरं
गत्वोच्चैरविधाय भेदमनयोरारान्न विश्राम्यति।
यैरन्तर्विनिवेशिताः शमधनैर्बाढं बहिर्व्याप्तयः
तेषां नोऽत्र पवित्रयन्तु परमाः पादोत्थिताः पांसवः॥ २६१ ॥
यत्प्राग्जन्मनि संचितं तनुभृता कर्माशुभं वा शुभं
तद्दैवं तदुदीरणादनुभवन् दुःखं सुखं वागतम्।

अदः एतत्। कथं कथमपि महता कष्टेन। प्राप्य अनुभूय। प्रसादं प्रसत्तिम्। विश्रब्धं शनैः आपीयमाना तपःप्रभावजनितसानुरागबुद्ध्या अवलोकमाना। अचिन्त्यचरितैः दुर्धरानुष्ठानै ॥ २६० ॥ तथा बुद्धिर्येषा किं करोतीत्याह— येषामित्यादि। अलक्ष्यमाणभिदयोः अनिश्चीयमानभेदयोः। अन्तरम् अन्तराल मध्यमित्यर्थः। आरात् अवान्तरे। अविधाय अकृत्वा। अन्तर्विनिवेशिताः आत्मस्वरूप एव प्रक्षिप्ता.। का.। बहिर्व्याप्तयः बाह्यवस्तुविकल्पाः। बाढम् अत्यर्थम्। कथंभूतै. यैः। शमधनै. शम. उपशमो धन येषाम् ॥ २६१ ॥ बहिर्व्याप्तिनिरोधं कृत्वा कर्मफलानुभवन कुर्वतां परिणामविशेष प्रशंसयन्नाह— यदित्यादि। तदुदीरणात् तस्य कर्मण उदीरणम् अपक्वपाचन तस्मात्। शुभमेव पुण्यमेव। उभयोश्छित्त्यै

वनमे हिरणियोंके चंचल नेत्रोंके द्वारा विश्वासपूर्वक देखे जाते हैं— जिनकी शान्त मुद्राको देखकर स्वभावतः भयभीत रहनेवाली हिरणियोंको किसी प्रकारका भय उत्पन्न नहीं होता है— वे ऋषि धन्य हैं। वे अपने अनुपम आचरणोंके द्वारा दिनोंको (समयको) धीरतापूर्वक चिर काल तक विताते हैं॥ २६०॥ अज्ञानी जीवोंको आशा और आत्मा इन दोनोंके बीच भेद नहीं दिखता है। परन्तु जिन महर्षियोंकी बुद्धि इन दोनोंके मध्यमें जाकर उनका भेद करनेके विना बीचमें विश्रामको नहीं प्राप्त होती है— भेदको प्रगट करके ही विश्राम लेती है, तथा शान्तिरूप अपूर्व धनको धारण करनेवाले जिन महर्षियोंने बाह्य विकल्पोंको आत्मस्वरूपमें स्थापित कर दिया है, उनके चरणोंसे उत्पन्न हुई उत्कृष्ट धूलि यहां हमें पवित्र करे॥ २६१॥ प्राणीने पूर्व भवमें जिस पाप या पुण्य कर्मका संचय किया है वह दैव कहा जाता है। उसकी उदीरणासे प्राप्त हुए दुख अथवा सुखका अनुभव करता हुआ जो बुद्धिमान् शुभको ही करता है—

कुर्याद्यः शुभमेव सोऽप्यभिमतो यस्तूभयोच्छित्तये
सर्वारम्भपरिग्रहग्रहपरित्यागी स वन्द्यः सताम् ॥ २६२ ॥
सुखं दुःखं वा स्यादिह विहितकर्मोदयवशात्
कुतः प्रीतिस्तापः कुत इति विकल्पाद्यदि भवेत् ।

शुभाशुभविनाशाय । सर्वेत्यादि–सर्वे च ते आरम्भपरिग्रहाश्च त एव ग्रहाः तेषु वा आग्रहः आबन्धः तं परित्यजतीति एवंशीलस्तत्परित्यागी ॥२६२॥ ननु सुखदुःखरूपकर्मफलमनुभवताम् अपरशुभेतरकर्मोत्पत्तेः कथमुभयोच्छित्तिरित्याह— सुखमित्यादि । विहितकर्मोदयवशात् उपार्जितकर्मोदयानुरोधात् । कर्मोपाधिजाः संसारिसुखादयो नात्मस्वभावा इत्यर्थः । इति विकल्पात्

पापकार्योंको छोड़कर केवल पुण्यकार्योंको ही करता है– वह भी अभीष्ट है— प्रशंसाके योग्य है। किन्तु जो विवेकी जीव उन दोनों (पुण्य पाप) को ही नष्ट करनेके लिये समस्त आरम्भ व परिग्रहरूप पिशाचको छोड़कर शुद्धोपयोगमें स्थित होता है वह तो सज्जन पुरुषोंके लिये वन्दनीय (पूज्य) है ॥ २६२ ॥ संसारमें पूर्वकृत कर्मके उदयसे जो भी सुख अथवा दुख होता है उससे प्रीति क्यों और खेद भी क्यों, इस प्रकारके विचारसे यदि जीव उदासीन होता है– राग और द्वेषसे रहित होता है– तो उसका पुराना कर्म तो निर्जीर्ण होता है और नवीन कर्म निश्चयसे बन्धको प्राप्त नहीं होता है। ऐसी अवस्थामें यह संवर और निर्जरासे सहित जीव अतिशय निर्मल मणिके समान प्रकाशमान होता है– स्व और परको प्रकाशित करनेवाले केवलज्ञानसे सुशोभित होता है ॥
विशेषार्थ — पूर्वमें जिस शुभ अथवा अशुभ कर्मका बन्ध किया है उसका उदय आनेपर सुख अथवा दुख प्राणीको प्राप्त होता ही है। किन्तु जो अज्ञानी जीव है वह चूंकि पुण्यके फलस्वरूप सुखमें तो अनुराग करता है और पापके फलभूत दुखमें द्वेष करता है, इसीलिये उसके पुनः नवीन कर्मोंका बन्ध होता है। परन्तु जो जीव विवेकी है वह यह विचार करता है कि पूर्वकृत पुण्यके उदयसे यह जो सुख प्राप्त हुआ है वह अस्थायी है– सदा

उदासीनस्तस्य प्रगलति पुराणं न हि नवं
समास्कन्दत्येष स्फुरति सुविदग्धो मणिरिव ॥ २६३ ॥
सकलविमलबोधो देहगेहे विनिर्यन्
ज्वलन इव स काष्ठं निष्ठुरं भस्मयित्वा ।

एवंविधभावनायाः । एष प्रकृष्टसंवर-निर्जरावानात्मा । स्फुरति सकलस्व-पररूपं प्रकाशयति । सुविदग्धः अतिनिर्मलः सुष्ठुविवेकी ॥ २६३ ॥ पुराणस्य कर्मणो निर्जरायाम् अभिनवस्य च संवरे यज्जातं तद्दर्शयन्नाह— सकलेत्यादि । सकलविमलबोधः केवलज्ञानम् । देहगेहे देह एव गेहं तत्र । विनिर्यन् विनिर्गच्छन्, अर्हदावस्थायां प्रादुर्भवन् इत्यर्थः । प्रज्वलति प्रकाशते । तदभावे देहगेहाभावे सिद्धावस्थायां पुनरपि सकलविमलबोधः प्रज्वलति । उज्ज्वलो निर्मलः सन् । किं कृत्वा । भस्मयित्वा विनाशयित्वा । किं तत् । काष्ठम् । काष्ठमिव काष्ठम् अचेतनं शरीरम् । कथं भस्मयित्वा । निष्ठुरं निर्दयं यथा भवति, निःशेषं विनाश्येत्यर्थः । क

रहनेवाला नहीं है । इसलिये उसमें अनुराग करना उचित नहीं है । इसी प्रकार दुख पाप कर्मके उदय होता है । यदि पूर्वमें पाप कर्मका संचय किया है तो उसके फलको भोगना ही पड़ेगा । फिर भला उसमें खेद क्यों ? इस प्रकारके विचारसे विवेकी जीव सुख और दुखमें चूंकि हर्ष और विषादसे रहित होता है, अतएव उसके पुनः नवीन कर्मका बन्ध नहीं होता है । साथ ही उसके पूर्वसंचित कर्मकी निर्जरा भी होती है । इस प्रकारसे वह संवर एवं निर्जरासे युक्त होकर समस्त कर्मोंसे रहित होता हुआ मुक्त हो जाता है ॥ २६३ ॥ सम्पूर्ण निर्मल ज्ञान (केवलज्ञान) शरीररूप गृहमें प्रगट होकर जिस प्रकार लकड़ीमें प्रगट हुई अग्नि निर्दयतापूर्वक उस लकड़ीको भस्म करके उसके अभावमें फिर भी निर्धूम जलती रहती है उसी प्रकार वह भी शरीरको पूर्णतया नष्ट करके उसके अभावमें भी निर्मलतया प्रकाशमान रहता है । ठीक है— मुनियोंका चरित्र सब प्रकारसे आश्चर्यजनक है ॥ **विशेषार्थ**— जिस प्रकार लकड़ीमें लगी हुई अग्नि जब तक वह लकड़ी शेष रहती है तब तक तो जलती ही है, किन्तु उसके पश्चात् भी— उक्त लकड़ीके निःशेष हो जानेपर भी— वह

पुनरपि तदभावे प्रज्वलत्युज्ज्वलः सन्
भवति हि यतिवृत्तं सर्वथाश्चर्यभूमिः ॥ २६४ ॥
गुणी गुणमयस्तस्य नाशस्तन्नाश इष्यते।
अत एव हि निर्वाणं शून्यमन्यैर्विकल्पितम् ॥ २६५ ॥

इव ज्वलन इव। अयमर्थः— यथा ज्वलनः काष्ठे विनिर्यन् ज्वालावस्थाया प्रज्वलति, पश्चात् स ज्वलन् काष्ठं निष्ठुरं भस्मयित्वा। तदभावे काष्ठाभावे अंगारावस्थाया पुनरपि प्रज्वलतीति। अतः शरीरावस्थायाम् अशरीरावस्थाया च सकलविमलबोधप्रकाशहेतुत्वात्। भवति। हि स्फुटम्। यतिवृत्तं यतेः क्षीणकषायस्य अयोगिनश्च वृत्तं यथाख्यातचारित्रम्। भूमिः स्थानम्[1] ॥२६४॥ तत्र मुक्तेतरावस्थासाधारणात्मस्वरूपे विप्रतिपत्तिं निराकुर्वन् गुणीत्यादि श्लोकद्वयमाह— योगमते हि गुणा ज्ञानादयः आत्मनोऽत्यन्तभिन्नाः। ते मुक्तावस्थायाम् अत्यन्तं निवर्त्यन्ते, आत्मैव केवलस्तत्र तिष्ठतीति। अत्राह— गुणी गुणमयः। गुणी आत्मा गुणमयो ज्ञानादिगुणात्मकः। तस्य गुणस्य नाशस्तन्नाशः गुणिनाश । अत एव गुणनाशे गुणिनो

निर्मलतासे जलती ही रहती है, उसी प्रकार शरीरमें प्रगट हुआ केवलज्ञान जब तक वह शरीर रहता है तब भी— आर्हन्त्य अवस्थामें भी— प्रकाशित रहता है तथा उस शरीरके नष्ट हो जानेपर सिद्धावस्थामें भी वह स्पष्टतया अनन्त काल तक प्रकाशित रहता है। यह क्षीणकषाय एवं अयोगी जिनके उस यथाख्यातचारित्रका प्रभाव है जो छद्मस्थ जीवोंको आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला है ॥ २६४ ॥ गुणवान् आत्मा गुणस्वरूप है— गुणसे अभिन्न है। अतएव गुणके नाशका मानना गुणीके ही नाशका मानना है। इसीलिये अन्य वादियोंने (बौद्धोंने) आत्माके निर्वाणको शून्यके समान कल्पित किया है तथा जैनोंने उस निर्वाणको अन्य राग-द्वेषादिरूप शुभाशुभ भावोंसे शून्य कल्पित किया है॥

विशेषार्थ— नैयायिक और वैशेषिक गुण और गुणीमें सर्वथा भेदको स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार गुणीमें गुण समवाय सम्बन्धसे रहते हैं। वह समवाय नित्य, व्यापक और एक है। वे मुक्तावस्थामें आत्माके

१ प यथाख्यातचारित्रं भवति स्थानम्।

अजातोऽनश्वरोऽमूर्तः कर्ता भोक्ता सुखी बुधः ।
देहमात्रो मलैर्मुक्तो गत्वोर्ध्वमचलः प्रभुः ॥ २६६ ॥

नाशादेव। शून्यं निर्वाणं प्रदीपनिर्वाणतुल्यम्। अन्यैर्बौद्धैः प्रकल्पितम् ॥ उक्तं च— "दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित् नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्। दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतः स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥" स्वमते तु अन्यैः शुभाशुभै रागादिभिर्वा शून्यं निर्वाणम् ॥२६५॥ अजात इत्यादि। अजातः द्रव्यापेक्षया अनादि[दिः,]मुक्तः सन् पुनः संसारे वा अनुत्पन्नः। अनश्वरः अनिबन्धनः [अनिधनः]। द्रव्यापेक्षयैव अनश्वरो वा पर्यायापेक्षया विनश्वरः। अमूर्तः रूपादिरहितः। कर्ता शुभाशुभकर्मणाम्, उत्तरोत्तरस्वपरिणतेर्वा जनकः। भोक्ता स्वकृतकर्म-

बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन नौ गुणोंका नाश मानते हैं। परन्तु उपर्युक्त प्रकारसे गुण और गुणीमें सर्वथा भेद मानना उचित नहीं है, क्योंकि, ऐसा माननेपर आत्मा स्वरूपतः ज्ञानादि गुणोंसे रहित होनेके कारण जड़ (अचेतन) सिद्ध होता है जो योग्य नहीं है। इसलिये आत्माको उक्त ज्ञानादि गुणोंसे अभिन्न मानना चाहिये। और जब वह आत्मा ज्ञानादि गुणोंसे अभिन्न सिद्ध है तब भला मुक्तावस्थामें उन ज्ञानादि गुणोंका नाश स्वीकार करनेसे आत्माका भी नाश क्यों न स्वीकार करना पड़ेगा? परन्तु वह बौद्धोंके समान वैशेषिकोंको इष्ट नहीं है। वैसी मुक्ति तो बौद्ध ही स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार तेलके समाप्त हो जानेपर विनष्ट हुआ दीपक न किसी दिशाको जाता है, न किसी विदिशाको जाता है, न पृथिवीमें जाता है; और न आकाशमें भी जाता है, किन्तु वह केवल शान्तिको प्राप्त होता है। उसी प्रकार मुक्तिको प्राप्त हुआ जीव भी कहीं न जाकर केवल शान्तिको— शून्यताको— प्राप्त होता है। इस प्रकार उन्होंने जीवके निर्वाणको प्रदीपके निर्वाणके समान शून्यरूप माना है। अतएव गुण और गुणीमें कथंचित् भेदाभेदको स्वीकार करना चाहिये, अन्यथा उपर्युक्त प्रकारसे बौद्धमतका प्रसंग दुर्निवार होगा॥ २६५॥ आत्मा द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा जन्मसे और मरणसे भी रहित होकर अनादिनिधन है। वह शुद्ध स्वभावकी अपेक्षा अमूर्त होकर रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्शसे रहित है। वह व्यवहारकी अपेक्षा शुभ व अशुभ

स्वाधीन्याद्दुःखमप्यासीत्सुखं यदि तपस्विनाम् ।
स्वाधीनसुखसंपन्ना न सिद्धाः सुखिनः कथम् ॥ २६७ ॥

फलस्य अनन्तसौख्यस्य वानुभविता । ननु भोक्तृत्वेऽप्यात्मनः सुखज्ञानयोरभावस्तयोः प्रकृतिधर्मत्वात् मुक्तौ सर्वथा असंभवाच्चेति वदन्तं सांख्यं प्रत्याह— सुखी बुधः सुखी सुखात्मकः बुधो ज्ञानात्मकः, तदभावे आत्मनोऽप्यभावः उपयोगलक्षणत्वात्तस्य । एतेनेदं प्रत्याख्यातम्— "अकर्ता निर्गुणः शुद्धो नित्यः सर्वगतोऽक्रियः[1]। अमूर्तश्चेतनो भोक्ता आत्मा कपिलशासने ॥" देहमात्रः शरीरपरिमाणः, न पुनः सर्वगतः । मलैर्मुक्तः सकलकर्मरहितः । गत्वोर्ध्वमचलः ऊर्ध्वलोकाग्रे गत्वा अचलः स्थिरः आस्ते, नान्यत्र गच्छति अत्र वा पुनरागच्छतीति वा । प्रभुः ऐहिक-पारत्रिककार्येषु समर्थः, मुक्तः सन् सर्वजगद्वन्द्यो वा ॥ २६६ ॥ ननु सिद्धाना सुखसंपत्तिकारणाभावात्कथं सुखित्वमित्याह— स्वाधीन्यादित्यादि । दुःखमपि कायक्लेशादिलक्षणं तपस्विनां यदि सुखमासीत् । कस्मात् । स्वाधीन्यात् पराधीनत्वाभावात् । तदधीनता हि दुःखम्, 'को नरकः परवशता' इत्यभिधानात् । तदा स्वाधीनसुखसंपन्नाः स्वाधीनम् इन्द्रि-

कर्मोंका कर्ता तथा निश्चयसे अपने चेतन भावोंका ही कर्ता है। इसी प्रकार वह व्यवहारसे पूर्वकृत कर्मके फलभूत सुख व दुखका भोक्ता तथा निश्चयसे वह अनन्त सुखका भोक्ता है। वह स्वभावसे सुखी और ज्ञानमय होकर व्यवहारसे प्राप्त हुए हीनाधिक शरीरके प्रमाण तथा निश्चयसे वह असंख्यातप्रदेशी लोकके प्रमाण है। वह जब कर्ममलसे रहित होता है तब स्वभावतः ऊर्ध्व गमन करके तीनों लोकोंका प्रभु होता हुआ सिद्धशिलापर स्थिर हो जाता है ॥ २६६ ॥ तपस्वी जो स्वाधीनतापूर्वक कायक्लेशादिके कष्टको सहते हैं वह भी जब उनको सुखकर प्रतीत होता है तब फिर जो सिद्ध स्वाधीन सुखसे सम्पन्न हैं वे सुखी कैसे न होंगे? अर्थात् अवश्य होंगे ॥ विशेषार्थ— ऊपरके श्लोकमें सिद्धोंको सुखी बतलाया गया है। इसपर यह शंका हो सकती थी कि सुखकी साधनभूत जो सम्पत्ति आदि है वह तो सिद्धोंके पास है नहीं, फिर वे सुखी कैसे हो सकते हैं? इसके उत्तरमें यहां यह बतलाया है कि पराधीनताका जो अभाव है वही वास्तवमें सुख है, और वह सिद्धोंके पूर्णतया विद्यमान

१ प ज सर्वगतक्रियः ।

इति कतिपयवाचां गोचरीकृत्य कृत्यं
रचितमुचितमुच्चैश्चेतसां चित्तरम्यम् ।
इदमविकलमन्तः संततं चिन्तयन्तः
सपदि विपदपेतामाश्रयन्ते श्रियं ते ॥ २६८ ॥

साधनायत्तं कर्मविविक्तात्मस्वरूपोत्थं तच्च तत्सुखं च तत्संपन्नं जातं येषाम्, तेन वा संपन्ना युक्ताः ॥ २६७ ॥ ग्रन्थार्थमुपसंहृत्य तदर्थानुष्ठातॄणां फलमुपदर्शयन्नाह— इतीत्यादि । इति एवमुक्तप्रकारेण । कतिपयवाचां स्वल्पवचनानाम् । गोचरीकृत्य वाचां विषयं कृत्वा । कृत्यम् अनुष्ठेयं चतुर्विधाराधनास्वरूपम् । उचितं योग्यं मुक्तिप्रसाधने । उच्चैश्चेतसाम् उदारचित्तानाम् । चित्तरम्यं हृदयाह्लादकरम् । इदम् उक्तप्रकारमनुष्ठेयत्वम् । अविकलं परिपूर्णम् । अन्तः हृदयमध्ये । सपदि झटिति । विपदपेता शाश्वतीम् । श्रियं मोक्षलक्ष्मीम् । ते संततम् अन्तश्चिन्तकाः । आश्रयन्ते प्राप्नुवन्ति ॥ २६८ ॥ ग्रन्थकारो ग्रन्थसमाप्तौ स्वगुरोर्नामपूर्वक-

है । सम्पत्ति आदिके संयोगसे जो सुख होता है वह पराधीन है । इसलिये तदनुरूप पुण्यके उदयसे जब तक उन पर पदार्थोंकी अनुकूलता है तभी तक वह सुख रह सकता है— इसके पश्चात् वह नष्ट ही होनेवाला है । परन्तु सिद्धोंका जो स्वाधीन सुख है वह शाश्वतिक है— अविनश्वर है । देखो, साधुजन अपनी इच्छानुसार कायक्लेशादिरूप अनेक प्रकारके दुखको सहते हैं, परन्तु इसमें उन्हें दुखका अनुभव न होकर सुखका ही अनुभव होता है । इस प्रकार स्वाधीनतासे सहा जानेवाला दुख भी जब उनको सुखस्वरूप प्रतिभासित होता है तब भला प्राप्त हुए उस स्वाधीन सुखसे सिद्ध जीव क्यों न सुखी होंगे ? वे तो अतिशय सुखी होंगे ही ॥ २६७ ॥ इस प्रकार कुछ थोड़े-से वचनोंका विषय करके— उनका आश्रय ले करके— जो यह योग्य कृत्य— अनुष्ठानके योग्य चार प्रकारकी आराधनाका स्वरूप— रचा गया है वह उदार विचारवाले मनुष्योंके चित्तको आनन्द देनेवाला है । जो भव्य जीव इसका निरन्तर पूर्णरूपसे चित्तमें चिन्तन करते हैं वे शीघ्र ही समस्त विपत्तियोंसे रहित मोक्षरूप लक्ष्मीका आश्रय करते हैं ॥ २६८ ॥ जिन भगवान्‌की सेनारूप साधुओंके

जिनसेनाचार्यपादस्मरणाधीनचेतसाम् ।
गुणभद्रभदन्तानां कृतिरात्मानुशासनम् ॥ २६९ ॥

आत्मीयनामकरणं कुर्वाणो जिनसेनाचार्येत्याद्याह— भदन्तानां पूज्यानाम् ॥ २६९ ॥

मोक्षोपायमनल्पपुण्यममलज्ञानोदयं निर्मलं
भव्यार्थं परमं प्रभेन्दुकृतिना व्यक्तैः प्रसन्नैः पदैः ।
व्याख्यानं वरमात्मशासनमिदं व्यामोहविच्छेदतः
सूक्तार्थेषु कृतादरैरहरहश्चेतस्यलं चिन्त्यताम् ॥

॥ इति श्रीपण्डितप्रभाचन्द्रविरचितात्मानुशासनटीका समाप्ता ॥

आचार्यस्वरूप जो गणधर देव हैं उनके चरणोंके स्मरणमें चित्तको लगानेवाले एवं कल्याणकारी अनेक गुणोंसे संयुक्त ऐसे पूज्य आचार्योंकी यह आत्मस्वरूपके विषयमें शिक्षा देनेवाली कृति (रचना) है । दूसरा अर्थ— श्री जिनसेनाचार्यके चरणोंके स्मरणमें चित्तको अर्पित करनेवाले गुणभद्राचार्यकी यह आत्मानुशासन नामक कृति है— ग्रन्थरचना है ॥ २६९ ॥



१. श्लोकानुक्रमणिका

२. मूलग्रन्थगत विशेष-शब्द-सूची

३. संस्कृतटीकान्तर्गत विशेष-शब्द-सूची

४. टीकान्तर्गत ग्रन्थान्तरोंके अवतरण

अवतरण	श्लोक	अन्यत्र कहां
१ अकर्ता निर्गुणः शुद्धो	२६६	य.चंपू ५, पृ. २५०
२ अन्तस आदेरः (?)	५४	
३ एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः	९	य.चंपू ६, पृ. २७४
४ कुमारात्प्राथम्ये अण्	१०९	
५ 'को नरकः परवशता' इत्यभिधानात्	२६७	
६ क्षुधा तृषा भयं द्वेषो	९	
७ 'जननीं जन्मभूमिं च प्राप्य को न सुखायते' इत्यभिधानात्	१३४	

अवतरण	श्लोक	अन्यत्र कहाँ
८ जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम्	१०	तत्त्वार्थ. १-४
९ तस्मिन् इति सप्तमीप्राप्तौ अभिना योगे द्वितीया भवति	१३०	[पर्यभि...] जैनेन्द्र १।४।३।
१० ल्याव्यस्य [व्यस्य] वा कर्तरि	४०	जैनेन्द्रम. १।४।७५।
११ दिशं न कांचित्	२६५	सौन्दरनन्द काव्य १६-२८; य चंपू ६, पृ. २७०
१२ 'परोपकाराय सतां हि चेष्टितम्' इति वचनात्	९७	
१३ प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्यो णः	५	जैनेन्द्रम. ४।१।२८।
१४ 'प्रोपात्समा [प्रोत्सं] पादपूरणे' इति वचनात्	११२	शाकटायन २।३।६।
१५ भेदज्ञानात्प्रतीयेते	१७२	न्या. वि. ११४-१५
१६ 'मतिपूर्वं श्रुतम्' इत्यभिधानात्	१७०	तत्त्वार्थसूत्र १-२०
१७ मतिरप्राप्तिविषया	५	
१८ मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ	१०	य.चपू ६, पृ. ३२४
१९ विस्मयो जननं निद्रा	९	य.चंपू ६, पृ. २७४
२० व्रीह्यादेः	८६	जैनेन्द्रम. ४।१।४२।
२१ 'शरीरं धर्मसंयुक्तं रक्षणीयं प्रयत्नतः' इत्यभिधानात्	६९	
२२ सेनाया वा	३२	जैनेन्द्रम.३।३।१६६।

५. टीकाकारके समक्ष विद्यमान ग्रन्थगत पाठभेद

श्लोक	मुद्रित पाठ	पाठान्तर
४०	माभूर्भौतिक	मा भूदिवि पाठे...
६४	रूपादिविश्वाय (?)	रूपादिविश्वायेति पाठे...
९५	लोकाधिपाः	लोकाधिका वा पाठः
९७	इदं	इमां इति पाठे...
१९८	भाविजन्मनः	भावि जन्म यत् इति पाठः
२४१	अस्त्यात्मास्तमितादिबन्धनगत	इत्यर्थस्तमितावन्धनमत इति च पाठः
२४३	मत्वा भ्रान्तो भ्रान्तौ	अभ्रान्ताविति च पाठः

६. आत्मानुशासनमें प्रयुक्त छन्दोंका विवरण

१. अनुष्टुभ्—इस छन्दका उपयोग निम्न श्लोकोंमें हुआ है— ४, ५, २२, २९, ३५, ३६, ३९, ४३, ४५, ४६, ५६, ६३, ६५, ६६, ६९–७१, ७३, ७४, ७८, ७९, ८२, ८४, ८५, ९४, १०३–४, १०९, ११०, ११६–१७, १२०–२४, १२५, १३९, १४२–४३, १४५–४६, १५२–५७, १६१–६४, १६७, १७१–७२, १७४–७९, १८२–८४, १८६–८८, १९६–९८, २०१, २०३–४, २०६–१२, २२१, २३१–३४, २३६–४०, २४२–४३, २४५–४७, २४९, २५१, २५४, २५५, २६५–६७, २६९.

२. शार्दूलविक्रीडित— ५, ७, ९, १०, २८, ३२, ३३, ३७, ३८, ४०–४२, ४४, ४८–५५, ५७–५९, ६१, ६२, ६४, ८१, ८७, ८९, ९०, ९१, ९६, १०२, ११२, १२५–२८, १३०, १३४, १४१, १५०, १५९–६०, १९३, २१४, २२७, २४१, २४४, २५०, २५६–५७, २५९-६२.

३. वसन्ततिलका— २६, ३१, ४७, ७७, ८३, ९३, ९५, ९८, १०१, १३२–३३, १४०, १४८, १५१, १६६, १६८, १७३, १९१, १९५, २०२, २०५, २१६–१८, २२२, २२८.

४. आर्या—१-३, ८, ११, १५–१६, १८–२१, २३–२५, २७, ३०, ८६, ९२, १०८, १८०–८१.

५. शिखरिणी— ३४, ६७, ७२, ७६, ९७, १०५, ११५, ११८–१९, १४७, १४९, १७०, २००, २२०, २६३.

६. हरिणी— ६, ६८, ७५, ८०, ११३, १२९, १५८, १६५, १८५, १९२, २२३, २२४, २३०, २५२.

७. मालिनी— ६०, १३६, १६९, २१३, २१९, २२५–२६, २६४, २६८.

८. पृथ्वी— ११४, १३१, १३७, १४४, १८९–९०, १९४, २२९.

९. स्रग्धरा— १२-१४, १३८, २१५, २५८.

१०. मन्दाक्रान्ता— ८८, ९९, १५९.

११. वंशस्थ— १००, १०६–७.

१२. उपेन्द्रवज्रा— २३५.

१३. वैतालीय— २४८.

१४. रथोद्धता— २५३.

१५. गीति— १७, १११.

JĪVARĀJA JAINA GRANTHAMĀLĀ

1. *Tiloyapaṇṇatti* of Yativṛṣabha (Part I, Chapters 1-4: An Ancient Prākrit Text dealing with Jaina Cosmography, Dogmatics etc. Prākrit Text authentically edited for the first time with the Various Readings, Preface & Hindi Paraphrase of Pt. BALACHANDRA by Drs. A. N. UPADHYE H. L. JAIN. Published by Jaina Saṁskṛti Saṁrakṣaka Saṁgha, Sholapur (India). Double Crown pp. 6-38-532. Sholapur 1943. Price Rs. 12·00. Second Edition, Sholapur 1956. Price Rs. 16·00.

1. *Tiloyapaṇṇatti* of Yativṛṣabha (Part II, Chapters 5-9). As above, with Introduction in English and Hindi, with an alphabetical Index of Gāthās, with other Indices (of Names of works mentioned, of Geographical Terms, of proper Names, of Technical Terms, of Differences in Tradition, of Karaṇasūtras and of Technical Terms compared) and Tables (of Nāraka-jīva, Bhavana-vāsī Deva, Kulakaras, Bhāvana Indras, (Six Kulaparvatas, Seven Kṣetras, Twentyfour Tīrthakaras, Age of the Śalākā-puruṣas, Twelve Cakravartins, Nine Nārayaṇas, Nine Pratiśatrus, Nine Baladevas, Eleven Rudras, Twentyeight Nakṣatras, Eleven Kalpātīta, Twelve Indras, Twelve Kalpas and Twenty Prarūpaṇās). Double Crown pp. 6-14-108-529 to 1032, Sholapur 1951. Price Rs. 16·00.

2. *Yasastilaka and Indian Culture*, or Somadeva's Yaśastilaka and Aspects of Jainism and Indian Thought and Culture in the Tenth Century, by Professor K. K. HANDIQUI, Vice-Chancellor Gauhati University, Assam, with Four ·Appendices, Index of Geographical Names and General Index. Published by J. S. S. Sangha, Sholapur. Double Crown pp. 8-540. Sholapur 1949. Price Rs. 16·00.

3. *Pāṇḍavapurāṇam* of Śubhacandra: A Sanskrit Text dealing with the Pāṇḍava Tale. Authentically edited

with Various Readings, Hindī Paraphrase, Introduction in Hindī etc. by Pt. JINADAS. Published by J. S. S. Saṅgha, Sholapur. Double Crown pp. 4–40-8-520. Sholapur 1954. Price Rs. 12·00.

4. *Prākṛta-śabdānuśāsanam* of Trivikrama with his own commentary: Critically Edited with Various Readings, an Introduction and Seven Appendices (1. Trivikrama's Sūtras; 2. Alphabetical Index of the Sūtras; 3. Metrical Version of the Sūtrapāṭha; 4. Index of Apabhraṁśa Stanzas; 5. Index of Deśya words; 6. Index of Dhātvādeśas, Sanskrit to Prākrit and vice versa; 7. Bharata's Verses on Prākrit) by Dr. P. L. VAIDYA, Director, Mithilā Institute, Darbhanga. Published by the J. S. S. Sangha, Sholapur. Demy pp. 44–478. Sholapur 1954. Price Rs. 10·00.

5. *Siddhānta-sārasaṁgraha* of Narendrasena: A Sanskrit Text dealing with Seven Tattvas of Jainism. Authentically Edited for the first time with Various Readings and Hindī Translation by Pt. JINADAS P. PHADKULE. Published by the J. S. S. Sangha, Sholapur. Double Crown pp. about 300. Sholapur 1957. Price Rs. 10·00.

6. *Jainism in South India and Some Jaina Epigraphs*: A learned and well-documented Dissertation on the career of Jainism in the South, especially in the areas in which Kannada, Tamil and Telugu Languages are spoken, by P. B. DESAI, M.A., Assistant Superintendent for Epigraphy, Ootacamund. Some Kannaḍa Inscription from the areas of the former Hydrabad State and round about are edited here for the first time both in Roman and Devanāgarī characters, along with their critical study in English and Sārānuvāda in Hindī. Equipped with a List of Inscriptions edited, a General Index and a number of illustrations. Published by the J. S. S. Sangha, Sholapur. Sholapur 1957. Double Crown pp. 16–456. Price Rs. 16·00

7. *Jambūdīvapaṇṇatti-Saṁgaho* of Padmanandi: A Prākrit Text dealing with Jaina Geography. Authentically edited

for the first time by Drs. A. N. UPADHYE and H. L. JAINA, with the Hindī Anuvāda of Pt. BALACHANDRA. The Introduction institutes a careful study of the Text and its allied works. There is an Essay in Hindī on the Mathematics of the Tiloyapaṇṇatti by Prof. LAKSHMICHANDA JAIN, Jabalpur. Equipped with an Index of Gāthās, of Geographical Terms and of Technical Terms, and with additional Variants of the Amera Ms. Published by the J. S. S. Sangha, Sholapur. Double Crown pp. about 500. Sholapur 1957. Price Rs. 16·00.

8. *Bhaṭṭāraka-saṁpradāya:* A History of the Bhaṭṭāraka Pīṭhas especially of Western India, Gujarat, Rajasthan and Madhya Pradesh, based on Epigraphical, Literary and Traditional sources, extensively reproduced and suitably interpreted, by Prof. V. JORHAPURKAR, M.A., Nagpur. Published by the J. S. S. Sangha, Sholapur. Demy pp. 14–24–326. Sholapur 1958. Price Rs. 8·00

9. *Kundakunda-Prābhṛtasaṁgraha:* This is mainly a compilation of the gāthās from Kundakunda's works according to various topics. The text of the *Samayasāra*, however, is wholly given at the end. The text is accompanied by a concise Hindī paraphrase. There is a detailed Introduction in Hindī dealing with the biography and works of Kundakunda. Edited by Pt. KAILASACHANDRA SHASTRI, Banaras. Published by the J. S. S. Sangha, Sholapur. Demy pp. 10–106–288. Sholapur 1960. Price Rs. 6·00.

For Copies Write to:

Jaina Saṁskṛti Saṁrakṣaka Sangha

Santosh Bhavan, Phaltan Galli,

SHOLAPUR (India)